अशुद्धम्	शुद्धम्	पत्र	पृष्ठ	पंक्ति
रस्त्ये	रस्ती	६५	२	१०
धर्म	धर्म	६८	१	९
प्युत्पादिषु	प्युत्पादादिषु	७४	१	१२
दृष्टांते	दार्ष्टान्ते	७५	१	१
दर्ष्टान्ते	दार्ष्टान्ते	७५	२	२
अत्राऽस्ति को	अत्राऽऽस्तिको	८८	१	५
गुह्य	गुह्य	९०	१	१२
नोरी	नोररी	९२	२	६
मुख्येयु	मुख्येषु	९६	१	७
ऽस्ति त्वमि	ऽस्तित्वमि	९७	१	८
त्युत्पन्न	व्युत्पन्न	९८	२	५
ममि	मभि	९८	२	११
प्रतिकार्ये	पत्तिकार्ये	११४	२	४
नाङ्गापाङ्गा	नाङ्गोपाङ्गा	११५	२	१३
त्या दिना	त्यादिना	१२१	२	१४
द्दार्ष्टान्त	दार्ष्टान्त	१३१	१	३
पुष्पगन्त	पुष्पमन्त	१३२	१	८
शीर्ष	शीर्षे	१३८	१	१०
छाया	छाया	१३८	१	१२
एकत्व	एकस्व	१३८	२	९



प्रस्तावना

आत्मनि अधिकृत्य अध्यात्मम् ।

अध्यात्म—

आत्माने साचा स्वरूपमा पीछानवा सिवायनी सर्व करणी निष्फळप्राय कही छे. एटला माटे ज जैन शास्त्रकारोए आत्माने ओळखवा माटे—आत्मानुं स्वरूप जाणवा माटे अनेकविध ग्रंथोनी रचना करी छे. आत्माने ओळखवो, आत्मानी नजीक जवुं तेनुं नाम अध्यात्म छे. ज्यारे साची अध्यात्मदशा प्राप्त थाय छे त्यारे जीव निर्वाणप्राप्तिनी तैयारी करे छे. आत्माने ओळखवा माटे जीव अने तेना साथे संबंध धरावता समग्र पदार्थोनुं यथास्थित स्वरूप जाणवुं जोइए अने तेने माटे जैन शास्त्रकारोए " नव तत्त्वो " नी गूंथणी करी छे. आपणा आ प्रस्तुत ग्रंथ " जैनतत्त्वसार " मां नव तत्त्वोनी स्पष्टतया नहीं परन्तु प्रकारान्तरे रूपरेखा समजाववामां आवी छे. ए उपरांत ते विषयने वधु स्फोट करवा माटे घणाए लौकिक उदाहरणो आपवामां आव्या छे.

सुखाभिलाषा—

दरेक प्राणीने सुख प्रिय होय छे, परन्तु अग्निथी कदी कमळनी उत्पत्ति थई सांभळी छे ? तेम आ जीवनो तदनुकूल प्रयत्न नथी

अने सुख–वैभव–विलासनी झंखना रह्या करे छे. केटलाक अज्ञानवश प्राणीओ सद्गुरुना या तो सद्‌बोधना अभावे कष्ट करणी करे छे पण तेनुं फळ कष्टना प्रमाणमां अति अल्प मळे छे. व्यवहारमां पण कहेवाय छे के " **कोटी वर्षना तपसी क्षणमात्रमां गया लपसी** " आ बधुं शेनुं परिणाम छे ? अज्ञान क्रियानुं अथवा तो अपक्व ज्ञानदशानुं. कारण के कह्युं छे के–'**ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः**' अध्यात्मवादीओना पण त्रण प्रकार छे. (१) केटलाक नाम मात्र (२) केटलाक स्थापना मात्र अने (३) केटलाक नाटकीयाओनी माफक ज्ञानशून्य. अध्यात्मनो विषय ए अगाध सागर समान छे. तेनो ताग आवे तेम न होवाथी विशेष विवेचन न करतां मूळ वात पर आवीश.

ग्रंथविवेचन—

आ " जैन तत्त्वसार " ग्रंथ २१ अधिकारनो बनेलो छे अने दरेक अधिकारमां मुख्य मुख्य विषय लई तेने स्पष्टरूपे समजाववा माटे उदाहरणो पण आपवामां आव्या छे. विषयानुक्रम तपासवाथी आ ग्रंथमां केटली हकीकतोनो घटस्फोट करवामां आव्यो छे तेनो आछो ख्याल आवशे. पूरेपूरी समज माटे तो आ ग्रंथ साद्यंत वांच्ये ज छूटको. आ ग्रंथनुं टीका साथेनुं प्रमाण ४१०० श्लोक प्रमाण छे. ग्रंथनी खूबी ए छे के तेमां वादी अने प्रतिवादी एवा कल्पित पात्रो ऊभा करी एकनी शका अने बीजानुं निरसन गोठवी पुस्तकने रसिक साथे औपदेशिक बनाववामां आव्यो छे. प्रसंगे प्रसंगे इतर दर्शनोना मंतव्यो आपी आपणी जैन आम्नायनी मान्यताने पुष्ट बनाववामां आवी छे.

पहेला अधिकारमां जीव(आत्मा) ने कर्मना स्वभावनुं वर्णन आपवामां आव्युं छे. जीवना भेदोपभेदनुं स्वरूपनिरूपण करी जीवो

करतां पण कर्मनी अनंतता जणावी जीव केवी रीते कर्मथी मुक्त बने अने योग पामे ते जणाव्युं छे.

बीजा अधिकारमां जीव शुभाशुभ कर्मने केवी रीते ग्रहण करे ते दर्शावता पाच समवाय (काळ, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत अने पुरुषार्थ) कारणो जणावी दृष्टांतपूर्वक समजण आपी छे.

त्रीजा अधिकारमां जीव पोते अरूपी होवा छतां रूपी कर्मने केवी रीते ग्रहण करे तेने लगतुं वर्णन करी तेनी पुष्टि माटे पारानी गूटिका, वनस्पति, नाळिएर, लोहचुंबक विगेरेना व्यवहारु दाखला आप्या छे.

चोथा अधिकारमा जीव अमूर्त (अरूपी) अने कर्म मूर्त होवाथी ते बंनेनो सयोग केवी रीते थइ शके तेनो सुंदर ख्याल आपता कर्पूर, हींग विगेरेनां उदाहरणो आप्या छे.

पांचमा अधिकारमां सिद्धना जीवोने कर्म केम लागता नथी ते माटे सरस निरूपण करी तेनी साबिती माटे व्यवहारु दृष्टांतो आप्यां छे.

छठ्ठा अधिकारमां जीवनो मूळ स्वभाव तो कर्म ग्रहण करवानो छे ते मूळ स्वभाव छोडी सिद्धना जीवो कर्मथी मुक्त केम रही शके ? ते शंकानुं समाधान करतां पारो, सुवर्ण, अबरख अने चकोर पक्षी विगेरेना दाखला आप्या छे.

सातमा अधिकारमां मुक्तिमां जीवो गया ज करे अने संसार भव्य जीवथी कदी शून्य ज न थाय ए बंने परस्पर विरोधी हकीकत केम घटी शके ? तेनुं समाधान सुंदर रीते करी ह्रद, नदी अने समुद्रना युक्तिपुरस्सरना दृष्टांतपूर्वक सरस खुलासो कर्यो छे.

आठमा अधिकारमां परब्रह्मनुं स्वरूप दर्शावी, ईश्वर जगतनो कर्ता नथी ज—आ वात बराबर मुद्दासर स्पष्ट करवामां आवी छे.

नवमा अधिकारमां परब्रह्म एटले शुं ? ते समजावी सिद्धना जीवोने सकडामण केम थती नथी ते माटे योग्य विवेचन दृष्टांत साथे करवामां आव्युं छे.

दशमा अधिकारमां निगोदना जीवो, तेनुं स्वरूप, कर्मबंधनने अनुरूप दुःख, निगोदना जीवोनी अदृश्यता विगेरे विषयोनो समावेश करवामां आव्यो छे.

अगियारमा अधिकारमां समग्र विश्व निगोदना जीवोथी परिपूर्ण होय तो विश्वमां बीजां कर्मो, पुद्गलराशि अने धर्मास्तिकायादि केम समाइ शके ? ते माटे गांधीनी दुकाननुं उदाहरण आपी वस्तुस्थितिनी चोखवट करवामां आवी छे.

बारमा अधिकारमां कोईनी पण प्रेरणा विना कर्म केवी रीते भोगवी शकाय ? तेने माटे शीतळा, ओरी, अछबडा विगेरे व्याधिओनां दृष्टांतो आपी विषयनी सुंदर रीते पुष्टि करी छे. आ उपरात कर्मना भांगा, कर्मनी सत्ता तेमज व्यवस्था विगेरे पण समजाव्यां छे.

तेरमा अधिकारमां पुण्य नथी, पाप नथी, स्वर्ग नथी, विगेरे नास्तिकोना मतनो सुंदर रीते निरास करवामां आव्यो छे.

चौदमा अधिकारमां एकला प्रत्यक्ष प्रमाणथी ज सार्थकता नथी ए मत दर्शावी परोक्षादि प्रमाणो पण मानवा जोइए तेनी उदाहरणोपूर्वक साबिती करवामां आवी छे.

पंदरमा अधिकारमां स्वर्गादि जोवातां नथी छतां ते छे ज ते हकीकतनी दाखलाओ पुरस्सर सिद्धि करवामां आवी छे.

सोळमा अधिकारमां स्वर्ग--मोक्षादि प्राप्त करवाना हेतु--साधन दर्शावी गृहस्थोने माटे निश्चय पर दृष्टि राखी व्यवहार साचववानी साथोसाथ भाव धर्ममां आगळ वधवानी सूचना करवामां आवी छे.

सत्तरमा अधिकारमां जड—अचेतन मूर्तिनी सेवा—उपासनादिथी फळ—प्राप्ति केम थाय ? तेवा नास्तिक मतनुं निराकरण करी युक्तिपूर्वक मूर्तिपूजा सिद्ध करी बतावी तेना फळनुं निरूपण कर्युं छे. आ बाबतमां राम—सीता, दक्षिणावर्त शंख, एकलव्य, तथा खेतरमां ऊभो करातो चाडीयो वि.ना दृष्टांतो आप्या छे.

अढारमा अधिकारमां सिद्ध भगवंतो तो निराकार छे छतां तेने आकारनुं रूप आपी तेमनी मूर्ति केम करी शकाय ? आ शंकानुं सारी रीते समाधान करी मूर्तिपूजानी सविशेष पुष्टि करी छे.

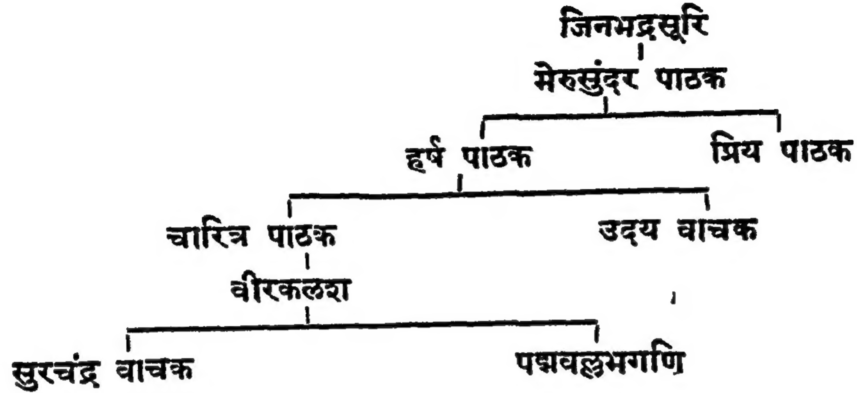
ओगणीशमा अधिकारमां चिंतामणिरत्न विगेरे जड पदार्थो तात्कालिक फळ आपे छे ज्यारे मूर्तिपूजा—प्रभुभक्ति केम तात्कालिक फळदायी बनती नथी ते संबंधमां गर्भस्थिति, मंत्रसिद्धि विगेरे दाखलाओ आपवामां आव्या छे.

वीसमा अधिकारमां इतर दर्शनोनां मंतव्योनो परिहार करी आत्मज्ञानथी ज—अध्यात्मथी ज मुक्तिप्राप्ति थाय छे ते सिद्ध करी बताव्युं छे.

एकवीसमा अधिकारमां बधा तत्त्वनो सार " **मनोनिरोध** " छे एम दर्शावी छेवटे प्रशस्ति आपवामां आवी छे. आ ग्रंथमां कर्ताए पोताना अनुभवना व्यवहारु दृष्टांतो एटला बधा आप्या छे के तेथी तेमनी अप्रतिम व्यवहारदक्षता सिद्ध थाय छे. आवा व्यवहारु दृष्टांत अन्यत्र जोवामां आवता नथी.

ग्रंथकर्ता—

आ ग्रंथना रचनार सुरचंद्र वाचक छे. तेमने लगतो विशेष परिचय प्राप्त थयो नथी. तेओ खरतरगच्छनी बृहत् शाखामा थया छे. प्रशस्ति परथी तेमनी परंपरा नीचे प्रमाणे आळेखी शकाय.



स्फुरणा—

आपणे जाणीए छीए तेम आपणी बेदरकारीथी घणाए प्राचीन ताडपत्रो अने हस्तलिखित प्रतो माटीमां मळी गया छे. भंडारमां भंडार्या पछी वर्षो सुधी तेनी सार-संभाळ न कर्याथी अति कीमती ग्रंथो उधइने भोग थइ पड्या हता. आ ज कारणथी आपणा पूर्वाचार्योए आपणने आपेल अमूल्य ज्ञान-भंडाररूप वारसो आपणे गुमावता आव्या छीए. पू. अनुयोगाचार्य पंन्यासजी महाराजश्री मानविजय महाराज विहार करतां करतां वडोदरा पधार्या. वडोदराना ज्ञानभंडारना हस्तलिखित ग्रंथोनुं लिस्ट तपासतां अचानक तेमनी दृष्टि "जैन तत्त्वसार" पर पडी अने आवा अमूल्य ग्रंथनो उद्धार करवानी तेमने स्वाभाविक स्फुरणा थइ अने ते धन्य स्फुरणाने परिणामे आ ग्रंथ मुद्रितावस्थामां समाज समक्ष रजू करवा भाग्यशाळी थयो छुं.

आ ग्रंथ प्रथम संवत १९६६ मां भावनगर श्री आत्मानंद जैन सभा तरफथी मूळ ने अनुवाद साथे छपायेल छे. तेनी शुद्धि अने भाषांतर वडोदरानिवासी श्रावक मगनलाल चुनीलाल वैदे करेल छे. उपोद्घात प्रवर्तक महाराज श्री कांतिविजयजीए लखेलो छे. भाषांतर पण ते बुकमां पाछळ आपेलु छे. आ ग्रथ टीकायुक्त होय तो वधारे उपकारक थाय एवो विचार आवता टीकानी शोध करतां आ टीकायुक्त ग्रथनी प्रति पंन्यासजी मानविजयजीने वडोदरामां मळी आवी.

महाराजश्रीए ए प्रत भंडारमाथी कढावीने वडोदराना रहीश मास्तर सुंदरलाल चुनीलालनी मारफत लहीया पासे ते लखावी, पण आवा ग्रंथनो विशेप प्रचार थाय तो सविशेष उपकार थाय ते आशयथी ते हस्तलिखित प्रत परथी तेमणे प्रेसकोपी करावबानु विचार्यु अने ते काम " जैन " ओफिसमां काम करता शा. नरोत्तमदास रुगनाथने सोंपवामां आव्यु जे तेमणे अत्यत काळजीथी पार पाड्यु. हस्तलिखित प्रतमां कोइ स्थळे स्खलना रही गइ होय तो तेनी शुद्धि करवा माटे बीजी प्रतनी अगत्यता जणाइ पण पाटण तेमज अमदावादना कोइ ज्ञान–भडारमांथी आ ग्रंथनी बीजी नकल उपलब्ध थई शकी नथी.

आभार—

भावनगरनिवासी वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध श्री कुंवरजी आणंदजीए आ ग्रंथना प्रूफो लागणीपूर्वक जोइ आप्या छे ते माटे तेमनो आभारी छु. पूज्य पंन्यासजी महाराजे अनहद प्रयास सेवी आ ग्रंथनो उद्धार कर्यो छे ते माटे तेमना ऋणनुं माप करवुं मुश्केल छे. आ उपरांत सौथी विशेष उपकार तो जामनगर, राधणपुर, खीवानदी (मारवाड़)ना आर्थिक सहायक सद्गृहस्थोनो मानवानो रहे छे. आ पुस्तकना मुद्रणकार्यमां महोदय प्रेसना मालीक शा गुलाबचंद लल्लुभाइए पण चीवट अने खंतपूर्वक सहकार आप्यो छे.

निवेदक–शेठ भोगीलाल साकलचंद

भिक्षुः। पुनः कथंभूतः? "शुभाशुभान् स्थानभरान् विजानन्–शुभा अशुभाश्च ये स्थानभराः–स्थानसामग्यः तान् विजानन्–जानानोऽपि ॥५॥

मूलम्—तथा च चौराः परदारगा अपि, व्यापारिणो दर्शनिनो द्विजास्तथा।
विदन्त एते हि तथाविधायतेः, शुभाशुभं कर्म समाचरन्ति ॥६॥

टीका—उक्तविषयपुष्टये पुनर्दृष्टान्तानाह 'तथा च' इत्यादिना। 'तथा च' इति–अन्यदपि दृश्यतामित्यर्थः। 'चौराः'–चौर्यकर्तारः, 'परदारगाः'–परस्त्रीसेवनकर्तारः, अपिशब्दः समुच्चये, व्यापारिणो–व्यापारं कर्तारः, 'दर्शनिनो'–मतानुयायिनः तथेति समुच्चये 'द्विजाः'–ब्राह्मणाः, एते पूर्वोक्ताः, हीति चरणपूर्त्तौ, 'विदन्तो'–जानन्तः स्वस्वकर्मफलं जानाना अपीत्यर्थः, 'तथाविधायतेः'–तथाविधात्–तादृशः शुभाशुभहेतुभूतादित्यर्थः, 'आयतेः'–भविष्यत्कालात् तथाविधशुभाशुभहेतुभविष्यत्कालादिति भावः, हेतौ पञ्चमी, 'शुभाशुभं कर्म'–शुभमशुभं च कार्यं 'समाचरन्ति'–कुर्वन्ति चौरादयः स्वस्वकर्मविपाकं जानन्तोऽपि तथाविधायतिवशाच्छुभाशुभं कर्म कुर्वन्त्यर्थः ॥६॥

मूलम्—भिक्षुस्तथा [1]बन्दि [2]ऋषिश्च भिक्षां, [3]स्निग्धां च [4]रूक्षां [5]परिबुध्य भुङ्क्ते।
शूरस्तथा युद्धगतोऽवगच्छन्, शत्रूनशत्रूंश्च निहन्ति [6]रोधे ॥७॥

---

१ तथाविधशुभाशुभहेतुभविष्यत्कालात्। २ बन्दिशब्दस्य इ 'कृत्यकः' इति पाणिनीयसूत्रेण पक्षे कृतह्रस्वस्वरस्य पाठः। ३ 'ऋषिस्तु तत्त्ववित् योगविदिति। ४ स्निग्धामर्थात् स्नादिष्टां मृष्टां सरसामिति यावत्। ५ रूक्षामुक्तविपरीतां स्वास्मिन्नरुचितां स्वप्रकृतितो भिन्नरूपामिति। ६ ज्ञात्वा। ७ रोधे–गढरोधादिके।

टीका—पुनर्दृष्टान्तानाह 'भिक्षुस्तथा' इत्यादिना। श्लोके तथाशब्दो चशब्दाश्च समुच्चयेऽवबोध्याः। 'भिक्षुः'—भिक्षणशीलः, 'बन्दी'—चारणादिः, 'क्रत्यकः (६–१–१२७)' इति पाणिनीयसूत्रेण ह्रस्वत्वं प्रकृतिभावश्च, 'ऋषि'—तत्त्ववित् 'स्निग्धां'—स्नेहयुक्तां सरसामिति यावत्, भिक्षां 'परिबुध्य'—ज्ञात्वा 'भुङ्क्ते'—अत्ति। तथा 'युद्धगतः' संग्रामं प्राप्तः 'शूरः'—वीरपुरुषः 'रोधे'—दुर्गरोधनादिके सति 'अवगच्छन्'—जानन्नपि 'शत्रून्'—वैरिणः 'अशत्रून्'—मित्राणि च 'निहन्ति'—मारयति ॥७॥

मूलम्—रोगी यथा वा निजरोगशान्ति–मिच्छन्नपथ्यं ह्यपि सेवतेऽसौ।
रोगाभि[1]भूतत्ववशादपायं[2], जानन् स्वयं भाविनमात्मगामिनम् ॥८॥

टीका—दृष्टान्तरमाह 'रोगी यथा वा' इत्यादिना। 'वा'—अथवा 'यथा'—येन प्रकारेण 'असौ'—विवक्षितः 'रोगी'—रोगवान् रुग्ण इति यावत्, हीति निश्चये 'अपथ्यमपि'—अहितमपि वस्तु 'सेवते'—व्यवहरति। कथंभूतो रोगी? 'अपायं जानन्'—विनाशं विदन् अपथ्यसेवनजन्यफलं जानन्नपीत्यर्थः। कथंभूतमपायं? 'स्वयं भाविनं'—स्वत एव भविष्यति काले भवनशीलं, पुनः कथंभूतं? 'आत्मगामिनं'—स्वस्मिन्नागन्तुकम्। आत्मगामिनं भाविनमपायं विदन्नपि कुतोऽपथ्यं सेवते? इत्यत्र हेतुमाह—'रोगाभिभूतत्ववशात्' इति रोगेणाभिभूतत्वं—पारवश्यं तद्वशात् तस्य वशेन रोगपरवशः सन्नित्यर्थः ॥८॥

ज्ञानं विनापि जीवानां कर्मग्रहणं सम्भवति श्लोकद्वयेनाह।

मूलम्—एवं हि कर्माण्यसुमान्[3] विलाति शुभाशुभानि प्रविदन्नवश्यम्।

---

१ पारवशात्। २ कष्टम्। ३ जीवः।

जीवस्य कर्मग्रहणे स्वभावो, [1]ज्ञानं विनाऽप्यस्ति निदर्शनं यत् ॥९॥

टीका—दार्ष्टान्ते घटनमाह 'एवं ही' त्यादिना। 'एवं'—उक्तरीत्या, 'असुमान्'—प्राणी जीव इति यावत्, 'विदन्'—जानन्नपि 'अवश्यं'—निश्चयेन 'शुभाशुभानि'—शुभान्यशुभानि च कर्माणि 'विलाति'—गृह्णाति। अत्र हेतुमाह 'जीवस्य'—आत्मनः 'कर्मग्रहणे'—कर्मणामादाने 'स्वभावः'—प्रकृतिरस्ति, 'यत्'—यस्मात् कारणात् अत्र 'निदर्शनं'—दृष्टान्तोऽस्ति ॥९॥

मूलम्—यथैव लोके किल चुम्बकोऽप्ययं, संयोजकैर्योजितमंजसा भृशम्।
[2]सारं तथाऽ[3]सारमयोऽविचारितं, गृह्णाति येना[4]व्यवधानमात्मनः ॥१०॥

टीका—दृष्टान्तमेवाह 'यथैव' इत्यादिना। यथैव 'लोके'—संसारे, 'किले'ति—स्ववार्तायाम्, 'अयं'—विवक्षितः 'चुम्बकः' लोहाकर्षकपाषाणविशेषोऽपि 'भृशं'—निरन्तरं 'अंजसा'—शीघ्रं अविचारितं यथा स्यात्तथा विचारमन्तरेणैवेत्यर्थः 'अयः'—लोहं 'गृह्णाति'—आदत्ते। कथंभूतमयः? 'संयोजकैर्योजितं'—योजनकर्तृभिः समीपे स्थापितं, पुनः कथंभूतं? 'सारं तथाऽसारं'—सारभूतं कान्तविद्युत्सारादि, असारभूतं मुण्डादि, एतत् द्विविधमप्ययो गृह्णातीत्यर्थः। पुनः कथंभूतं? 'येनात्मनोऽव्यवधानं'—येनायसा सहात्मनः—स्वस्य व्यवधानम्—अन्तरं नास्ति तत् ॥१०॥

---

१ ज्ञानं विनापि जैनाभिप्रायेण जीवस्य ग्रहणस्वभावोस्ति, अत्र दृष्टान्तो—"यथा (यथैव) लोके किल" इत्यादि। २ लोहं कान्तविद्युत्सारादि। ३ मुण्डादि। ३४ येन सारेण लोहेनाथवा असारेण लोहेन सहात्मनः स्वस्याव्यवधानं-अन्तरं नास्ति।

मूलम्—कालात्मभावादिनियोजितान्यहो, स्वभावशक्तेश्च शुभाशुभानि यत् ।
कर्माणि सामीप्यसमाश्रितान्यय-मात्माऽपि गृह्णाति तथाऽविचारितम् ॥११॥

टीका—दार्ष्टान्ते योजनामाह 'कालात्म०' इत्यादिना । 'तथा'-उक्तप्रकारेण 'यद्-यतः 'अहो' इति विस्मये 'अयं'-विवक्षितः, आत्मा'-जीवोऽपि, 'अविचारितं'-विचारं विनैव 'शुभाशुभानि कर्माणि'-शुभान्यशुभानि च कार्याणि 'गृह्णाति'-आदत्ते। कथंभूतानि शुभाशुभानि कर्माणि ? 'कालात्मभावादिति योजितानि'-कालस्वभावादिभिः प्रेरितानि, आदिशब्देन नियत्यादिग्रहणम् । पुनः कथंभूतानि ? 'सामीप्यसमाश्रितानि'-सामीप्यं प्राप्तानि । कुतो गृह्णाति ? इत्याह-स्वभावशक्तेः' इति आत्मनः स्वभावस्यैवेत्यं शक्तिरस्ति यस्या वशेन स उक्तकर्माणि गृह्णातीत्यर्थः ॥११॥

॥ जीवस्य शुभाशुभकर्म ग्रहणोक्तिक्लेशो ॥

॥ द्वितीयोऽधिकारः ॥

॥ अथ तृतीयोऽधिकारः ॥

जीव इन्द्रियहस्तादिकं विनाऽपि कर्मग्रहणं करोतीत्याह अष्टाविंशतिश्लोकैः

मूलम्—स्वामिन्ननाकारतया हि जीवो, निरिन्द्रियः केन च लाति कर्म ? ।
निरीक्ष्य पूर्वं तत [1]आत्मलेयं, [2]पाण्यादिना [3]न्याददते पुमांसः ॥१॥

टीका—स्वामिन्नित्यादि 'हे स्वामिन् !'-प्रभो !, 'हीति-निश्चये, 'जीव'-आत्मा, 'केन'-हेतुना, 'कर्म' 'लाति'-गृह्णाति, चकारश्चरणपूर्तौ, कथंभूतो जीवो ? निरिन्द्रिय'-इंद्रियैर्विरहितः, कुतो निरिन्द्रियत्वं तस्येत्याह-'अनाकारतये'ति-आकाररहितत्वेनेत्यर्थः । अत्रैव पुष्टिमाह-निरीक्ष्येत्यादिना 'पुमांसो-जनाः 'पूर्वं'-प्रथमम्, 'आत्मले(ज्ञे)यम्'-आत्मना ग्राह्यं वस्तु, 'निरीक्ष्य' दृष्ट्वा, 'ततः'-तदनंतरं, 'पाण्यादिना'-हस्तादिना, 'न्याददते'-गृह्णाति ॥१॥

मूलम्—आत्मा तु नेदृक् घटते न चैतत्, सत्यं विनाऽपीन्द्रियतोऽप्यथात्मा ।
[4]भाव्याश्रितं कर्म समाददीत, शक्तेः स्वभावात् च शृणु स्वरूपं ॥२॥

टीका—आत्मा त्वित्यादि 'आत्मा'-जीवस्तु, 'ईदृक्'-उक्तस्वरूपो नास्ति, 'एतत्'-पूर्वोक्तं च कथनं, 'न घटते' न

१. आत्मना लेयं ग्राह्यं यद् वस्तु स्यात्तद्वस्तु पाण्यादिना नियतमाददते इत्यर्थः । २. करादिना । ३. गृह्णन्ति । ४. भविष्यत्कालभोगार्हं भवितव्यताश्रितं ।

सिद्ध्यति । उत्तरमाह–सत्यमित्यादिना 'सत्य'मिति–उक्तकथनं सत्यमस्तीत्यर्थः, परंतु 'अथे'ति–संभाव्ये, 'आत्मा' जीव 'इन्द्रियतो'–विनाऽपि इंद्रियैर्विनापि'–एकोऽपि शब्दश्रवणपूर्तावेवगन्तव्यः, 'कर्म' 'समाददीत'–गृह्णीयात्, ग्रहीतुं शक्नोतीतिभावः, कथंभूतं कर्म ? 'भाव्याश्रितं'–भविष्यत्कालभोग्यम्, अत्र हेतुद्वयमाह–शक्तेः 'स्वाभावाच्चेति आत्मनस्तादृशी शक्तिस्तादृक् स्वभावश्चाऽस्तीत्यर्थः, शृणु स्वरूपमिति'–आत्मस्वरूपं श्रूयतामित्यर्थः ॥२॥

मूलम्—यथेन्द्रियाकार[1]विवर्जितोऽयं, कर्ता शृणोत्येव निजाङ्गिजापम् ।
भक्तं निरीक्ष्याऽथ विलाति पूजां, पाणिं विना चोद्धरतीह भक्तान् ॥३॥

टीका—उक्तविषयमेव स्पष्टयति, यथेत्यादिना 'यथा' 'अयं'विवक्षितः, 'कर्ता'–जगत्कारकः, निजाङ्गिजापम्'–निजभक्तजापम्, 'शृणोत्येव'–आकर्णयत्येव, पुनः किं करोतीत्याह–भक्तमित्यादि 'अथेति'–संभाव्ये, 'भक्तं'–भजनकर्तारं, 'निरीक्ष्य'–दृष्ट्वा, 'पूजां'–पूजनमर्चामिति यावत्, 'विलाति'–गृह्णाति, पुनः किं करोतीत्याह–पाणिमित्यादि 'इह'–अस्मिन् जगति, 'पाणिं विना'–हस्तेन विनैव च, 'भक्तान्'–भजनकर्तृन्, 'उद्धरति'–संसारात् तारयति, कथंभूतः कर्तेत्याह–इंद्रियाकारविवर्जित इति 'इंद्रियाकारेण विरहित इत्यर्थः ॥३॥

मूलम्—पापं हरत्याशु कृतं स्वकैर्य–दनन्तशक्तेः सहजात्तथाऽऽत्मा ।
लोके यथा वा [2]गुडको [3]रसस्य, सिद्धो निरक्षेन्द्रियपाणिमुक्तः ॥४॥

---

१. अयमिति कर्तृवादिलोकप्रसिद्ध· कर्ता । २. गुटिका । ३. पारदस्य ।

टीका—(यथा च स ईश्वरतया त्वयाऽभ्युपगतः कर्त्ता) स्वकैः–निजभक्तैः, यत् पापम्–अनिष्टमदृष्टम्, कृतं–विहितं, 'तत्' इत्यथादाक्षिप्यते, अनन्तशक्तेः–स्वस्यापरिमितसामर्थ्यबलेन, आशु–झटिति, हरति–अपनयति, तथा–तद्वत्, आत्मा–चेतनः, सहजात्–स्वभावात्, इन्द्रियादिरहितोऽपि कर्मग्रहण–नाशादि करोति। 'यथा वा' इति निदर्शनान्तरोपदर्शने, रसस्य–पारदस्य, सिद्धः–तथाविधौषधादिना संस्कृतः, गुडको–गुटिका, निरक्षेन्द्रिय–पाणिमुक्तः–निरक्षःअचेतश्चासौ इन्द्रियहस्तरहितश्च सन् ॥४॥

मूलम्—दुग्धादिपायी त्रपुनीरशोषी, स शब्दवेधी बलशुक्रदश्च।
सूतोऽपि चैतत्कुरुते निरक्षो, जीवस्तु शक्तो न करोति किं किम्? ॥५॥

दुग्धादिपायी–दुग्धादि सातिशयं पिबति तच्छीलः, त्रपुणः–रङ्गस्य नीरं–पानीय शोषयति तच्छीलः, शब्दवेधी–शब्दानुसारेण लक्ष्यवेधसामर्थ्ययुक्तः, चः समुच्चये, बलशुक्रदः–बलं विशिष्टां शक्तिं, शुक्रं–वीर्यं च ददातीति बलशुक्रदो भवति। उपसंहरति–निरक्षः–अचेतनः, सूतोऽपि पारदोपि, एतत्–यथोक्तं दुग्धादिपान–त्रपुनीरशोषण–शब्दवेधबलशुक्रदानस्वरूपं कार्यं, कुरुते–विदधाति, तु–तदा, शक्तः–अनन्तशक्तियुक्तः, जीवः–चेतनः, किं किं न करोति?–अपि तु सर्वमपि कार्यं कर्तुं प्रभवतीत्यर्थः ॥५॥

मूलम्—वनस्पतीनामपि वा [1]यथाहृति–[2]र्येन्नालिकेर्य्यादिषु दृश्यतेऽपि च ।
यद्वा घनं किं किल वस्तु सर्वं, सङ्गृह्य नीरं स्वयमार्द्रितं स्यात् ॥६॥

टीका—अत्र दृष्टान्तरमाह–वनस्पतीनामित्यादिना 'यथा वेति'–यथा वेत्यर्थः, 'वनस्पतीनामपि' 'आहृतिः' आहारो भवति, कुत इत्याह ? यदित्यादि यद्यस्मात् कारणात्, 'नालिकेर्यादिषु' नालिकेरफलादिषु, 'दृश्यतेऽपि च'–तदाहारग्रहणं दृश्यतेऽपि मूलसेचने तत्फलेऽपि नीरं दृश्यत एवेति भावः, यद्वेत्यादि 'यद्वा'–अथवा, 'घनं किम्'–अत्र बहूनोक्तेन किं प्रयोजनमस्ति, 'किलेति'–निश्चये, 'सर्वं वस्तु' सकलपदार्थजातं, कर्तृपदम् 'नीरं'–जलं, 'सङ्गृह्य'–आदाय, 'स्वयं'–स्वत एव प्रेरकमंतरैवेति भावः, 'आर्द्रितम्'–आर्द्रत्वगुणयुक्तम्, 'स्यात्'–भवति ॥६॥

मूलम्—न चेति वाच्यं पयसोऽस्ति शक्ति–स्तद्भेदने यद् व्यभिचारितास्ति ।
न भेदनं मुद्गशिलासु तद्वत्, धान्येऽम्भसः किं [3]कटुका न भेद्याः ॥७॥

टीका—अत्र वादिहृदयस्थ शंकां परिहर्तुमाह–नचेतीत्यादि 'तद्भेदने–पदार्थछेदने, 'पयसो'–जलस्य, 'शक्तिः'–सामर्थ्यमस्ति, इति 'न च वाच्यं'–त्वया एवं न वक्तव्यम्, कुत इत्याह–यद्–व्यभिचारितास्तीति 'यत्'–यस्मात्कारणात्, उक्तविषये 'व्यभिचारिता'–व्यभिचारी अस्ति व्यभिचारमेव दर्शयति, न भेदनमित्यादिना 'तद्वत्'–अन्यवस्तुवत्, 'मुद्गशिलासु'–पाषाण-

१. आहारः । २. वनस्पतीनामपि पाण्यादि विनैवाहारग्रहणं दृश्यते तच्च लाङ्गुल्यादिषु गृहीतमपि समीक्ष्यते तन्मूले जलसेचनात्तत्फले जलाधानं प्रत्यक्षतयोपादीयते । ३. कटुकणाः ।

विशेषेषु भेदनं न भवति, पुनर्व्यभिचारं दर्शयति–धान्ये इत्यादिना यदि 'धान्ये'–अन्ने, 'अंभसो'–जलस्य भेदनशक्ति–रस्ति तर्हि तेन 'कटुका'–करङ्कणाः 'किन्न भेद्याः ?'–कथन्नभेदनीया भवन्ति ॥७॥

मूलम्—सिद्धं तथेदं ग्रहणीयमेव, वस्त्वत्र यस्यास्ति तदेव लाति।
किं चुम्बको लोहमथोज्झ्य धातू–नन्यांश्च गृह्णाति तथा स्वभावात् ॥८॥

टीका—फलितमाह–सिद्धमित्यादिना–'तथेति'–तथा च सतीत्यर्थः, 'इदं'–वक्ष्यमाणं वृत्तं, 'सिद्धं'–सिद्धिगतं, किमित्याह–ग्रहणीयमेवेत्यादि 'अत्र'–अस्मिन् संसारे, 'यस्य' यत् 'वस्तु' 'ग्रहणीयमेव'–ग्रहीतुं योग्यमेवास्ति तत् 'तदेव' 'लाति'–गृह्णाति, अस्यैव पुष्टिमाह–किमित्यादिना 'अथेति' वितर्के, 'किं' चुम्बकः'–लोहाकर्षकपाषाणः, 'तथास्वभावात्'–लोहाकर्षणस्वभावेन 'लोहम्' अयः 'उज्झ्य'–त्यक्त्वा, उज्झ्येति चिन्त्यं पदम् 'अन्यान्'–पदार्थान्, 'धातून्'–सुवर्णादीन्, 'च' शब्दश्चरणपूर्तौ, 'गृह्णाति'–आदत्ते नादत्ते इतिभावः ॥८॥

मूलम्—अप्येवमात्मा परपुद्गलोत्करान्[1], विहाय गृह्णाति हि कर्मपुद्गलान्।
यादृक्ष यादृक्ष भविष्यदायतिः[2], तादृक्ष सम्प्रेरणपारवश्यतः ॥९॥

टीका—दार्ष्टांते योजनामाह–अप्येवमात्मेत्यादिना 'अपि'–संभावने, 'एवम्'–उक्तप्रकारेण, 'आत्मा–जीवः, 'ही'ति निश्चये, 'कर्मपुद्गलान्' कर्मपरमाणून्, 'गृह्णाति'–आददते, किं कृत्वेत्याह–परपुद्गलोत्करान् विहायेति 'पर'–कर्मसकाशाद् भिन्नाः,

१. कर्मणः सकाशात् भिन्नान् पुद्गलसमूहान् विहाय कर्मपुद्गलान् गृह्णाति। २. उत्तरकालः।

ये 'पुद्गलोत्कराः'—परमाणुसमूहास्तान् 'विहाय'—त्यक्त्वा, कुतः कर्मपुद्गलान् गृह्णातीत्याह—यादृक्षेत्यादिना 'यादृक्ष यादृक्ष'—यादृशी या 'भविष्यदायतिः'—भाविकालोऽस्ति 'तादृक्षस्य' तादृशस्य, 'सम्प्रेरणपारवश्यतः'—प्रेरणापराधीनत्वात् हेतौ पंचमी ॥९॥

मूलम्—सुप्तो यथा वा किल कश्चिदङ्गभृत्, स्वप्नान् प्रपश्यन् कुरुते [1]समाः क्रियाः ।
[2]नोइन्द्रियेणैव न तत्र किञ्चने–न्द्रिय[3]द्वयप्राणमहो प्रवर्तते ॥१०॥

टीका—उक्तविषयस्यैव दृष्टान्तद्वारेण पुष्टिमाह–सुप्त इत्यादि 'वा'—अथवा, किलेति'—स्ववार्त्तायाम्, 'यथा' 'कश्चित्'—कोऽपि, 'अङ्गभृत्'—प्राणी, 'सुप्तः'—शयानः सन्, स्वप्नान्, 'प्रपश्यन्'—अवलोकमानः, 'नोइंद्रियेणैव'—नोइंद्रियं मनस्तेनैव, 'समाः'—सर्वाः, 'क्रियाः'—व्यापारान्, 'कुरुते'—करोति, 'तत्र'—स्वप्नदर्शनकाले, 'किञ्चन'—किमपि 'इन्द्रियद्वयप्राणः'—इन्द्रियाणां द्वयमिंद्रियद्वयं ज्ञानेंद्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च तस्येंद्रियद्वयस्य, प्राणः शक्तिस्तस्य महस्तेजः, 'न प्रवर्तते'—न प्रवृत्तिं करोति ॥१०॥

मूलम्—जीवस्तथा कर्मभरं हि लाति, स्वप्नो भ्रमोऽयं ननु मैवमाख्यः ।
महत्तमे [4]तस्य फले च दृष्टे, मा ब्रूहि [5]यत्स्वप्नमयं स्मरत्यहो ॥११॥

टीका—दृष्टांतं दार्ष्टान्ते योजयति–जीवस्तथेत्यादिना 'तथा'—उक्त प्रकारेण, 'ही'ति–निश्चये, 'जीव'—आत्मा 'कर्मभरं'—कर्मसमूहं, 'लाति'—गृह्णाति, अत्र शङ्कते–स्वप्न इत्यादिना 'नन्वि'ति–वितर्के, 'अयं'—पूर्वोक्तः, 'स्वप्नो'—'भ्रमो'—भ्रान्तिरस्ति,

१. सर्वाः । २. मनसा । ३ बुद्धीन्द्रियक्रियेन्द्रियलक्षणेन्द्रियद्वयबल विना मनो नास्तीति । बुद्धीन्द्रियाणि स्पर्शनादि पञ्च । क्रियेन्द्रियाणि करपादादिपञ्च । ४. स्वप्नस्य । ५. स्वप्नदर्शको नरः ।

समाधानमाह–मैवमित्यादिना 'तस्य'–स्वप्नस्य, 'महत्तमे' अतिशयेन महति अत्युत्कृष्टे इत्यर्थः 'फले दृष्टे' सति 'मैवमाख्यः'–एवमित्थं माख्यः, मा ब्रूहि 'च' शब्दश्रवणपूर्तौ, शंकांतरमपि निराकर्तुमाह–मा ब्रूहीत्यमिदं 'मा ब्रूही'ति–एवमपि मा कथयेत्यर्थः, 'अयं'–स्वप्नदर्शकनरः, 'अहो' इति–विस्मये, 'स्वप्नं स्मरति'–स्वप्नस्य स्मरणं करोतीति ॥११॥

मूलम्—यथा गृहीतं नहि कर्म [1]स स्मरेत्, न स्मर्यते प्रायश एव दृष्टः ।
स्वप्नस्तथा कर्मभरोऽपि [2]चात्तः, कश्चित्स्मरेत् स्वप्नमिमं यथेक्षितम् ॥१२॥
कर्म स्मरेत् [3]ज्ञान विशेषनस्तथा, प्रधानपुंसेक्षित एव यद्वत् ।
स्वप्नो यथार्थः फलतीह नूनं, तथैव कर्मात्तमिदं कृतार्थम् ॥१३॥

टीका—अत्र हेतुमाह–यथेत्यादिना 'तथा'–येन प्रकारेण, 'स'–कर्मग्राहको जीवः, 'गृहीतं'–लब्धकर्म, न हि स्मरेत्'–स्मर्तुं न शक्नोति, 'प्रायशः' एव'–बहुधैव, 'दृष्टः'–अवलोकितः 'स्वप्नो' 'न स्मर्य्यते' न स्मृतिगोचरी क्रियते, 'तथा'–तेनैव प्रकारेण, 'च' शब्दश्रवणपूर्तौ, 'आत्तो'–गृहीतः, कर्मभरः'–कर्मसमूहोऽपि न स्मर्यते, अत्र विशेषमाह–कश्चिदित्यादिना परंतु यथा 'कश्चित्'–कोऽपि, 'ईक्षितं'–दृष्टं, 'इमं'–प्रस्तूयमानं, 'स्वप्नं स्मरेत्' 'तथा ज्ञानविशेषतः'–ज्ञानविशेषेण, 'कर्म स्मरेत्'–कर्मणः स्मरणं करोतीति अर्थः, फलद्वारा तयोर्यथार्थ्यमाह प्रधानेत्यादिना 'यद्वत्'–यथा, 'इह'–अस्मिन् संसारे, 'नूनं'–निश्चयेन, 'स्वप्नः'

---

१. कर्मग्राहको जीव. । २. गृहीतः । ३. यथा वा चौरादिकः कश्चिदपराधी बन्धनं प्राप्तो निजाचरितचौर्यादि स्मरति ज्ञानादेव साधुरपि पूजां प्राप्तः स्वशुभाचारं स्मरति ज्ञानात् ।

'फलति'--फलदायको भवति, कथंभूतः स्वप्नः ? 'यथार्थः'--सत्यः, पुनः कथंभूतः ? 'प्रधानपुंसेक्षित एव'--मुख्यजनदृष्ट एव, 'तथैव'--उक्तरीत्या, 'इदं' प्रस्तूयमानम्, 'आत्तम्'--गृहीतं, 'कर्म' 'कृतार्थम्'--सफलं भवति--फलप्रदं भवतीत्यर्थः ॥१२-१३॥

मूलम्—स्यादङ्गिनः संशय एव नात्र, व्यर्थीभवत्स्वप्नभरस्य जन्तोः ।
स्वप्नो यथा केवलिनस्तथास्ति, कर्मग्रहस्तत्क्षणनाशतो यत् ॥१४॥

टीका—स्यादित्यादि 'अत्र'-अस्मिन् विषये, 'अङ्गिनः'--प्राणिनः, 'संशय एव न स्यात्'--शंकैव भवितुम् न शक्नोति, कुत इत्याह ? व्यर्थीभवदित्यादि यद्यस्मात् कारणात् व्यर्थीभवत्स्वप्नभरस्य जन्तोरिति यस्य 'स्वप्नभरः'—स्वप्नसमूहो, 'व्यर्थीभवत्'—वर्त्तते, तस्य प्राणिन इत्यर्थः, यथा स्वप्नो भवति व्यर्थरूप इत्यर्थः, 'तथा' 'केवलिनः'—केवलज्ञानयुक्तस्य, 'कर्मग्रहः'—कर्मग्रहणमस्ति व्यर्थरूपमित्यर्थः, कुत इत्याह—'तत्क्षणनाशतः'—तस्मिन्नेव क्षणे, उत्पादकाळ एवेतिभावः, 'नाशतः'—विलोपात् ॥

मूलम्—तथा निजात्मन्यपि पश्यतोऽत्र, सम्मीलय चेतः परिकल्प्य सुस्थम् ॥
उत्पत्तिकालादवसानसीमा-मात्मा सृजेत्का[1]र्मणतैजसाभ्याम् ॥१५॥

टीका—तथेत्यादि 'तथा' शब्दः किञ्चार्थे 'अत्र'—अस्मिन्, 'निजात्मन्यपि—स्वात्मविषयेऽपि, 'पश्यतः' यूयम् किं कृत्वेत्याह—सम्मीलयेत्यादि 'सम्मीलय—आक्षिणी निमीलय, पुनः किं कृत्वा 'चेतः' मनः, 'सुस्थं'—सावधानं, 'परिकल्प्य'—विधाय, किं

१. शरीराभ्याम् ।

पश्यत इत्याह–उत्पत्तीत्यादि 'आत्मा'–जीवः, 'कार्मणतैजसशरीराभ्याम् सह, 'उत्पत्तिकालादवसानसीमाम्'–जन्मकालादारभ्य अवसानपर्यन्तं, 'यत्' 'सृजेत्'–रचयेदिति यावत् ॥१५॥

मूलम्—गर्भस्थितः [1]शुक्ररजोन्तरागतो यथोचिताहारविधानतो द्रुतम् ।
धातूंश्च सर्वानपि सर्वथा स्वय–मात्मा विधत्तेऽत्र [2]विनाक्षवीर्यतः ॥१६॥

टीका—सृजनविषयमेव दर्शयति–गर्भस्थित इत्यादिना 'अत्र'–अस्मिन् संसारे 'आत्मा'–जीवः, 'सर्वथा'–सर्वप्रकारेण, 'स्वयं'–स्वत एव, अन्यप्रेरणमंतरेण चेतिभावः 'द्रुतं'–शीघ्रं, 'सर्वानपि'–सकलानपि, 'धातून्'–रसादीन्, 'विधत्ते'–करोति, 'च' कारश्चरणपूर्त्तौ, कुतः सृजतीत्याह–'यथोचिताहारविधानतः' इति–यथायोग्याहारकरणादित्यर्थः, कथंभूत आत्मा ? 'गर्भस्थित'–गर्भे स्थितिं प्राप्तः, कथं सृजतीत्याह–'विनाक्षवीर्यत' इति इन्द्रियशक्तिं विनैवेत्यर्थः ॥१६॥

मूलम्—गर्भात्कृते जन्मनि सर्वदैव, गृह्णन् किलाहारमथोपलब्धम् ।
[3]ततस्ततस्तत्परिणामतः स्वयं, धात्वादि संपाद्य करोति पुष्टिम् ॥१७॥

टीका—पुनः किं करोतीत्याह–गर्भादित्यादि अथेत्यनंतरे, 'किले'ति–स्ववार्तायाम्' 'गर्भात्'–गर्भवशात्, 'कृते'–रचिते, 'जन्मनि' 'सर्वदैव'–सदैव, 'उपलब्धम्'–प्राप्तम्, 'आहारं'–भोजनं, 'गृह्णन्'–आददानः, 'ततस्ततस्तत्परिणामतः'–तत्त-

१. वीर्यरक्तमध्य । २. इन्द्रियबलाद्विनापि । ३. तस्मात्तस्मात्तस्याहारस्य विपाकवशात् इत्यर्थः ।

स्मात्तस्मात्तस्याहारस्य विपाकवशात्, 'स्वयं'—स्वत एव, प्रेरणामंतरेणैवेत्ति भावः 'धात्वादि सम्पाद्य'—धात्वादीन् निष्पाद्य, 'पुष्टिं'—पोषणं करोति ॥१७॥

मूलम्—तथाहृतिं [1]रोमभिरादधद्यकः, खलं परित्यज्य रसान् समाश्रयेत् ।
पुनः पुनः प्रोज्झति तन्मलं बलात्, [2]दधद्रजः सात्त्विकतामसान् गुणान् ॥१८॥
सज्ज्ञानविज्ञानकषायकामान्, हिताहिताचारविचारविद्याः ।
रोगान् समाधींश्च दधान एव—मास्ते कथं सक्रिय एष देहे ॥१९॥

टीका—पुनः किं करोतीत्याह—तथेत्यादि 'तथे'ति—समुच्चये, 'यकः'—यः आत्मा, 'रोमभिः'—देहाद् बहिर्दृश्यमानावयवरूपरोमगणैः आकृष्य, 'आहृतिम्'—आहारम्, 'आदधत्'—आदधानः सन्, 'खलं'—रूक्षभागं, 'परित्यज्य'—त्यक्त्वा, 'रसान्'—रक्तादीन्, धातून्, 'समाश्रयेत्'—आश्रयेत् गृह्णीयादिति भावः, 'पुनः पुनः'—वारं वारम्, 'बलात्—'बलपूर्वकं, 'तन्मलं'—रसानां मलं, 'प्रोज्झति'—त्यजति, पुनश्च 'रजःसात्विकतामसान्'—राजससात्विकतामसान् गुणान्, 'दधत्'—दधानः सन्, पुनश्च 'सज्ज्ञानं'—सम्यग् ज्ञानं, 'विज्ञानं'—शिल्पशास्त्रविषयिकं ज्ञानं, 'कषायान्'—क्रोधादीन्, 'कामान्'—भोगान्, 'हितम्'—हितकारकम्, 'अहितम्'—अहितकारकम्, 'आचारः'—सद्व्यवहारः, 'विचारः'—परामर्शः, 'विद्या'—ज्ञानम्, एतान् सर्वान् दधत् 'रोगान्,—व्याधीन्,

१. देहाद्बहिर्दृश्यमानावयवरूपरोमगणैराकृष्य । २. राजस ।

'समाधीश्च'—शान्तीश्च, 'दधानः'—दधत् सन्, 'एवम्'—उक्तप्रकारेण, 'सक्रियः'—क्रियाभिः सहितः, 'एष'—आत्मा, 'देहे'—शरीरे, 'कथमास्ते'—कथम् तिष्ठति ? ॥१८–१९॥

मूलम्—किं देहमध्येऽस्य करेन्द्रियादिकं, समस्ति येनैव[1] करोति तादृशम् ।
[2]विवेचनं प्राप्य च वस्तु [3]तादृशं, [4]प्राप्तावधिर्याति गृहेश्वरो यथा ॥२०॥

टीका—प्रश्नद्वारेणैव स्वकथनं दृढयति—किं देहमध्य इत्यादिना 'किमि'ति—प्रश्ने, 'देहमध्ये'—शरीराभ्यंतरे, 'अस्य'—आत्मनः, 'किं करेंद्रियादिकं'—हस्तेंद्रियादिकं, आदिशब्देन शेषेन्द्रियग्रहणम् 'समस्ति'—विद्यते, 'येन'—करेन्द्रियादिना, 'तादृशं'—पूर्वोक्तं कर्म, 'करोत्येव'—निश्चयेन कुरुते, तादृशं वस्तु च प्राप्येति 'तादृशम्—आहारादिपदार्थं, प्राप्येत्यर्थः 'विवेचनं करोति'—पृथक्करणं कुरुते, खलं त्यजति रसांशमादत्त इत्यर्थः, 'प्राप्तावधिः'—पूर्णकालः सन्, 'याति'—जन्मांतरं गच्छति, अत्र दृष्टांतमाह—गृहेश्वरो यथेति 'यथा' 'गृहेश्वरो' गृहस्वामी पूर्णावधिः सन् गृहान्निष्क्रम्यान्यत्र याति गृहेश्वरवदात्माऽपि प्राप्तावधिः सन् जन्मांतरं गच्छतीति भावः ॥२०॥

मूलम्—[5]यदीदृशोऽपौद्गलिकोऽप्यमूर्तो निराकृतिः [6]सक्रिय एष जीवः ।
देहस्य मध्ये स्थित एव सर्व—मङ्गं परिव्याप्य करोति कृत्यम् ॥२१॥

१. पाणीन्द्रियादिना । २. पृथक्करणं । ३. आहारादि । ४. पूर्णकालः । ५. मौलस्वभावात् । ६. अमूर्तः सन् सक्रिय इत्यचिन्त्यशक्तिरयं जीवः ।

द्रव्याणि [1]रूपीणि गुरूणि तद्वत, [2]सूक्ष्माणि वा लाति [3]पुरान्तरासुमान् ।
कर्माणि तत् सूक्ष्मतमानि नो कथं, गृह्णात्ययं तैजसकार्मणाङ्गनः ॥२२॥

टीका—कर्मग्रहणे पुनरपि पुष्टिमाह—यदीत्यादिना यदि 'एष'—पूर्वोक्तो, 'जीव'—आत्मा, 'कृत्यं करोति'—कार्यं विदधाति, कथंभूतो जीवः ? 'ईदृश'—उक्तस्वभाव, पुनः कथंभूतः ? 'अपौद्गलिकोऽपि'—पुद्गलाजन्योऽपि, पुनः कथंभूतः ? 'अमूर्तो'—मूर्तिरहितः पुनः कथंभूतः ? 'देहस्य मध्ये स्थित एव'—शरीराभ्यंतरे स्थितिमानेव, किं कृत्वा कार्यं करोतीत्याह—'सर्वमङ्गं परिव्याप्येति'—सर्वशरीरावयवान् व्याप्येत्यर्थः, 'तद्वत्'—तथैव, 'पुरान्तरासुमान्'—शरीरमध्यस्थजीव, 'रूपिणि'—रूपयुक्तानि, 'गुरूणि'—महांति द्रव्याणि, आहारपानादीनि वस्तूनि 'सूक्ष्माणि वा द्रव्याणि'—रागद्वेपादीनि, 'लाति'—गृह्णाति, तत् हि 'तैजसकार्मणांगतः'—तैजसकार्मणशरीरतः, तैजसकार्मणशरीरविशिष्ट इतिभावः 'अयं'—जीवः, 'सूक्ष्मतमानि'—अतिशयेन सूक्ष्माणि कर्माणि, 'कथं नो गृह्णाति'—कथन्नाददते आददतैवेतिभावः ॥२१–२२

मूलम्—जीवः पुना रूपकरादिवर्जित, ईदृग्वपूरूपि कथं प्रवर्तयेत् ।
आहारपानादिक इन्द्रियार्थके, शुभाशुभारम्भककर्मणीह ॥२३॥

टीका—जीवः पुनरित्यादि 'इह'—अस्मिन् संसारे, 'जीवः'—आत्मा, पुनः 'ईदृग्' 'वपुः'—शरीरं, 'कथं'—केन प्रकारेण, प्रवर्तयेत्'—प्रवृत्तिं नयेत्, कथंभूतो जीवो ? 'रूपकरादिवर्जितः'—रूपेण हस्तादींद्रियैश्च विहीनः, कथंभूतं वपुः ? रूपि पुद्गलमय-

१. किं किं कृत्यं करोतीत्याह । गुरूणि द्रव्याणि आहारपानादीनि । २. सूक्ष्माणि रागद्वेपादीनि । ३. देहमध्यजीवः ।

त्वान्मूर्त्तम्, क्व प्रवर्त्तयेदित्याह–'आहारपानादिके'–भोजनपानादिषु. कथंभूते आहारपानादिके ? 'इन्द्रियार्थके'–इन्द्रियविषयरूपे, पुनः क्व प्रवर्त्तयेदित्याह–'शुभाशुभारम्भककर्मणि'–शुभाशुभोत्पादके कार्ये ॥२३॥

मूलम्—चेदिन्द्रियैः [1]पाणिमुखैरथाङ्गैः[2], समाः क्रियाः स्युर्भविनं[3] विनैव ।
तदा समस्ताः [4]कुणपैरजन्तुकैः, क्रियाः क्रियन्ते न कथं करेन्द्रियैः ॥२४॥

टीका—जीवाभावे न प्रवृत्तिरित्याह–चेदिंद्रियैरित्यादि 'भविनं विनैव'–जीवमंतरेणैव, 'इंद्रियैः'–श्रोत्रादिभिः 'अथे'ति–समुच्चये, 'अथ' चेत्, 'पाणिमुखैः'–हस्तादिभिः 'अंगैः'–अवयवैः, 'समाः'–सर्वाः, 'क्रियाः'–चेष्टाः, 'स्युः'–भवेयुः, 'तदा'–तर्हि, 'अजन्तुकैः'–जीवरहितैः, 'कुणपैः'–मृतकैः, 'करेन्द्रियैः'–हस्तादींद्रियैः, 'समस्ताः'–सर्वाः, 'क्रियाः'–चेष्टाः, 'कथं न क्रियन्ते ?'–कुतो न विधीयन्ते ? यदि जीवं विनैव करादिभिः सर्वाः क्रिया भवितुं शक्नुयुस्तर्हि जीवरहिता मृतकाः करादिभिः सर्वाः क्रियाः कथन्न कुर्वन्तीति भावः ॥२४॥

मूलम्—सिद्धं तथैतद्यदशस्त[5]शस्तं, कर्मात्मनैव क्रियते न [6]चाङ्गैः ।
अरूपिणा रूपि ततश्च कर्म, सूक्ष्मं कथं नाम न गृह्यते तत् ॥२५॥

---

१. हस्तादिकैः । २. अवयवैः । ३. भवोऽस्यास्तीति भवी जीवस्तं । ४. मृतकैः । ५. अशस्तं कषायमत्सरनिन्दाद्रोहशोकमोहादिकं कर्म तथा मलोज्झनादि वा कर्म, शस्तं च कर्म ज्ञानादिरसग्रहणध्यानादिसम्पादनगुणग्रहणभगवत्स्मरणाद्यनेकं । ६. अङ्गैः कर्णादिकेन्द्रियरूपैः पाणिपादादिकैश्चावयवैरिति ।

टीका—फलितमाह–सिद्धमित्यादिना 'तथे'ति–तथा च सतीत्यर्थः, 'एतद्'–वक्ष्यमाणं, 'सिद्धं'–सिद्धिमुपागतम्, किं तत् सिद्धमित्याह–यदित्यादि 'यत्'–अत्र, 'अशस्तशस्तं कर्म'–शुभाशुभम् कृत्यम्, 'आत्मना'–जीवेन, 'एव' 'क्रियते'–विधीयते, 'न चाङ्गैः'–कर्णादिकेन्द्रियरूपैः पाणिपादादिकैश्चावयवैर्न क्रियत इति भावः, 'ततश्चेति'–तथा च सति, 'अरूपिणा'–रूपरहितेन जीवेन, 'तत्'–पूर्वोक्तं कर्म 'कथं नाम न गृह्यते ?'–कुतो नादीयते आदीयत एवेत्यर्थः, कथंभूतं कर्म ? 'रूपि'–पुद्गलमयत्वान्मूर्त्तम्, पुनः कथंभूतं ? 'सूक्ष्मं'–स्थौल्यविरहितम् ॥२५॥

मूलम्—ध्यानी पुनर्बाह्यगतेन्द्रियैर्विना, करोति कर्माणि यथेप्सितानि यत् ।
जिह्वां विना ध्यायति मानसं जपं, शृणोति तं तं [1]श्रवसी ऋते [2]तदा ॥२६॥

टीका—इन्द्रियादिभिर्विनापि जीवस्य कर्मविधाने शक्तिरस्तीति दृष्टान्तैः स्पष्टीकरोति–ध्यानीत्यादिना 'पुन' रिति–समुच्चये, 'ध्यानी'–ध्यानकर्ता, 'यत्'–यस्मात् कारणात्, 'बाह्यगतेन्द्रियैर्विना'–बाह्येंद्रियाण्यंतरेणाऽपि, 'कर्माणि'–कार्याणि, 'करोति'–विधत्ते, कथंभूतानि कर्माणि ? 'यथेप्सितानि'–यथाभीष्टानि स्वाभिलषितानीति, यावत् पुनः किं करोतीत्याह–'जिह्वां विना'–रसनामंतरेणापि, 'मानसं जपं'–मनः संबंधि जपनम्, 'ध्यायति'–चिन्तयति, पुनः किं करोतीत्याह–शृणोतीत्यादि 'तदा'–तस्मिन् काले, जपसमये इत्यर्थः, 'श्रवसी ऋते'–कर्णौ विनाऽपि, 'तं तं शृणोति'–जपादिकमारम्भमाकर्णयति ॥२६॥

---

१. जापादिकं आरम्भ । २. तस्मिञ्जापसमये अन्तरात्मनैव श्रवसी कर्णादि विनैव शृणोत्ययमात्मा ।

मूलम्—विना जलैः पुष्पफलैश्च दीपैः, सद्भावपूजां सफलीकरोति ।
ध्यात्वाऽर्थं ब्रह्मापि च ब्रह्मवादी, न [1]ब्रह्मतामेष लभेद्विना खै[2]: ॥२७॥

टीका—पुनः किं करोतीत्याह–विना जलैरित्यादि 'जलैः'–उदकैः, 'पुष्पफलैः'–कुसुमैः फलैश्च, 'दीपैः'–दीपकैश्च विना, 'सद्भावपूजां'–सद्भावसंबंधिनीमर्चां, 'सफलीकरोति'–सफलां विदधाति, ध्यात्वेत्यादि अथापि चेति अन्यच्चेत्यर्थः, 'एष'–विवक्षितः, 'ब्रह्मवादी'–ब्रह्मध्याता, 'ब्रह्म ध्यात्वा'–ब्रह्म चिन्तयित्वा, 'खैः विना'–इन्द्रियैर्विना, 'ब्रह्मतां'–ब्रह्मत्वं, 'न लभेत्'–न प्राप्नुयात्, क्रिया परस्मैपदं चिन्त्यम् काकूक्तिरियं तेन ब्रह्मत्वं लभत एवेति भावः ॥२७॥

मूलम्—जीवोऽयमेवं करणैः करादिभि–र्विनैव कर्माणि समाश्रयत्यलम् ।
अचिन्त्यशक्त्या नियतिस्वभाव–कालैश्च [3]जात्या च [4]कृतप्रणोदः ॥२८॥

टीका—दृष्टान्तं दार्ष्टान्ते घटयति–जीवोऽयमित्यादिना 'एवम्'–उक्तरीत्या, 'अयं'–प्रस्तुतो जीव आत्मा, 'करणैः'–इन्द्रियैः, 'करादिभिः'–हस्ताद्यवयवैः, 'विनैव'–अलं पर्याप्तत्वेन, 'कर्माणि'–'समाश्रयति'–आधत्ते, कथंभूतो जीवः? 'अचिन्त्यशक्त्या'–अविचार्य सामर्थ्येन, 'नियतिस्वभावकालैश्चेति'–नियत्या स्वभावेन कालेन चेत्यर्थः, 'जात्या चे'ति–तथाविधनरजन्मादिना चेत्यर्थः, 'कृतप्रणोदः'–कृतप्रेरणः, अचिन्त्यसामर्थ्येन नियत्या स्वभावेन कालेन जात्या च प्रेरितो जीवः कर्माणि समाश्रयतीति भावः ॥२८॥

---

१. एष ब्रह्मवादी ब्रह्मध्याता । २. इन्द्रियः । ३. तथाविधनरजन्मादिना । ४. प्रेरणः ।

॥ जीवसंलग्नकर्मणामदृष्टत्वं पञ्चश्लोकैराह ॥

मूलम्—कर्माणि जीवैकतरप्रदेशे–ऽप्यनन्तसङ्ख्यानि भवन्ति चेत्तदा ।
कथं न दृश्यानि हि तानि पिण्डी–भूतानि दृष्ट्या निगदन्तु कोविदाः ॥२९॥

टीका—कर्मादर्शनविषये प्रश्नयति–कर्माणीत्यादिना 'चेत्'–यदि, 'जीवैकतरप्रदेशेऽपि'–जीवस्यैकैकस्मिन्नपि प्रदेशे, 'कर्माणि' 'अनन्तसंख्यानि'–अनंता संख्या येषां तानि, 'तथा भवन्ति' 'तदा'–तर्हि, हीति चरणपूर्तौ, 'पिण्डीभूतानि'–संघातमुपेतानि, 'तानि' पूर्वोक्तानि कर्मादि 'दृष्ट्या'–नेत्रेण, 'कथं'–केन प्रकारेण, न 'दृश्यानि'–द्रष्टुं योग्यानि सन्ति, इति कोविदाः–विद्वांसः, 'निगदितुम्'–कथयितुम्, जीवैकतरप्रदेशेऽप्यनंतसंख्यानि स्थितानि पिण्डीभावं प्राप्तानि तानि कर्माणि नेत्रेण कथन्न दृश्यन्त इतिभावः ॥२९॥

मूलम्—सत्यं कृतिन् ! सूक्ष्मतमानि तानि, पश्यन्ति नो चर्मदृशो हि मादृशाः ।
ज्ञानी तु [1]सज्ज्ञानदृशो भृशोदया–त्पश्येद्यथात्रैव निदर्शनं शृणु ॥३०॥

टीका—अस्योत्तरमाह–सत्यमित्यादिना 'हे कृतिन् !'–सुकृतोपेत, 'सत्यमि'ति–तवोक्तकथन सत्यमस्तीत्यर्थः, परन्तु 'तानि'–पूर्वोक्तानि, 'सूक्ष्मतमानि'–अतिशयेन सूक्ष्माणि कर्माणि 'मादृशाः'–मादृग् जनाः, 'नो पश्यन्ति'- नावलोकन्ते, हिशब्दश्रणपूर्तौ, कथंभूता मादृशाः ? 'चर्मदृशः'–चर्मनेत्रयुक्ताः, आन्तरिकदर्शनविहीना इत्यर्थः, तर्हि को द्रष्टुं शक्नोतीत्याह ज्ञानी

१. दृष्टेः ।

टीका—अस्योत्तरमाह–आकर्ण्यतामित्यादिना 'हे विज्ञाः!'–हे अनुभवशालिनः!, 'अस्य'–पूर्वोक्तस्य प्रश्नस्य, 'उत्तरं'–प्रतिवचनम्, 'आकर्ण्यताम्'–श्रूयताम्, किं तदित्याह–कर्मेत्यादि 'कर्मस्वभावात्'–कर्मणः स्वभावेन, 'अथ' शब्दश्चार्थस्तेन अथ, 'जीवशक्तेः'–इत्यस्यार्थः जीवशक्तेश्चेति, कर्मणस्तादृक् स्वभावो जीवस्य च तादृशी शक्तिरस्ति यतः तयोर्योगो भवतीत्यर्थः, तत्संयोगेऽपरहेतुमाह–गुणाश्रय इत्यादिना 'द्रव्यं' 'गुणाश्रयः'–गुणानामाधारः अस्ति 'इति प्रवादात्'–इति तार्किकजनवचनात्, 'संसारिजीवस्य'–संसारवर्तिनः, सकर्मणो जीवस्येति यावत्, 'कर्म गुणस्तु'–गुण एव अस्ति, सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रगुणानामाश्रयत्वात् सिद्धस्यापि जीवद्रव्यत्वं सकर्मणः संसारिजीवस्य च कर्मरूपगुणाश्रयत्वाद् जीवद्रव्यत्वम् एवं च सत्याधाराधेयत्वेन तयोः संयोगः सिद्ध एवेति भावः ॥ २ ॥

मूलम्—यद्वा हि ये केचन विश्वमेतत्, सकर्तृकं प्राहुरहो! समस्तम्।
कल्पान्तकाले[1] महति प्रवृत्ते, भाव्येव[2] लीनं[3] खलु विष्णुनाम्नि[4] ॥ ३ ॥

टीका–कर्तृवादिमतमाश्रित्य गुणाश्रयत्वमाह–यद्वेत्यादिना 'यद्वा'–अथवा, 'ही'ति निश्चये, 'अहो!' इति च विस्मये, 'ये केचन'–केऽपि जनाः, 'एतद्'–विद्यमानं, 'समस्तं'–सर्वं विश्वं–जगत्, 'सकर्तृकं'–कर्तृसहितं कर्तृजन्यमिति भावः, 'प्राहुः'–कथयन्ति, तन्मते 'महति'–उत्कृष्टे, 'कल्पान्तकाले–महाप्रलये, 'प्रवृत्ते'–जाते सति, 'खल्विति' निश्चये, सर्वं विश्वम्, 'विष्णुनाम्नि'–विष्णुनामके कर्त्तरि, 'लीनं'–स्थायि, 'भाव्येव'–भविष्यत्येव, एतेन कर्तृवादि-

१. महाप्रलये। २. भावि–भविष्यति। ३. लीनं–स्थायि। ४. कर्त्तरि।

त्वित्यादिना ‘ तु ’ शब्दो व्यवच्छेदार्थः, ‘ ज्ञानी ’–ज्ञानवांस्तु, ‘ भृशोदयात् ’–निरन्तरमुदयवशात्, ‘ सज्ज्ञानदृशः ’–सम्यग्ज्ञानरूपदृष्टेः, ‘ पश्येत् ’–अवलोकते, ‘ एतानि ’–सूक्ष्मतमानि कर्माणि, ‘ यथे ’ति–तथा वेत्यर्थः, ‘ अत्र ’–अस्मिन् विषये, ‘ एव ’ शब्दश्चरणपूर्त्तौ निश्चये वावगन्तव्यः, ‘ निदर्शनम् ’–दृष्टान्तं, ‘ भृणु ’–आकर्णय ॥ ३० ॥

मूलम्—पात्रे च वस्त्रादिषु गन्धपुद्गलाः, सौगंध्यदौर्गंध्यवतो हि वस्तुनः ।
ज्ञेया नसा ते न हि पिण्डभावं, गता अपीक्ष्या नयनादिभिस्तु ॥ ३१ ॥

टीका—पात्रे चेत्यादिना प्रथमो हि(ः) निश्चये द्वितीयश्चरणपूर्त्तौ, ‘ पात्रे ’–भाजने, ‘ वस्त्रादिषु ’–वस्त्रप्रभृतिषु च, ‘सौगंध्यदौर्गंध्यवतः ’–सुगंधदुर्गंधयुक्तस्य, ‘ वस्तुनः ’–पदार्थस्य, ‘ गन्धपुद्गलाः ’–सुगंधदुर्गंधपरमाणवः, यद्यपि ‘ नसा ’–नासिकया, ‘ ज्ञेयाः ’ ज्ञातुं योग्याः सन्ति, ‘ तु ’–परन्तु, ‘ ते ’–गन्धपुद्गलाः, ‘ पिण्डभावं गता अपि ’–संघातीभावं प्राप्ता अपि, ‘ नयनादिभिः ’–नेत्रादिभिरिन्द्रियैः, न दर्शनीयाः भवन्ति। यदा सुगन्धदुर्गन्धपुद्गलाः पुद्गलात्मके पात्रादिके वस्तुनि स्थिता अपि नेत्रेण न दृश्यास्तदाऽपुद्गलात्मके आत्मन्यतिसूक्ष्माः कर्मपुद्गलाः नेत्रेण कथं दृश्या इति भावः ॥ ३१ ॥

मूलम्—ज्ञानेन जानात्ययमेवमेतं, कर्मोच्चयं जीवगतं तु केवली ।
त(य)था पुनः सिद्धरसान्निपीतं, स्वर्णादि नो तत्र दृशाभिदृश्यते ॥ ३२ ॥

---

१. यदि सुगन्धदुर्गन्धपुद्गलाः पुद्गलात्मके पात्रादिके वस्तुनि स्थिता न दृश्यास्तर्हि अपुद्गलात्मके आत्मनि अतिसूक्ष्माः कर्मपुद्गलाः कथं दृश्या इत्यर्थः। २. अयं प्रसिद्धया सर्वविज्ञातः केवली ।

मतेनापि कर्मरूपगुणाश्रयत्वमात्मन उपदर्शितम् ॥ ३ ॥

मूलम्—तदा यथा भूतगणा गुणाश्च, स्थास्यन्ति लीना ननु कर्तृनाम्नि।
यद्वा नभोऽमूर्त्तमिदं गुरोर्लघो-र्मूर्त्तस्य चामूर्त्तिमतो निरंतरम् ॥ ४ ॥
अर्थस्य सर्वस्य यथा विचक्षणा, आधारमाख्यन्नविनश्वरं महत्।
कथं तथात्मैष न रूपवानपि, रूपीणि सर्वाणि वहत्यनारतम् ॥ ५ ॥

टीका—श्लोकद्वयेनोक्तविषये सदृष्टान्तं पुष्टिमाह—तदेत्यादिना 'तदा'—तस्मिन् काले, कल्पान्तकाले इत्यर्थः, 'यथा'—येन प्रकारेण, 'भूतगणाः'—पृथिव्यादय इत्यर्थः, 'गुणाश्चे'ति—भूतानां गुणाः—गन्धस्पर्शादयः सत्वादयो वा, 'नन्वि'ति—निश्चये, 'कर्तृनाम्नि'—कर्तृनामके विष्णौ ब्रह्मणि वेत्यर्थः, 'लीनाः'—स्थायिनः, 'स्थास्यन्ति'—भविष्यन्ति, यद्वेत्यादि 'यद्वा'—अथवा, 'इदं'—प्रसिद्धं, 'नभः'—आकाशं, निरन्तरम् अतिशयेन आधारमस्ति, कथंभूतं नभः? 'अमूर्त्तं'—मूर्तिविरहितम्, कस्याधारमित्याह—गुरोरित्यादि 'गुरोः'—गरिष्ठस्य धराधरादिरूपिद्रव्यस्येति भावः, पुनः कस्याधारं? 'लघोः'—लघिष्ठस्य घनवातादिरूपिसूक्ष्मद्रव्यस्येत्यर्थः, पुनः कस्याधारं? 'मूर्त्तस्य'—मूर्त्तिमतः सर्वरूपिद्रव्यस्येति भावः,

---

१. विष्णुनाम्नि ब्रह्मनाम्नि वा। २. गुरोर्गरिष्ठस्य धराधरकारस्कराम्भोधिरूपरूपिद्रव्यस्य। ३. (लघोः) लघिष्ठस्य घनवाततनुवातपरमाणुत्रसरेण्वर्कतूलादिरूपरूपिसूक्ष्मद्रव्यस्य। ४. मूर्त्तस्य सर्वरूपिद्रव्यस्य। ५. अमूर्त्तस्य सिद्धधर्माधर्मास्तिकायादेः। ६. द्रव्यस्य। ७. सर्वस्य द्रव्यस्य सर्वस्य धर्माधर्मजीवपुद्गलास्तिकायलक्षणस्य। ८. द्रव्याणि। ९. वस्तूनि।

पुनः कस्याधारम्? 'अमूर्त्तिमतः'–अमूर्त्तस्य सिद्धधर्माधर्मास्तिकायादेरित्यर्थः, 'च' शब्दः समुच्चये, फलितमाह–अर्थस्येत्यादिना 'यथा'–येन प्रकारेण, 'विचक्षणाः'–विद्वांसः, 'अविनश्वरम्' अविनाशि, तथा 'महत्'–बृहत् नभः, 'आधारम्'–आश्रयम्, 'आख्यन्'–कथितवन्त, 'सर्वस्यार्थस्य'–सर्वद्रव्यस्य, धर्माधर्मपुद्गलास्तिकायलक्षणस्येत्यर्थः, 'तथा'–उक्तप्रकारेण, 'एषः'–प्रस्तूयमानः, 'आत्मा'–जीवः, 'सर्वाणि'–सकलानि, 'रूपीणि'–रूपयुक्तानि द्रव्याणि, 'अनारतं'–निरन्तरम्, 'कथं'–केन प्रकारेण, 'वहति'–दधाति इति त्वं विचारय। कथंभूतं(तः) आत्मा? 'न रूपवानपि'–रूपरहितोऽपि। यथा प्रलयकाले विश्वं जगत्कर्ता यथा च नभो गुर्वादीनि वस्तूनि दधाति तथैवारूप्यप्यात्मा सर्वाणि रूपीणि द्रव्याणि दधातीति भावः ॥ ४–५ ॥

मूलम्—मिथ्यात्वदृष्टिभ्रमकर्ममत्सराः, कषायकन्दर्पकला[1] गुणास्त्रयः[2]।
क्रियाः समग्रा विषया अनेकधा, किं किं न धत्तेऽत्र वपुर्गतोऽप्ययम्[3] ॥ ६ ॥

टीका—अत्र पुनः पुष्टिमाह–मिथ्यात्वेत्यादिना 'मिथ्यात्वदृष्टि(ः)'–मिथ्यात्वयुक्तं दर्शनम्, 'भ्रमो'–भ्रान्तिः, 'कर्ममत्सराः'–कर्मविषया मत्सराः, अन्येऽशुभद्वेषाः, 'कषायाः'–क्रोधादयः, 'कंदर्पः'–कामः, 'कलाः'–चतुःषष्टिसंख्याकानि कौशलानि, 'त्रयः'–त्रिसंख्याका गुणाः सत्वादयः, 'समग्राः'–सर्वाः, 'क्रियाः'–चेष्टाः, 'अनेकधा'–नानाविधा

१. पुरुषस्त्रीसम्बन्धिसर्वकलामीलने (७२–६४) १३६ कला भवन्ति। २. सत्वादयः। ३. आत्मा।

विषयाः, एते सर्वे आत्मनैव क्रियन्ते। फलितमाह-' किं किं 'मित्यादिना तर्हि ' अयं '-प्रस्तूयमानः, ' वपुर्गतोऽपि '[1]-शरीरे स्थितोऽपि आत्मा, ' अत्र '-अस्मिन् संसारे, ' किं किं न धत्ते '-किं किं न दधाति, सर्वमेव दधातीति भावः ॥६॥

मूलम्—मा वोच एतद्धि शरीरजा गुणा, अमी यतोऽस्मिन् गतपंचके घने।
दृश्यन्त एते न हि केचनाश्रिता—स्ततो वपुर्गा न गुणास्तु[2] जीवगाः ॥ ७ ॥

टीका—अत्र शंकां परिहर्तुमाह-मा वोच इत्यादि ' हि ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' एतद् '-वक्ष्यमाणं, ' मा वोचः '-मा ब्रूहि, ' यत् ' ' अमी '-पूर्वोक्ता गुणाः, ' शरीरजाः '-शरीरेण जन्याः, सन्ति, कुत इत्याह-यदि(यत इ)त्यादि ' यतो '-यस्मात् कारणात्, ' गतपंचके '-जीवरहिते, (अस्मिन्) ' घने '-शरीरे, ' एते '-पूर्वोक्ताः ' केचन '-केऽपि, ' आश्रिताः '-आधेयभूताः गुणाः, ' न हि दृश्यन्ते '-नावलोक्यन्ते, ' तत् (तः) '-तस्मात् कारणात्, ' एते '-गुणाः, ' न वपुर्गाः '-शरीरजन्याः न सन्ति, ' तु '-किन्तु, ' जीवगाः '-जीवस्था गुणा इति ॥ ७ ॥

मूलम्—संदृश्यमानं पुनरीदृशं वपु-रदृश्य एवैष भवी दधाति चेत्।
अरूपिरूपिद्वयसङ्गमो[3] ह्यसौ, विचार्यमाणः कुरुते न कौतुकम् ॥ ८ ॥

टीका—उक्तविषयमेव दृढयति-संदृश्यमानमित्यादिना ' पुनः ' चेद्यदि, ' एषः '-प्रस्तूयमानः ' भवी '-भववर्त्ती

---

१. शरीरे । २ गुणाः । ३. अरूपी जीवः रूपीणि देहतदाश्रिताङ्गकर्मक्रियादीनि शोषपोषस्निग्धरूक्षादिदेहधर्मा वा तेषां यद्द्वयं युगलं तस्य सङ्गमः सम्बन्धः ।

जीवः, ‘ ईदृशं ’–पूर्वोक्तलक्षणं, ‘ वपुः ’–शरीरं, ‘ दधाति ’–धत्ते, कथंभूतो भवी ? ‘ अदृश्य एव’–द्रष्टुमयोग्य एव, कथंभूतं वपुः ? ‘ संदृश्यमानं ’–दृष्टेर्विषयम्, तर्हि ‘ ही ’ति निश्चये, ‘ असौ ’–अयम्, ‘ अरूपिरूपिद्वयसंगमः ’–अरूपी जीवो रूपीणि देहतदाश्रिताङ्गकर्मक्रियादीनि शेषपोषस्निग्धरूक्षादिदेहधर्मा वा तेषां यद्द्वयं युगलं तस्य सङ्गमः–संबन्धः, ‘ विचार्यमाणः ’–चिन्त्यमानः सन्, ‘ कौतुकं ’–कुतूहलं, ‘ न कुरुते ’ कौतूहलं कुरुत एवेति भावः ॥ ८ ॥

मूलम्—कर्पूरहिङ्ग्वादिकसुष्ठुदुष्ठु–वस्तूत्थगन्धा गगनं श्रिता यथा ।
तिष्ठन्ति यावत्स्थिति तद्वदेव भोः, कर्माणि जीवं परिवृत्य सन्ति ॥ ९ ॥

टीका—जीवस्य कर्मभिरावृतत्वे दृष्टान्तमाह–कर्पूरेत्यादिना ‘ कर्पूरं ’–घनसारः, हिंगुरामठम् इत्यादिकानि सुष्ठुदुष्ठु च वस्तूनि तेभ्य ‘ उत्था ’–उत्पन्ना ये गंधाः, ‘ यथा ’–येन प्रकारेण, ‘ यावत्स्थिति ’–स्थितिकालपर्यन्तम्, ‘ गगनम् ’–आकाशं, ‘ श्रिताः ’–आश्रिताः तिष्ठन्ति ‘ तद्वदेव ’–तथैव, ‘ भो ’ इत्यामंत्रणे, ‘ कर्माणि ’ ‘ जीवम् ’–आत्मानं, ‘ परिवृत्य ’–आवृत्य, ‘ सन्ति ’–तिष्ठन्ति ॥ ९ ॥

मूलम्—इत्यादिभिर्दृष्टनिदर्शनैस्तथा–गुणात्मकैः कर्मभिरेष आत्मकः ।
आश्रीयते निर्गुणकोऽपि निश्चित–मात्मा ततः कर्मचितो भवी भवेत् ॥ १० ॥

---

१. यावत् कालं यस्य यादृशी स्थितिर्वर्तनं स्थितिकालमित्यर्थः । २. आश्रित्य । ३. दृष्टान्तैः । ४. स्वरूपैः । ५. युक्तः । ६. कर्मयुक्तो भवी संसारी भवेत् कर्ममुक्तस्तु तद्व्यतिरिक्तः सिद्धो भवेदिति व्यतिरेकद्वारेण पूरणीयं ।

टीका—फलितमाह–इत्यादिभिरित्यादिना 'तथा'–पूर्वोक्तप्रकारेण, 'इत्यादिभिः'–पूर्वोक्तैः, 'दृष्टनिदर्शनैः'–प्रत्यक्षदृष्टान्तैः, एतत् सिद्ध्यति यत्(तः) 'एषः'–प्रस्तूयमानः, 'आत्मकः'–जीवः, 'कर्मभिः' 'आश्रीयते'–अवलम्ब्यते, कथंभूतैः कर्मभिः ? 'गुणात्मकैः'–गुणस्वरूपैः, 'ततः'–तस्मात् कारणात्, 'निश्चितमिति'–एतत् सिद्धमित्यर्थः, किमित्याह–यत् 'आत्मा'–जीवः, 'भवी'–संसारी, 'भवेत्'–भवति, कथंभूत आत्मा ? 'निर्गुणकोऽपि'–गुणै रहितोऽपि, पुनः कथंभूतः ? 'कर्मचितः'–कर्मभिर्युक्तः। कर्मयुक्तो जीवः संसारी कर्ममुक्तस्तु सिद्धो भवेदिति ॥ १० ॥

मूर्त्तामूर्त्तयोः कर्मात्मनोराधाराधेयभावसंबन्धोक्तिलेशः चतुर्थोऽधिकारः।

॥ अथ पञ्चमोऽधिकारः ॥

सिद्धानाम् कर्माग्रहणं नवभिः श्लोकैर्वर्णयति—

मूलम्—चेदाश्रयाश्रेयकभाव एवं, सिद्धोऽस्ति कर्मात्मकयोरवश्यम् ।

जीवास्तु सिद्धा अपि सन्त्यनन्त-चतुष्टयेद्धाः परमेष्ठिसंज्ञा(ः) ॥ १ ॥

पृच्छामि पूज्याः ! खलु तर्हि सिद्धा-त्मानो न कर्माणि समाददन्ते ।

कथं तदेषामपि सौख्यसत्त्वा-ह्लातां सुकर्माणि निषेधकः कः ? ॥ २ ॥

टीका—यदि कर्मात्मनोराधाराधेयभावः सिद्धस्तर्हि सिद्धात्मानः कथं न कर्म गृह्णंतीति श्लोकद्वयेनाह-चेदित्यादि 'हे पूज्याः ! '-पूजनीयाः !, अहमेतत् 'पृच्छामि'-प्रश्नं करोमि, 'यत्' चेद्यदि, 'एवम्'-उक्तरीत्या, 'कर्मात्मकयोः'-कर्मजीवयोः, 'अवश्यं'-निश्चयेन, 'आश्रयाश्रेयकभावः'-आधाराधेयभावः, 'सिद्धः'-निष्पन्नोऽस्ति, 'तर्हि'-तदा, 'खल्वि'ति-निश्चये, 'सिद्धाः'-सिद्धं(द्धिं) गता अपि, 'जीवाः'-आत्मानः, 'सन्ति'-वर्तन्ते, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ,

---

१. आधाराधेयभावः। २. अनन्तज्ञानानन्तदर्शनानन्तसुखानन्तवीर्यलक्षणानन्तचतुष्टयेनेद्धाः दीप्ताः प्रसिद्धा वा । ३. परमे पदे तिष्ठन्तीति परमेष्ठिनः सैव संज्ञा येषां ते तथा । ४ समाददन्ते समाङ्पूर्वो ददिरयं भौवादिकः गृह्णन्तीति । ५. तत्त-स्मात् कारणात् एषां सिद्धजीवानामपि कर्माणि गृह्णताम् । ६. गृह्णताम् ।

कथंभूताः सिद्धा जीवाः? 'अनन्तचतुष्टयेद्धाः'–अनंतज्ञानानंतदर्शनानंतसुखानंतवीर्यलक्षणानंतचतुष्टयेन प्रदीप्ताः प्रसिद्धा वा, पुनः कथंभूताः ? 'परमेष्ठिसंज्ञाः'–परमे पदे तिष्ठन्तीति परमेष्ठिनः सैव संज्ञा नाम येषां ते, 'तथा' 'ते सिद्धात्मानः'–सिद्धजीवाः, 'कर्माणि' 'कथं न समाददन्ते'–कुतो न गृह्णन्ति समाङ्पूर्वो ददिरयं भौवादिकः, 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'सौख्यसत्त्वात्'–सुखभावात्, 'सुकर्माणि'–सुष्ठु कर्माणि, 'लातां'–गृह्णताम्, 'एषां'–सिद्धजीवानामपि, 'कः निषेधकः'–कः निवर्त्तकोऽस्ति ? ॥ १–२ ॥

मूलम्—सत्यं यतस्तैजसकार्मणाख्य–शरीरयोगस्य विनाशभावः ।
सुकर्मणां तेन गृहीत्ययोगा–ज्ज्योतिश्चिदानन्दभरैश्च तृप्त्याः ॥ ३ ॥
सुखासुखप्रापणहेतुकाल–प्रयोक्त्रभावादथ निष्क्रियत्वात् ।
यद्वाप्यनन्तानि सुखानि तेषां, कर्माणि सान्तानि भवन्त्यमूनि ॥ ४ ॥
इतीव तत्सौख्यभरस्य कर्म, हेतुर्भवेन्नो यदतुल्यमानात् ।
इत्यादिकैर्हेतुभिरेव सिद्धा–त्मानो न कर्माणि हि लांति नित्याः ॥ ५ ॥

---

१. तेन तैजसकार्मणलक्षणकर्मग्रहणयोग्यशरीराभावेन शोभनकर्मणां ग्रहणस्यायोगादसम्बन्धादभावादित्यर्थः सिद्धात्मानो न कर्माणि लान्तीत्युत्तरसूत्रेण सम्बन्धः एवं सर्वैरपि हेतुभिर्वाक्यपरिसमाप्तिः कर्त्तव्येति। २. सिद्धजीवानां । ३. तेषां सिद्धात्मनां यदनन्तं सौख्यं तद्भरस्य ।

टीका—अस्योत्तरमाह–सत्यमित्यादिना 'सत्य'मिति–तव कथनं सत्यमस्तीत्यर्थः, परन्तु 'यतः'–यस्मात् कारणात्, 'तैजसेत्यादि'–तैजसकार्मणनामकशरीरसंबंधस्य, 'विनाशभावः'–विनाशत्वम् अस्ति, 'तेन'–कारणेन, 'सुकर्मणां'–सुष्ठु कर्मणाम्, 'गृहीत्ययोगात्'–ग्रहणस्य (अ)संबन्धात् सिद्धात्मानः कर्माणि न लान्तीति पंचमहाव्रतस्य वाक्यानुषङ्गनं प्रति हेतुं(तुः) वेदितव्यम्(व्यः), द्वितीयं हेतुमाह–ज्योतिरित्यादिना 'ज्योतिश्चिदानन्दभरैश्चेति'–ज्योतिर्भरेण चिद्भरेणानंदभरेण चेत्यर्थः, करणे तृतीया, 'तृस्याः' तृप्तिभावात्, तृतीयं हेतुमाह–सुखेत्यादिना 'सुखासुखयोः'–सुखदुःखयोः, 'प्रापणस्य'–प्राप्तेः, 'हेतुः'–कारणं, यः कालः स एव 'प्रयोक्ता'–प्रेरणकर्ता, तस्य 'अभावाद्'–अविद्यमानत्वात्, कालग्रहणमुपलक्षणं तेन स्वभावादीनामपि ग्रहणं वेद्यम् सुखदुःखप्राप्तिहेतुभूतानाम् प्रेरकाणां कालादीनामभावादित्यर्थः, चतुर्थं हेतुमाह–अथेत्यादिना 'अथ' शब्दः समुच्चये, 'निष्क्रियत्वात्'–क्रियारहितत्वात् सिद्धात्मनाम्, पञ्चमं हेतुमाह–यद्वेत्यादिना 'यद्वा'–अथवा, 'तेषां'–सिद्धात्मनां, 'सुखान्यपि'–सौख्यान्यपि, 'अनन्तानि'–अन्तरहितानि, 'भवन्ति'–वर्तन्ते, 'अमूनि'–प्रस्तूयमानानि कर्माणि तु, 'सान्तानि'–अन्तसहितानि भवन्ति, इतीवेतिहेतोरित्यर्थः, 'कर्म तत्सौख्यभरस्य'–सिद्धानां सौख्यसमूहस्य, 'हेतुर्भवेन्नो'–हेतुर्न भवितुं शक्नोतीत्यर्थः, कुत इत्याह–यदित्यादि 'यत्'–यस्मात् कारणात्, 'अतुल्यमानादिति'–तुल्यपरिमाणाभावादित्यर्थः, फलितमाह–इत्यादिकैरित्यादिना 'इत्यादिकैः'–एतत् प्रभृतिभिर्हेतुभिः–कारणैः एव, नित्या अविचल-स्थिरैकस्वभावाः 'सिद्धात्मानः'–सिद्धजीवाः, 'ही'ति निश्चये, 'कर्माणि' 'न लान्ति'–न गृह्णन्ति ॥ ३–५ ॥

मूलम्—लोके यथा क्षुत्तृपया विमुक्ता–त्मानः सुतृप्तस्य न तृप्तिकालं ।

जितेन्द्रियस्याप्यथ योगिनोऽपि, तुष्टस्य किञ्चिद्ग्रहणे न वाञ्छा ॥ ६ ॥
यद्वा न पात्रे परिमाति किञ्चित्, पूर्णे तथा सिद्धिगता हि सिद्धाः ।
सदा चिदानंदसुधाप्रपूर्णा, गृह्णन्ति नो किञ्चिदपीह कर्म ॥ ७ ॥

टीका—पुनर्दृष्टान्तद्वारेण सिद्धानां कर्माग्राहित्वमाह–लोके यथेत्यादिना 'यथा'–येन प्रकारेण, 'लोके'–संसारे, 'क्षुत्तृषया'–बुभुक्षया पिपासया च, 'विमुक्तात्मनः'–विमुक्तस्य जीवस्य, अत एव 'सुतृप्तस्य'–सम्यक्तया तृप्तिमवाप्तस्य, 'तृप्तिकालं'–तृप्तिकालमर्यादा न भवति, 'अथे'ति–अनन्तरे, 'तुष्टस्य'–सन्तोषं प्राप्तस्य, 'जितेन्द्रियस्यापि'–इन्द्रियजितोऽपि, 'योगिनोऽपि'–योगकर्तुरपि, 'किञ्चिद् ग्रहणे'–कस्यापि वस्तुन आदाने, 'वाञ्छा'–अभिलाषो न भवति, 'किञ्चिद्' इति क्रियाविशेषणम् वावगन्तव्यम्, 'यद्वा'–अथवा, 'पूर्णे'–भृते, 'पात्रे'–भाजने, 'किञ्चित्'–किमपि, 'न परिमाति'–नांतः प्रविशति, 'तथा'–तेनैव प्रकारेण, 'ही'ति निश्चये, 'इह'–अस्मिन् लोके सिद्धान्ते वा, 'सिद्धाः'–सिद्धात्मानः, 'किञ्चिदपि'–किमपि कर्म, 'नो गृह्णंति'–नाददते, कथंभूताः सिद्धाः ? 'सदा'–सर्वदा, 'चिदानंदसुधाप्रपूर्णाः'–ज्ञानामृतेन आनंदामृतेन च परिपूर्णाः ॥ ६–७ ॥

मूलम्—तथा च सिद्धेषु सुखं यदस्ति, तद्[1]वेद्यकर्मक्षयजं वदन्ति ।
तत्[2]कर्म हेतुर्न हि सिद्धसौख्ये, यत्कर्म सान्तं सुखमेष्वनन्तम् ॥ ८ ॥

---

१. तत् सुखं सातासातवेदनीयद्वयकर्मक्षयनाशभवं । २. तस्मात्कारणात् ।

टीका—उक्तविषय एव पुष्टिमाह–तथा चेत्यादि ' तथा चे 'ति–अन्यदपि श्रूयतामित्यर्थः, ' सिद्धेषु '–सिद्धात्मसु यत् 'सुखम्'–सौख्यमस्ति, (तत्) 'वेद्यकर्मक्षयजं'–वेदनीयकर्मनाशेन जन्यं सातासातवेदनीयद्वयकर्मनाशभवमित्यर्थः, 'वदन्ति'–कथयन्ति, ' तत् '–तस्मात् कारणात्, ' ही 'ति निश्चये, ' कर्म ' ' सिद्धसौख्ये '–सिद्धानां सुखे सिद्धात्मनां सुखस्येत्यर्थः, ' हेतुः '–कारणं, न भवति, ' यत् '–यस्मात् कारणात्, ' कर्म ' ' सान्तम् '–अंतेन सहितम्, अस्ति, ' एषु '–सिद्धात्मसु, ' सुखं '–सौख्यम्, ' अनन्तम् '–अन्तरहितम् अस्ति ॥ ८ ॥

मूलम्—यद्विश्ववृत्तान्तसमुत्थनृत्त–प्रेक्षाप्रभूतं सुखमाश्रितानाम् ।
सिद्धात्मनां नित्यसुखं प्रवर्त्तते, यथा नृणामद्भुतनृत्यदर्शिनाम् ॥ ९ ॥

टीका—सिद्धानां कर्मानाश्रयत्व एव पुनः पुष्टिमाह–यद्विश्वेत्यादिना ' यत् '–यस्मात् कारणात्, ' सिद्धात्मनां '–सिद्धजीवानां, ' नित्यसुखं '–शाश्वतं सुखं, ' प्रवर्त्तते '–भवति, कथंभूतं सुखमित्याह–विश्वेत्यादि ' विश्वस्य '–जगतः, ' वृत्तांतेन '–व्यवहारेण, ' समुत्थम् '–उत्पन्नं, यन्नृत्तं–नर्तनं, तस्य ' प्रेक्षा '–दर्शनं, तया तस्या वा ' प्रभूतम् '–उत्पन्नं, कथंभूतानां सिद्धात्मनां ? ' सुखमाश्रितानां '–सुखं प्राप्तानां, अत्र दृष्टान्तमाह–यथेत्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, ' नृणाम् '–मनुष्याणाम्, ' नित्यसुखं '–सुखं भवति, कथंभूतानाम् नृणाम् ? ' अद्भुतनृत्यदर्शिनाम् '–विचित्रनाटकद्रष्टृणाम्[1], यथाऽद्भुतनृत्यदर्शनेन नृणां सुखं भवति तथैव संसारवृत्तान्तोत्पन्ननृत्यदर्शनेन सिद्धात्मनां सुखं भवतीत्यर्थः, एतेन सिद्धा-

१. दर्शन ।

त्मनां संसारपृथक्त्वेन निष्क्रियत्वमुद्घोषितम् ॥ ९ ॥

विनेन्द्रियैरपि सिद्धानामनन्तसौख्यमष्टभिः श्लोकैराह—

मूलम्—सिद्धेषु पूज्या ! न किल क्रियेन्द्रियं, बुद्धीन्द्रियं नो न च किञ्चनाङ्गम् ।
अनन्तसौख्यं कथमाप्यते तै-र्यज्ज्ञानमेतेषु तदेव सौख्यम् ॥ १० ॥

टीका—सिद्धानां सुखभोगविषये प्रश्नयति–सिद्धेष्वित्यादिना 'हे पूज्याः !'–हे पूजनीयाः !, 'किले' ति–स्ववार्त्तायाम्, 'सिद्धेषु'–सिद्धात्मसु, 'क्रियेन्द्रियं'–कर्मेन्द्रियं हस्तादिकमित्यर्थः, नास्ति, 'बुद्धीन्द्रियं'–ज्ञानेन्द्रियं चक्षुरादिकमित्यर्थः, 'नो'–नैवास्ति, 'च' शब्दः समुच्चये, 'किञ्चन'–किमपि, 'अङ्गं'–मुखादिकं, न अस्ति तर्हि 'तैः'–सिद्धात्मभिः, 'अनन्तसौख्यम्'–अन्तरहितं सुखं, 'कथं'–केन प्रकारेण, 'आप्यते'–प्राप्यते लभ्यते इति यावत् अस्योत्तरमाह–यदित्यादिना 'एतेषु'–सिद्धात्मसु, यद्ज्ञानं अस्ति 'तदेव' 'सौख्यं'–सुखमुच्यते ॥ १० ॥

मूलम्—यथेह लोके किल कश्चिदङ्गी, ज्वरादिबाधाविधुरः[1] कदाचित् ।
निद्रां प्रकुर्वन्निति तज्जनैस्तु,[2] सुखं करोत्येष न बोधनीयः[3] ॥ ११ ॥
इत्युच्यते तस्य न तत्र[4] किञ्चि-च्छ्रोतःसुखं[5] नापि क्रिया[6] निरीक्ष्यते ॥

---

१. पीडित । २. तस्य निद्राणनरस्य तदीयस्वकबन्धुजनैः । ३. जागरणीय । ४. निद्रावस्थायां । ५. इन्द्रियसुखं । ६ क्रिया करपादादिसमुद्भूता ।

तथापि सुप्तस्य नरस्य सौख्यं, वाच्यं यथा स्याद् भुवि तद्वदेव ॥ १२ ॥
जाग्रत्सु सिद्धेषु सदैव सौख्यं, विनेन्द्रिय[2]द्वैतसमुत्थभोगम् ।
यद्वा हि योगी निजका[3]त्मबोधा–मृतं पिबन्नस्मि सुखीति मन्ता ॥ १३ ॥
तथा च कोऽपीह मुनिर्यथोक्तः, सन्तुष्टिपुष्टो विजितेन्द्रियार्थः ।
अन्येन पुंसा परिपृच्छ्यते चेत्, त्वं कीदृ[4]शोऽसीति सुखी स जल्पेत् ॥ १४ ॥
तस्मिन् क्षणे तस्य न कोऽपि वस्तुनः, स्पर्शः स[5]तो नैव च भुक्तियुक्तिः ।
गन्धग्रहो नो न च दृक्छ्[6]रुती तदा, न पाणिपादादिभवा क्रियापि च ॥ १५ ॥
तथापि सन्तोषवताहमस्मि, सुखीति भू[7]यः प्रतिगद्यतेऽतः ।
तज्ज्ञानसौख्यं हि स एव वेत्ति, न ज्ञानहीनो गदितुं समर्थः ॥ १६ ॥

टीका—ज्ञानस्य सुखस्वरूपत्वे दृष्टान्तमाह–यथेहेत्यादिना ‘ यथा ’–येन प्रकारेण, ‘ इह ’–अस्मिन् लोके, संसारे, ‘ किले ’ति निश्चये, ‘ ज्वरादिबाधाविधुरः ’–ज्वरादीनां रोगाणां बाधया पीडनेन विधुरो व्याकुलः, ‘ कश्चित् ’–कोऽपि, ‘ अङ्गी ’–प्राणी, ‘ कदाचित् ’–कस्मिंश्चित्समये, ‘ निद्रां प्रकुर्वन् ’–शयनं कुर्वन् शयान इति यावत् भवति ‘ इति ’ शब्दो

१. ज्ञानवत्सु । २ क्रियेन्द्रियबुद्धीन्द्रिययुग्मोत्पन्नभोगं विनैव । ३. ज्ञान । ४. सुखी वा दुःखी वा च कीदृशोऽसीति पृष्टे । ५. उत्तमस्य । ६. न च तदा सत उत्तमस्य वस्तुनः किञ्चिद् दर्शनं न च श्रवणमित्यर्थः । ७ भृशं ।

हेतुद्योतने, तदा, 'एषः'—ज्वरादिबाधाविधुरोऽङ्गी, 'सुखं करोति'—सुखमनुभवति, 'न बोधनीय इति'—अयं न जागरणीय इत्यर्थः, 'एषा'—वार्ता, 'तज्जनैः'—रोगीभिः जनैः, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'उच्यते'—कथ्यते, यद्यपि 'तत्र'—निद्रावस्थायां, 'तस्य'—शयानस्य, 'किञ्चित्'—किमपि, 'श्रोतः सुखम्'—इन्द्रियसौख्यं, न भवति, 'क्रिया'—करपादादिसमुद्भूता चेष्टा, अपि, 'न निरीक्ष्यते'—न दृश्यते, तथापि, 'भुवि'—पृथिव्यां संसारे इति यावत्, 'यथा'—येन प्रकारेण, 'सुप्तस्य नरस्य'—शयानस्य नरस्य, 'सौख्यं'—सुखं, 'वाच्यं'—कथनीयं, 'स्यात्'—भवेत्, 'तद्वदेव'—तथैव, 'इन्द्रियद्वैतसमुत्थभोगम्'—विना क्रियेन्द्रियबुद्धींद्रिययुग्मोत्पन्नभोगमंतरेणैव, 'सिद्धेषु'—सिद्धात्मसु, 'सदैव'—सर्वदैव, सर्वकालमेवेत्यर्थः, 'सौख्यम्'—सुखं, 'भवति'—उच्यते, कथंभूतेषु सिद्धेषु ? 'जाग्रत्सु'—ज्ञानवत्सु, दृष्टान्तरमाह—यद्वेत्यादिना 'यद्वा'—अथवा, 'ही'ति निश्चये, 'योगी'—योगकर्त्ता, 'निजकात्मबोधामृतं पिबन्'—स्वात्मज्ञानामृतस्य पानं कुर्वन्, 'अहम् सुखी'—सुखयुक्तोऽस्मीति, 'मन्ता'—मननकर्त्ता भवति, दृष्टान्तरमाह—तथा चेत्यादिना 'तथा चे'ति—तथैव चेत्यर्थः, 'इह'—अस्मिन्संसारे, 'यथोक्तः'—उक्तप्रकारनिजकात्मबोधामृतं पिबन्नित्यर्थः, 'कोऽपि'—कश्चित्मुनिः, 'अन्येन'—अपरेण, 'पुंसा'—जनेन, 'चेत्'—यदि, परिपृच्छ्यते, किं परिपृच्छ्यत इत्याह—त्वमित्यादिना 'त्वं कीदृशोऽसीति'—त्वं कीदृक् प्रकारोऽसि, सुख्यसि दुःखी वाऽसीत्यर्थः, तर्हि 'सः'—मुनिः, 'जल्पेत्'—कथयति, 'यदहं' 'सुखी'—सुखयुक्तोऽस्मि, कथंभूतो मुनिः ? 'सन्तुष्टिपुष्टः'—सन्तुष्ट्या—संतोषेण पुष्टः—पूर्णः, कथंभूतो ? 'विजितेंद्रियार्थः'—विजिता इन्द्रियाणामर्था—विषया येन सः, तथा यद्यपि 'तस्मिन् क्षणे'—काले, 'तस्य'—मुनेः, 'सतः'—उत्तम-

स्य वस्तुनः, ' कोऽपि '–कश्चित्, ' स्पर्शः ' स्पर्शनं त्वगिंद्रियजन्यं सुखमितिभावः, न अस्ति, ' च ' शब्दः समुच्चये, ' भुक्तियुक्तिः '–भोगसंबन्धोऽपि, नैवाऽस्ति, ' गन्धग्रहः '–गन्धस्य ग्रहणं, ' नो '–नैवाऽस्ति, ' तदा '–तस्मिन् काले, च ' दृक्छ्रुती ' दर्शनं श्रवणं च, नास्ति, ' च '–पुनः, ' पाणिपादादिभवा '–हस्तपादादिजन्या, ' क्रिया '–चेष्टाऽपि, नास्ति तथापि ' संतोपवता '–संतोपयुक्तेन तेन मुनिना, ' अहं सुखी '–सुखयुक्तोऽस्मीति, ' एषा '–वार्त्ता, ' भूयः '–भृशं, ' प्रणिगद्यते '–कथ्यते, ' अतः '–अस्मात् कारणात्, ' तत् '–पूर्वोक्तं स्वस्य, ' ज्ञानसौख्यं '–ज्ञानरूपं सुखं, ' ही 'ति निश्चये, ' सः '–मुनिः, एव, ' वेत्ति '–जानाति, ' ज्ञानहीनो '–ज्ञानविरहितः, अज्ञानीति यावत्, ' गदितुं '–कथयितुं, ' न समर्थः '–न शक्तोऽस्ति ॥ ११–१६ ॥

मूलम्—इत्थं हि सिद्धेषु विनेन्द्रियार्थै[1]–स्तथा क्रियाभिः[2] सुखमस्त्यनंतम् ।
ते[3] एव तत्सौख्यभरं विदन्त्यपि, ज्ञानी न शक्तो वदितुं यतोऽसमम् ॥ १७ ॥

टीका—फलितमाह–इत्थमित्यादिना ' इत्थम् '–अनेन प्रकारेण, ' ही 'ति निश्चये, ' सिद्धेषु '–सिद्धात्मसु, ' इन्द्रियार्थैः विना '–ज्ञानेंद्रियविषयान् विना, ' तथा ' शब्दः समुच्चये, 'क्रियाभिः'–मनोवाक्कायजनिताभिः चेष्टाभिर्विना, ' अनन्तम् '–अन्तरहितम् शाश्वतमितिभावः, 'सुखं'–सौख्यमस्ति, ' तत्सौख्यभरं '–स्वसुखसमूहं पूर्वोक्तसुखसमूहं वा, ' ते '–

१. बुद्धीन्द्रियक्रियेन्द्रियसमुत्पन्नगोचरैर्विना । २. क्रियाभिः मनोवाक्कायजनिताभिर्विनेत्यर्थ । ३. ते एव सिद्धा एव ।

सिद्धा एव, ' विदन्त्यपि '—जानन्त्यपि । सिद्धानतिरिच्य तत्सौख्यभरमन्यः कोऽपि न वेत्तीतिभावः । अत्र हेतुमाह—ज्ञानीत्यादिना ' यतः '—यस्मात् कारणात्, ' असमम् '—अनुपमम्, तत्सौख्यभरं, ' ज्ञानी '—ज्ञानयुक्तः, ' वदितुं '—कथयितुम्, ' न शक्तः '—न समर्थोऽस्ति ॥ १७ ॥

सिद्धात्मनः कर्मानादानोक्तिलेशः

पञ्चमोऽधिकारः

॥ अथ षष्ठोऽधिकारः ॥

सिद्धानाम् कर्मादानस्वभावस्य वर्जनमेकादशभिः श्लोकैराह—

मूलम्—जीवस्य कर्मग्रहणे स्वभाव-स्तदा स मौलं सहजं विहाय ।
कर्मग्रहाख्यं[1] कथमेष सिद्धो, भवेद्विचारः परिपठ्यतां भोः ॥ १ ॥

टीका—जीवस्य कर्मग्रहरूपः स्वभावस्तर्हि कथं स कर्मग्रहं विहाय सिद्धिं यातीत्यस्मिन् विषये प्रश्नयतीति जीवस्येत्या-

१. कर्मग्रहणस्वरूपं ।

दिना यत् ' जीवस्य '–आत्मनः, ' कर्मग्रहणे '–कर्मणामादाने, स्वभावः अस्ति, ' तदा '–तर्हि, ' सः '–जीवः, ' कर्मग्रहाख्यं '–कर्मग्रहणं नामकं, ' मौलं '–मूलजातं, ' सहजं '–सहोत्पन्नं, ' तं '–स्वभावं, ' विहाय '–त्यक्त्वा, ' कथं '–केन प्रकारेण, ' सिद्धः '–सिद्धिं गतः, ' भवेत् '–स्यात्, सिद्धः कथं भवितुम् शक्नोतीतिभावः, ' भोः '–इत्यामंत्रणे, ' एषः '–प्रस्तूयमानो विचारः, ' परिपठ्यतां '–विचार्यताम् ॥ १ ॥

मूलम्—कर्मात्मनोर्यद्यपि मौलसङ्ग–स्तथापि सामग्र्यतथोपलम्भात् ।
कर्मग्रहं प्रोज्झ्य शिवं समेतः, सिद्धो भवेदत्र निदर्शनं यत् ॥ २ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–कर्मात्मनोरित्यादिना यद्यपि ' कर्मात्मनोः '–कर्मजीवयोः, ' मौलसंगः '–अनादिसंबन्धः, अस्ति, ' तथापि सामग्र्यतथोपलम्भात् '–तथाविधसामग्रीलाभात्, ' कर्मग्रहं '–कर्मग्रहणस्वभावं, ' प्रोज्झ्य '–त्यक्त्वा, ' शिवं '–शिवपदं, ' समेतः '–प्राप्तः, ' सिद्धो भवेत् '–सिद्धिंगतः स्यात्, ' अत्र '–अस्मिन् विषये, ' निदर्शनं '–दृष्टान्तः, अस्ति यदित्युत्तरवृत्तान्वयि विज्ञेयम् ॥ २ ॥

मूलम्—सूते यथा चञ्चलतास्वभावो, मौलस्तथाऽन्यस्थिरभावसंज्ञः ।
यदा तु तादृक्परिकर्मणा कृत–स्तदा स्थिरो वह्निगतश्च तिष्ठेत् ॥ ३ ॥

टीका—दृष्टान्तमेवाह–सूते इत्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, ' सूते '–पारदे, ' चञ्चलस्वभावः ', ' तथे'ति समुच्चये,

१. अनादिसम्बन्ध. । २. तथाप्रकारसामग्रीप्रापणात् । ३. गतः । ४. तादृशभावनाभिर्विहितः ।

'अग्न्यस्थिरभावसंज्ञः '—अग्नौ स्थिराभावनामकश्च स्वभावः, 'मौलः '—मूलजातः, अस्ति, 'तु '—परन्तु, 'यदा '—यस्मिन् काले, 'तादृक् परिकर्मणा कृतः'—तादृशभावनाभिर्विहितो भवति, 'तदा '—तस्मिन् काले, 'च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'वह्निगतः '—वह्निं प्राप्तः, 'स्थिरः '—चांचल्यरहितः, 'तिष्ठेत् '—भवेत् ॥ ३ ॥

मूलम्—यथा पुनर्दाहकतागुणोऽग्ना—वस्ति स्वभावो ननु मूलजातः ।
अस्यापि नाशोऽस्ति तथाप्रयोगात्[1], सन्तं[2] सतीं[3] नैव दहेत्कदापि ॥ ४ ॥

टीका—दृष्टान्तरमाह—यथेत्यादिना 'यथा ' पुनरिति यथा चेत्यर्थः, 'नन्वि 'ति निश्चये, 'अग्नौ '—वह्नौ, 'दाहकतागुणः '—दाहकत्वगुणविशिष्टः स्वभावः, 'मूलजातः '—मौलोऽस्ति, परन्तु 'तथाप्रयोगात् '—तद्वीर्योपघातकारिसामग्रीसंबन्धात्, 'अस्यापि '—दाहकत्वस्वभावस्यापि, 'नाशोऽस्ति '—नाशो भवति, अत्रैव दृष्टान्तरमाह—सन्तमित्यादिना 'सः'—अग्निः, 'सन्तं '—साधुं सत्यवादिनम् इत्यर्थः, तथा 'सतीं '—पतिव्रतां शीलव्रतीमितिभावः, 'कदापि '—कदाचित्, 'नैव दहेत् '—न दहति, स्वभावनाशाद् दग्धुं न शक्नोतीतिभावः ॥ ४ ॥

मूलम्—बद्धो यथाप्येष च मन्त्रयोगात्, तथौषधीभिर्न दहेद्द्विशन्तम् ।
अश्नन्तमग्निं च चकोरकं तथा, वह्निर्दहेन्नो विगतस्वभावः ॥ ५ ॥

टीका—अग्निस्वभावनाशविषय एव पुष्टिमाह—बद्ध इत्यादिना 'यथा '—अपीति अन्यच्चेत्यर्थः, 'च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ,

१. तद् वीर्योपघातकारिसामग्रीसम्बन्धात् । २. सन्तं साधुं सत्यवादिनम् । ३. सतीं शीलव्रतवतीं सीतादिकां ।

'मन्त्रयोगात्'–मन्त्रसंबन्धात्, 'तथा' शब्दः समुच्चये, 'औषधीभिः'–औषधैश्च, 'बद्धः'–बंधनं प्राप्तः विनष्टदाहकत्वगुणः सन्निति भावः, 'एषः'–अग्निः, 'विशन्तम् न दहेदिति'–प्रवेशकर्तारं जनं दग्धुं न शक्नोतीतिभावः, 'तथा' शब्दः समुच्चये, 'अग्निं'–वह्निम्, 'अश्नंतं–भुञ्जानं, 'चकोरकं'–चकोरनामकं पक्षिणं, 'विगतस्वभावः'–विनष्टस्वभावः सन्, 'वह्निः'–अग्निः 'नो दहेत्'–दग्धुं न शक्नोति ॥ ५ ॥

मूलम्—तथाभ्रकं हेम च रत्नकम्बलं, सिद्धं च सूतं न दहेद्धुताशनः ।
तदा तु या दाहकता विभावसौ, मौली व्रजेत्काथ निगद्यतामिति ॥ ६ ॥

टीका—अत्रैव पुनः पुष्टिमाह–तथाभ्रकमित्यादिना 'तथा' शब्दः च शब्दौ च समुच्चये, 'अभ्रकं'–गिरिजामलम्, 'हेम'–सुवर्णम्, 'रत्नकम्बलं'–सिद्धमौषधादिभिर्भवितं, 'सूतं'–पारदं च, 'हुताशनः'–अग्निः, 'न दहेत्'–दग्धुं न शक्नोति, फलितमाह–तदा त्वित्यादिना 'तदा'–तस्मिन् काले, 'विभावसौ'–वह्नौ, या 'मौली'–मूलजाता, दाहकत्वम् अस्ति प्रश्ने 'क'–कुत्र, 'व्रजेद्'–गच्छति, 'इति'–एतद्, 'निगद्यताम्'–उच्यताम् भवता ॥ ६ ॥

मूलम्—यश्चुम्बकग्रावणि लोह[2]ग्राही, स्वभाव आस्ते स[3]हजः सकोऽस्ति ।
त[1]स्मिन्मृते वेतरयोगयुक्ते,–ऽपैती[5]त्थमेतेष्व[6]पि कर्मयोगः ॥ ७ ॥

---

१. अग्नौ । २. ह्रादिपाठात् न पूर्वस्य दीर्घः । ३. सहोत्पन्नः । ४. मृते अग्निना भस्मीभूतेऽथवान्यौषधादिना तद्दर्पहारिणा संयुक्ते । ५. यातीत्यर्थः । ६. सिद्धेषु ।

टीका—स्वभावपरिवर्तन एव पुनर्दृष्टान्तमाह–यश्चुम्बकेत्यादिना 'चुम्बकग्रावणि'–चुम्बकपाषाणे, यो, 'लोहग्राही'–लोहाकर्षकः स्वभावः, 'आस्ते'–विद्यते, 'सकः'–सः, 'सहजः'–सहोत्पन्नः स्वाभाविक इति यावत्, 'अस्ति'–विद्यते, परन्तु 'तस्मिन्'–चुम्बकग्रावणि, 'मृते'–अग्निना भस्मीभूते सति, 'वा'–अथवा, 'इतरयोगयुक्ते'–तद्पहारिणौषधादिना संयुक्ते सति, 'सः'–स्वभावः, 'अपैति'–याति, दार्ष्टान्ते योजनामाह–इत्थमित्यादिना 'इत्थम्'–अनेन प्रकारेण, 'एतेषु'–सिद्धेष्वपि, 'कर्मयोगः'–कर्मसंबन्धः, अपैति ॥ ७ ॥

मूलम्—बीजं तथाङ्कुरभवं दधाति, मौलात्स्वभावादविकारि यावत् ।
तस्मिंस्तु दग्धे न किलाङ्कुरोद्भवं, एवं तु सिद्धेषु न कर्मबन्धः ॥ ८ ॥

टीका—दृष्टान्तमाह–बीजमित्यादिना 'तथा' शब्दः समुच्चये, 'यावदिति'–यावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः, 'अविकारि'–विकाररहितम् भवति तावत्, 'बीजं'–धान्यादि, 'मौलात्'–मूलजातात्, स्वभावात्, 'अंकुरभवं'–अंकुरोत्पत्तिं, अंकुरोत्पादनशक्तिमितिभावः, 'दधाति'–धत्ते, 'तु'–परन्तु, 'तस्मिन्'–बीजे, 'दग्धे'–अग्निना भस्मीभूते सति, 'किले'ति निश्चये, 'अंकुरोद्भवः'–अङ्कुरस्योत्पत्तिर्न भवति, दार्ष्टान्ते योजनमाह–एवं त्वित्यादिना 'एवं त्वि'ति–एवमेवेत्यर्थः, 'तु' शब्द एवकारार्थः, 'सिद्धेषु'–'सिद्धिं गतेष्वात्मसु, 'कर्मबन्धः'–कर्मसंयोगो न भवति ॥ ८ ॥

१. धान्यादि । २. उत्पत्तिं । ३. उत्पत्तिः ।

मूलम्—वायोस्तथा चञ्चलतास्वभावो, यो वर्तमानः सहजः समस्ति ।
खलस्य[1] मध्ये पवने निरुद्धे, कथं प्रयात्येष चलस्वभावः ? ॥ ९ ॥

टीका—दृष्टान्तरमाह–वायोस्तथेत्यादिना ' तथा ' शब्दः समुच्चये, ' वायोः '–पवनस्य, ' यः सहजः '–सहोत्पन्नः स्वाभाविक इति यावत्, ' चञ्चलतास्वभावः '–अस्थिरत्वस्वभावः, ' वर्त्तमानः '–प्रवृत्तिं कुर्वन्, ' समस्ति '–विद्यते, ' एष चलस्वभावः '–चांचल्यस्वभावः, ' खलस्य मध्ये '–दृप्त्या अभ्यन्तरे, ' पवने '–वायौ, ' निरुद्धे '–अवरोधं गते सति, ' कथं '–केन प्रकारेण, ' प्रयाति '–गच्छति । यथा खले निरुद्धस्य वायोः सहजोऽपि चलस्वभावोऽपैति तथैव सिद्धानां कर्मग्रहणस्वभावोऽपि तद्दशायामपैतीतिभावः ॥ ९ ॥

मूलम्—आहारमुख्याः सहजाश्चतस्रः, संज्ञा इमाः प्रोज्झ्य शुकादयो[2]ऽमी ।
सिद्धाः प्रसिद्धाः परब्रह्मरूपाः, जातास्ततोऽपैति निजस्वभावः ॥ १० ॥

टीका—अत्रैव दृष्टान्तरमाह–आहारमुख्या इत्यादिना ' अमी '–एते, ' प्रसिद्धाः '–आख्याताः, ' शुकादयः '–शुकादिमुनयः, ' इमाः '–प्रसिद्धाः, ' सहजाः '–सहोत्पन्नाः स्वाभाविका इति यावत्, ' आहारमुख्याः '–आहारादिका आहारभयमैथुनपरिग्रहरूपी इत्यर्थः, ' चतस्रः '–चतुः संख्याकाः, ' संज्ञाः '–अभिलाषान्, ' प्रोज्झ्य '–त्यक्त्वा, ' सिद्धाः '–सिद्धिं गताः सन्तः, ' परब्रह्मरूपाः '–परब्रह्मस्वरूपाः, ' जाताः '–अभवन्, फलितमाह तत इत्यादिना ' ततः '–तस्मात् कारणात्

---

१. खलस्य दृप्त्यां । २ शुकादय शैवशासनप्रसिद्धाः ।

एतत् सिद्ध्यति, ' निजस्वभावः '—स्वस्वभावः, ' अपैति '–याति नश्यतीतिभावः ॥ १० ॥

मूलम्—इत्यादिदृष्टान्तभरैः स्वभावो, मौलो यथा याति तथैव जन्तोः ।
कर्मग्रहोऽयं सहजः प्रयाति, सिद्धत्वमाप्तस्य किमत्र चित्रम् ? ॥ ११ ॥

टीका—फलितमाह-इत्यादिना ' इत्यादिदृष्टान्तभरैः '–पूर्वोक्तादिदृष्टान्तसमूहैः, ' एतत् ' सिद्ध्यति यत् ' यथा '–येन प्रकारेण, ' मौलः '–मूलजातः स्वभावः, ' याति '–गच्छति, ' तथैव '–तेनैव प्रकारेण, ' सिद्धत्वं '–सिद्धभावम्, आप्तस्य, ' जन्तोः '–प्राणिनः, ' अयं '–पूर्वोक्तः, ' सहजः '–सहोत्पन्नः स्वाभाविक इत्यर्थः, ' कर्मग्रहः '–कर्मग्रहणरूपः स्वभावः, ' प्रयाति '–गच्छति, दूरीभवतीत्यर्थः, ' अत्र '–अस्मिन् विषये, ' चित्रम् '–आश्चर्यं किम् अस्ति ॥ ११ ॥

सिद्धात्मनः कर्मग्रहणनिराकरणोक्तिलेशः
षष्ठोऽधिकारः

॥ अथ सप्तमोऽधिकारः ॥

मुक्तिप्रवाहाविच्छिन्नतां संसारभव्याशून्यताञ्च द्वादशभिः श्लोकैराह—

मूलम्—प्रश्नस्तथैकः परिपृच्छयतेऽसकौ, सिद्धान्समाश्रित्य निजोपलब्धये ।
सर्वज्ञवाक्यात् किल मुक्तिमार्गको, वहन् सदास्ते करकस्य नालवत् ॥ १ ॥
नो पूर्यते मुक्तिरसौ कदापि, संसार एषोऽपि च भव्यशून्यः ।
परस्परद्वेषिवचोविलासै-र्न सङ्गतिं मङ्गति वाक्यमेतत् ॥ २ ॥

टीका—प्रसंगाद्‌ मुक्तिविषये प्रश्नयति प्रश्नस्तथैक इत्यादिना 'तथे'ति समुच्चये, 'असकौ'—वक्ष्यमाण एकः प्रश्नः परिपृच्छयते, कानुद्दिश्य परिपृच्छयते ? इत्याह—'सिद्धान् समाश्रित्येति'—सिद्धानुद्दिश्येत्यर्थः, किमर्थं परिपृच्छयते ? इत्याह—निजोपलब्धये इति स्वकीयज्ञानार्थमितिभावः, प्रश्नस्वरूपमाह—सर्वज्ञेत्यादिना किलेति स्ववार्तायाम् 'सर्वज्ञवाक्यात्'—सर्वज्ञस्य वाक्येन यद्यथेतज् ज्ञायते यत् 'मुक्तिमार्गकः'—मुक्तेर्मार्गः, ज्ञानदर्शनचारित्ररूप इत्यर्थः, 'सदा'—सर्वदा, 'करकस्य'—कमदाग्लोर्नालवत् नालिकावत्, 'वहन्'—प्रवाहं कुर्वन्, 'आस्ते'—तिष्ठति, तथापि 'असौ'—प्रसिद्धा, 'मुक्तिः'—मोक्षः,

१. स्वकीयज्ञानार्थं । २. प्रशसायां प्रसिद्धौ वा स्वार्थे वा क प्रत्ययः । ३. मागि गतौ भौवादिको गत्यर्थः गच्छति ।

'कदापि'—कस्मिंश्चिदपि समये, 'नो पूर्यते'—न पूर्तिं याति, 'च'—पुनः, 'एषः'—प्रसिद्धः, संसारोऽपि, 'भव्यशून्यः'—भव्यैर्भव्यजीवै रहितः कदापि नो भवति 'एतत्'—पूर्वोक्तं, 'वाक्यम्'—वचनम्, 'परस्परद्वेषिवचोविलासैः'—मिथो द्वेषयुक्तवाग्विलासैः, 'संगतिं'—सिद्धिं, 'न मङ्गति'—न गच्छति, न सिद्ध्यतीत्यर्थः। मुक्तिमार्गः सदा वहति, मुक्तिर्न पूर्यते, संसारश्च भव्यशून्यो न भवति इत्येतानि वाक्यानि परस्परं विरुद्धार्थप्रतिपादकानि यतो यदि नाम मुक्तिमार्गः सदा वहति तर्हि मुक्तेः पूर्तिः स्यात् संसारश्च भव्यशून्यः स्यान्न च तथा भवति तस्मादुक्तवाक्यस्य सिद्धिर्न भवितुं शक्नोतीतिभावः ॥ १–२ ॥

मूलम्—न हि व्यलीकं भगवद्वचोऽस्त्यदः, परं न चित्तेऽल्पधियामभिव्रजेत्।
दृश्योऽस्ति दृष्टान्त इहैव लौकिको, यं शृण्वतां श्रोतृनृणां मनः स्थिरं ॥ ३ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह—न हीत्यादिना 'अदः'—पूर्वोक्तं, 'भगवद्वचः'—सर्वज्ञवचनं, 'व्यलीकं'—मिथ्या, 'न ह्यस्ति'—न भवति, तर्हि किमस्तीत्याह—परमित्यादिना 'परं'—परन्तु, 'अल्पधियाम्'—अल्पबुद्धिमतां, 'चित्ते'—मनसि 'नाभिव्रजेत्'—न तिष्ठति, 'अल्पधीः विचारविषयो न भवतीतिभावः' दृश्य इत्यादि 'इहैव'—अस्मिन्नेव विषये, 'लौकिकः'—लोकसिद्धः, 'दृष्टान्तः'—निदर्शनम्, 'दृश्यः'—दर्शनीयोऽस्ति, 'यं'—दृष्टान्तं, 'शृण्वतां'—श्रवणकर्तॄणां, 'श्रोतृनृणां'—श्रावकजनानां, 'मनः'—चित्तं, 'स्थिरं'—अचञ्चलम् भवति ॥ ३ ॥

---

१. आप्त। २. दृष्टान्तं।

मूलम्—सिद्धालयः स्याल्लवणोदसोदरः[1] संसार एषोऽस्ति नदीह्रदोदरः[2]।
नदीप्रवाहाश्च यथा महोदधौ, पतन्ति निर्गत्य नदीह्रदान्तरात्[3] ॥ ४ ॥
नदीह्रदा नैव भवन्ति रिक्ता, न चाम्बुधिः कर्हिचिदस्ति पूर्णः ।
नदीप्रवाहोऽपि निरंतरं य–द्वहत्यविच्छिन्नतया[4]ऽतिशीघ्रं ॥ ५ ॥
इत्थं हि भव्याः परियन्ति[5] मुक्तौ, नदीप्रवाहा इव सागरान्तः ।
संसार एष ह्रदवन्न रिक्तः, पयोधिवन्नैव भृतापि मुक्तिः ॥ ६ ॥

टीका—दृष्टान्तमाह–सिद्धालय इत्यादिना ' सिद्धालयः '–सिद्धानां स्थानं मुक्तिरिति यावत्, ' लवणोदसोदरः स्यात् '–लवणोदः लवणसमुद्रस्तस्य सोदर इव भ्राता इव यः सः लवणोदसोदरः, सोदरशब्दोऽत्र प्रस्तावात्तादृशार्थस्तेन लवणोदसदृशोऽस्ति इत्यवगंतव्यं, 'एषः'–प्रसिद्धः, संसारः, 'नदीह्रदोदरोऽस्ति'–नदीनां गंगादीनां ह्रदाः पद्मह्रदादयस्तेषामुदरं मध्यस्थजलप्रदेशस्तदिव यः सः नदीह्रदोदरसदृशोऽस्तीतिभावः, अत्र लुप्तोत्प्रेक्षावाचि पदं ज्ञेयं यथाग्निर्माणवकः इति दृष्टान्तं घटयति । नदीप्रवाहाश्चेत्यादिना 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' यथा '–येन प्रकारेण, ' नदीह्रदान्तरात् '–नदीनां ये ह्रदास्तदनंतरात्तन्मध्यात्,

---

१. लवणोदः लवणसमुद्रः तस्य सोदर इव भ्राता इव यः स लवणोदसोदर· सोदरशब्दोऽत्र प्रस्तावत्तादृशार्थः । २. नदीनां गङ्गादीनां ह्रदाः पद्मह्रदादयस्तेषामुदरं मध्यस्थजलप्रदेशस्तदिव यः सः तत्सदृशः संसारः अत्र लुप्तोत्प्रेक्षावाचि पदं ज्ञेयं यथाग्निर्माणवकः । ३. मध्यात् । ४. अत्रुटितया । ५. गच्छन्ति ।

' निर्गत्य '—निःसृत्य, ' नदीप्रवाहाः '—नदीनां धाराः, ' महोदधौ '—समुद्रे, ' पतन्ति '—पतनं कुर्वन्ति, परन्तु ' नदीहृदाः '—नदीपद्महृदादयः, ' रिक्ताः '—शून्याः, जलहीना इत्यर्थः, ' नैव भवन्ति '—न जायन्ते, ' अम्बुधिः '—समुद्रश्च, ' कर्हिचित् '—कदापि, ' पूर्णः '—भृतः, ' नास्ति '—न भवति, कुतः ? इत्याह—नदीप्रवाह इत्यादि ' यत् '—यस्मात् कारणात्, ' नदीप्रवाहोऽपि '—नदीनां धाराऽपि, ' निरन्तरं '—सततं, ' अविच्छिन्नतया '—अत्रुटिततया, ' अतिशीघ्रम् '—अतिक्षिप्रेण, वहति, यदि नदीहृदा रिक्ता भवेयुरंबुधिर्वा पूर्णः स्यात्तर्हि नदीप्रवाहोऽतिशीघ्रं निरन्तरमविच्छिन्नतया च न वहेदितिभावः, दृष्टान्तं दार्ष्टान्ते घटयति, इत्थमित्यादिना ' ही 'ति निश्चये, ' सागरान्तः '—समुद्रमध्ये, ' नदीप्रवाहा इव '—नदीनां धारा इव, ' भव्याः '—भव्यजीवाः, ' इत्थम् '—उक्तप्रकारेण, ' मुक्तौ '—मोक्षे, ' परियन्ति '—गच्छन्ति, यथा नदीप्रवाहाः समुद्रमध्ये यान्ति तथैव भव्या अपि मुक्तौ यान्तीतिभावः । ' एषः '—उक्तः संसारः, ' हृदवत् '—हृद इव, ' रिक्तः '—शून्यः, न भवति, यथा नदीप्रवाहं वहतेऽपि हृदा रिक्ता न भवन्ति तथैव भव्यानां मुक्तौ गमनेऽपि एष संसारो रिक्तो न भवतीतिभावः । ' पयोधिवत् '—समुद्र इव, ' मुक्तिः '—सिद्धालयोऽपि, ' भृता '—पूर्णा, नैव भवति, यथा सततं नदीप्रवाहपतनेऽपि समुद्रः पूर्णो न भवति तथैव सततं भव्यगमनेऽपि मुक्तिः पूर्णा न भवतीतिभावः ॥ ४–६ ॥

मूलम्—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरितीदं, साम्यं समालोचयतां नराणां।
भवेत्प्रतीतिः परमार्हताना[1]-मर्हद्वचस्येव न चापरत्र[2] ॥ ७ ॥

---

१. परमजैनानां । २. मिथ्यावाक्यवति ।

टीका—उक्तविषये कस्य विश्वासः स्यादित्याह–दृष्टान्तेत्यादिना ' दृष्टांतदार्ष्टांतिकयोः '–दृष्टान्तदार्ष्टांतसम्बंधि, ' इतीदम् '–इत्येतत्, पूर्वोक्तमित्यर्थः, ' साम्यं '–समत्वं, ' समालोचयतां '–विचारयताम्, ' परमार्हतानां '–परमजैनानां, ' नराणां '–मनुष्याणां, ' अर्हद्वचस्येव '–सर्वज्ञवचन एव, ' प्रतीतिः '–विश्वासः, भवति, ' अपरत्र '–अपरस्मिन् मिथ्या-वाक्यवतीत्यर्थः, ' न च '–नैव प्रतीतिर्भवति ॥ ७ ॥

मूलम्—अन्योऽपि दृष्टान्त इहोच्यतेऽय–माकर्णनीयो विदितप्रमाणैः ।

यथा हि कश्चित्प्रतिभान्वितः[1] स–न्नाजन्ममृत्यू[2]द्भवमात्मशक्त्या ॥ ८ ॥

हिन्दूकषड्दर्शनपार[3]शीक–शास्त्राणि सर्वाणि पठंस्त्रिलोक्याः ।

असङ्ख्यमायुर्निवहन्नपीह, हृदस्य पूर्णं न भवेत्कदाचित् ॥ ९ ॥

शास्त्राक्षरैरप्यथ योजनैवं, यथैव शास्त्राणि भ[4]वस्तथाऽयं ।

भवन्ति शास्त्राक्षरवद्वि[5]मुक्ताः, सुबुद्धिवक्षोवदियं हि सिद्धिः ॥ १० ॥

अश्रान्ततत्पाठ[6]वदेव मुक्ति–मार्गो वहन्नस्ति निरन्तरायः ।

शास्त्रेष्वधीतेषु न शास्त्रनाश–स्तथैव सिद्धेषु[7] भ[8]वस्य नान्तः ॥ ११ ॥

---

१. अतिशयवती बुद्धिस्तया युक्त । २. जन्मन आरभ्य मरणं यावत् । ३. यावन । ४. संसारः । ५. सिद्धाः । ६. सुबुद्धि-पुरुषविधायमान पाठ इव । ७. सर्वभव्यजीवेषु सिद्धिं गतेषु । ८. भवस्यार्थात्संसारस्थभव्यजीवस्य ।

टीका—दृष्टान्तरमभिधातुकाम आह–अन्योऽपीत्यादि ' इह '–अस्मिन् विषये, ' अन्योऽपि '–द्वितीयोऽपि, ' दृष्टान्तः '–निदर्शनं, ' उच्यते '–कथ्यते मया, ' अयम् '–एष दृष्टान्तः, ' विदितप्रमाणैः '–विदितानि–ज्ञातानि प्रमाणानि–सम्यग् ज्ञानानि येषां ते तथा तैः प्रमाणज्ञातृभिरितिभावः, ' आकर्णनीयः '–श्रोतव्यः, दृष्टान्तमेव दर्शयति–यथा हीत्यादिना ' ही 'ति निश्चये चरणपूर्त्तौ वा, ' यथा '–येन प्रकारेण, ' प्रतिभान्वितः सन् '–अतिशयवत्या धिया युक्तः सन्, ' कश्चित् '–कोऽपि जनः, ' आजन्ममृत्यूद्भवं '–जन्मन आरभ्य मरणं यावत्, ' आत्मशक्त्या '–स्वसामर्थ्येन, हिन्दूकेत्यादि ' हिन्दूकानां '–हिन्दूपदवाच्यानां, ' षड्दर्शनानि '–षट्शास्त्राणि–न्यायवैशेषिकसांख्ययोगपूर्वमीमांसोत्तरमीमांसाख्यानि, ' पारशीकानां '–यवनानां शास्त्राणि, तथा ' त्रिलोक्याः '–त्रिभुवनस्य, ' सर्वाणि '–निखिलानि शास्त्राणि, ' पठन् '–अधीयानः स्यात्, ' इह '–अस्मिन् शास्त्राध्ययने, ' असंख्यम् '–अगणनीयम्, ' आयुः '–जीवनकालं, ' वहन्नपि '–व्यतीतं कुर्वन्नपि स्यात्, तथा ' अस्य '–शास्त्राध्ययनकर्तुः, ' हृत् '–हृदयं, ' कदाचित् '–कदापि, ' शास्त्राक्षरैः '–शास्त्रवर्णैः, ' पूर्णं '–भृतं, ' न भवेत् '–न भवति, अप्यथेति एतदनंतरं उक्तदृष्टान्तकथनानंतरमित्यर्थः, दार्ष्टान्ते ' योजना '–संघटनम्, ' एवं '–वक्ष्यमाणप्रकारेण अस्ति, दार्ष्टान्ते योजनामेवाह–यथैवेत्यादिना ' एव ' शब्दोऽवधारणे, ' यथा '–येन प्रकारेण, शास्त्राणि सन्ति ' तथा '–तेनैव प्रकारेण, ' अयं '–प्रस्तूयमानः, ' भवः '–संसारोऽस्ति, ' विमुक्ताः '–सिद्धाः, ' शास्त्राक्षरवत् '–शास्त्राक्षरसमानाः, ' भवन्ति '–विद्यंते, ' ही 'ति निश्चये, ' सिद्धिः '–मुक्तिः, ' सुबुद्धिवक्षोवत् '–सुष्ठु बुद्धियुक्तजनस्य हृदयमिव, अस्ति, ' मोक्षमार्गः '–मुक्तेः पंथाः, ' निरन्तरायः '–अंतरायरहितः, निर्विघ्न इतिभावः, ' अश्रान्ततत्पाठवदेव '–निरन्तरतज्जनपाठसमान

एव, 'वहन्नस्ति'–प्रवहनं कुर्वन् विद्यते, फलितमाह–शास्त्रेष्वित्यादिना 'शास्त्रेषु' 'अधीतेषु'–पठितेषु सत्सु, यथा 'शास्त्रनाशः'–शास्त्रस्यापायः, न भवति 'तथैव'–तेनैव प्रकारेण, 'सिद्धेषु'–सिद्धिं गतेषु, सर्वभव्यजीवेषु, 'भवस्य'–संसारस्य, 'अंतः'–नाशो न भवति। सुबुद्धिमतो जनस्य सर्वशास्त्रपठनेऽपि यथा शास्त्राक्षरैरस्य हृदयं पूर्णं न भवति तथैव सततं मुक्तिमार्गवहनेऽपि मुक्तिः पूर्णा न भवति, शास्त्राक्षरगमनेऽपि यथा शास्त्रस्य नाशो न भवति तथैव भव्यजीवगमनेऽपि संसारस्य नाशो न भवतीत्यर्थः ॥ ८–११ ॥

मूलम्—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावनेयं, विज्ञैः स्वयं चेतसि चिन्तनीया।
एवं ह्यनेकेऽभिनिषन्ति भूयो, दृष्टान्तसङ्घा अपरेऽपि योज्याः ॥ १२ ॥

टीका—उपसंहरति दृष्टान्तेत्यादिना 'इयं'–पूर्वोक्ता, 'दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावना'–दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकसंबंधिनी विचारणा, 'विज्ञैः'–पंडितैर्जनैः, 'चेतसि'–चित्ते, 'स्वयं'–स्वत एव, 'चिंतनीया'–विचारणीया, 'ही'ति निश्चये, 'एवम्'–उक्तप्रकारेण, 'भूयः'–पुनः, 'अनेके'–बहवः, 'अपरेऽपि'–अन्येऽपि, 'दृष्टान्तसङ्घाः'–दृष्टान्तसमूहाः, 'अभिनिषन्ति'–विद्यन्ते, 'योज्याः'–उक्तविषये घटनीयाः ॥ १२ ॥

संसारशून्यता–मोक्षाभरणतादृष्टान्तोक्तिलेशः
सप्तमोऽधिकारः समाप्तः

||

॥ अथ अष्टमोऽधिकारः ॥

परब्रह्मणः स्वरूपं श्लोकसप्तकेनाह—

मूलम्—स्वामिन्[1] ! परब्रह्म किमुच्यते तत्, लीनं जगद्यत्र भवेद्युगान्ते ।
तदेव[2] हेतुः पुनरेव सृष्टेः, स्यादीदृशं केन गुणेन वाच्यम् ? ॥ १ ॥

टीका—इदानीं ब्रह्मविषये प्रश्नयति स्वामिन्नित्यादिना 'स्वामिन् !'–हे प्रभो !, ब्रह्मवादिनो जैनं प्रत्युक्तिः, 'यत्र'–यस्मिन्, 'युगान्ते'–युगानामवसाने, 'जगत्'–संसारः, 'लीनं'–लयप्राप्तं, 'भवेत्'–भवति, तत् 'परब्रह्म'–उत्तमं ब्रह्म, 'किमुच्यते'–किं कथ्यते ?, तदेवेत्यादि एक 'एव' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, पुनः, 'तदेव'–ब्रह्मैव, 'सृष्टेः'–सर्जनकार्यस्य, 'हेतुः'–कारणं, 'स्यात्'–भवेत्, 'ईदृशम्'–उक्तप्रकारकम् ब्रह्म, 'केन गुणेन' 'वाच्यम्'–कथनीयमस्ति ॥ १ ॥

मूलम्—निशम्यतामार्य ! मनीषिणामपि, सिद्धान्तवेदान्तविचारवेदिनाम् ।
स्वरूपमेतस्य[3] निवेदितुं यतो, वाचः स्फुरन्तीह न चर्मचक्षुषाम् ॥ २ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–निशम्यतामित्यादिना 'आर्य !'–हे श्रेष्ठ !, 'निशम्यताम्'–श्रूयताम्, उक्तप्रश्नस्य प्रतिवचन-

१. अथ ब्रह्मवादी जैनं प्रति ब्रह्मस्वरूपं पृच्छति । २. पुनस्तदेव सृष्टेः सर्जनकार्यस्य कारणं स्यादित्युच्यते । ३. ब्रह्मणः ।

माकर्ण्यतामितिभावः, ' स्वरूपम् ' ' निवेदितुं '–कथयितुं, ' मनीषिणामपि '–विचारशीलानामेव, ' अपि ' शब्द एवकारार्थः, ' वाचः '–गिरः, ' स्फुरन्ति '–स्फुरणं कुर्वन्ति, कथंभूतानां मनीषिणाम् ? इत्याह–सिद्धान्तेत्यादि ' सिद्धान्तवेदान्तविचारवेदिनाम् '–सिद्धान्तस्य यो वेदो–ज्ञानं तस्यांतः सारस्तस्य यो विचारः–परामर्शस्तद्वेदिनां–तद् ज्ञातृणाम्, सिद्धान्तज्ञानतत्त्वविचारज्ञातृणामितिभावः, ' इह '–अस्मिन् विषये, परब्रह्मस्वरूपवर्णन इत्यर्थः, ' चर्मचक्षुषां '–चर्मदृष्टीनां, न वाचः स्फुरन्ति ॥ २ ॥

मूलम्—ये योगिनो[1] निर्मलदिव्यदृष्टय–श्च[2]राचराचारविवेकचिन्तकाः ।
लब्धाष्टसिद्धिप्रथना हि तेऽप्यहो !, विचारयन्तो न[3] हि पारमिय्रति ॥ ३ ॥
तथापि ये लोक[4]विलोकनक्षमाः, सर्वार्थयाथार्थ्य[5]समर्थनार्थनाः ।
सत्केवलज्ञानविशिष्टदृष्टयो, नीरागिणोऽन्योपकृतौ परायणाः ॥ ४ ॥
ते त्वीदृशं ब्रह्म परं न्यवेदयन्, निर्विक्रियं निष्क्रियमप्रतिक्रियम् ।
ज्योतिर्मयं चिन्मयमीश्वराभिध–मानंदसान्द्रं जगतां निषेवितम् ॥ ५ ॥

---

१. योगाभ्यासकर्त्तारः । २. जङ्गमस्थावर । ३ एतस्य ब्रह्मणः । ४. चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकदर्शनसमर्थाः । ५. सर्वे येऽर्थाः पदार्था द्रव्याणीति यावत् तेषां यत् याथार्थ्यं सत्यता तस्य समर्थनं सम्पादनं तस्यार्थनं प्रार्थनं येभ्यस्ते ।

निर्माय[1]ऽनिर्मोहमहंकृतिच्युतं, सम्यग्निराशंसमनीहितार्चनम्[2] ।
महोदयं निर्गुणम्[3]अप्रमेयकं, पुनर्भवप्रोज्झितमक्षरं यतः ॥ ६ ॥
विभु[4] प्रभावत्परमेष्ठ्यनन्तकं, निर्मत्सरं रोधविरोधवर्जितम् ।
ध्यानप्रभावोत्थितभक्तनिर्वृति, निरञ्जनानाकृति[5] शाश्वतस्थिति ॥ ७ ॥

टीका—उक्तविषयस्य काठिन्यं दर्शयितुमाह—ये योगिन इत्यादि ' ये योगिनः '—योगाभ्यासकर्तारः सन्ति, कथंभूता योगिनः ? ' निर्मलदिव्यदृष्टयः '—निर्मला—मलरहिता दिव्या—श्रेष्ठा दृष्टिर्येषां ते तथा, यद्वा मलस्याभावो निर्मलं तेन दिव्या दृष्टिर्येषां ते तथेति बोध्यम्, पुनः कथंभूताः ? ' चराचराचारविवेकचिन्तकाः '—चराचरस्य—स्थावरजंगमस्य य आचारो व्यवहारस्तस्य विवेको—विचारो भेदो वा तस्य चिन्तकाः विचारकर्त्तारः स्थावरजंगमरूपसंसारव्यवहारभेदचिन्तका इतिभावः, पुनश्च कथंभूताः ? ' लब्धाष्टसिद्धिप्रथनाः '—लब्धाः प्राप्ता या अष्टसिद्धयोऽणिमादयस्ताभिः प्रथनं—प्रख्यातिर्येषां तथा प्राप्ताभिरष्टभिः सिद्धिभिर्विख्याता इत्यर्थः, 'ही' ति निश्चये, 'ते'—योगिनोऽपि, 'अहो'—इति विस्मये, 'एतस्य'—ब्रह्मणः स्वरूपम्, ' विचारयन्तः '—चिन्तयंतः यद्यपि ' हि ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' पारम् '—अन्तं, 'न इय्रति'—न गच्छन्ति, ' तथाऽपीति'—उक्तविध—योगिनां परब्रह्मस्वरूपांतगमनेऽपीत्यर्थः, 'ये लोकविलोकनक्षमाः'—चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकदर्शनसमर्थाः, पुनः 'सर्वार्थयाथार्थ्य-समर्थनार्थनाः '—सर्वे येऽर्थाः-पदार्थास्तेषां यद्याथार्थ्य—सत्यता तस्य समर्थनं सम्पादनं तस्यार्थनं—प्रार्थनं येभ्यस्ते तथा, पुनः

१. निःस्पृहं । २. अवाञ्छितपूजनं । ३. सत्त्वादिगुणत्रयरहितं । ४ व्यापकं । ५ अनाकारं ।

'सत्केवलज्ञानविशिष्टदृष्टयः'–सत् श्रेष्ठं यत् केवलज्ञानं तेन विशिष्टा युक्ता दृष्टिर्दर्शनं येषां ते तथा, पुनः 'नीरागिणः'–रागरहिताः, पुनश्च 'अन्योपकृतौ परायणाः'–परोपकारे तत्पराः सन्ति, उक्तगुणविशिष्टा ये सर्वज्ञाः सन्तीतिभावः, ते तु 'ईदृशं'–वक्ष्यमाणस्वरूपम्, ब्रह्म परं 'न्यवेदयन्'–कथितवन्तः, किं स्वरूपमित्याह–निर्विक्रियमित्यादि 'निर्विक्रियं'–विकाररहितम्, पुनः कथंभूतं ? 'निष्क्रियं'–क्रियारहितम्, पुनः कथंभूतम्? 'अप्रतिक्रियम्'–प्रतीकाररहितम्, दुःखाद्यभिभूतत्वे सति यदर्थं प्रतीकारस्यावश्यकता न भवतीत्यर्थः, पुनः कथंभूतं ? 'ज्योतिर्मयं'–प्रकाशस्वरूपम्, पुनः कथंभूतं ? 'चिन्मयं'–ज्ञानस्वरूपम्, पुनः कथंभूतम् ? 'ईश्वराभिधम्'–ईश्वरनामकम्, पुनः कथंभूतम् ? 'आनंदसांद्रम्'–आनन्दः सान्द्रो निरन्तरं यस्य तत् आनंदविशिष्टमितिभावः, पुनः कथंभूतं ? 'जगता निषेवितम्'–जगद्वर्तिप्राणिभिः सेवितम्, पुनः कथंभूतं ? 'निर्मायनिर्मोहम्'–मायया रहितं, मोहेन च रहितम्, पुनः कथंभूतं ? 'अहंकृतिच्युतम्'–अहंकृत्या अहंकाराच्युतं पृथग्भूतम् अहंकाररहितमितिभावः, पुनः कथंभूतं ? 'सम्यग्निराशंसम्'–अतिशयेन निःस्पृहम्, पुनः कथंभूतम् ? 'अनीहितार्चनम्'–अनीहितमनभिलषितमर्चनं–पूजनं येन तत् तथा पूजाभिलाषरहितमितिभावः, पुनः कथंभूतं ? 'महोदयं'–महानुदयो यस्य तत्तथा, पुनः कथंभूतं ? 'निर्गुणम्'–गुणैः रहितम्, सत्त्वादिगुणत्रयविरहितमितिभावः, पुनः कथंभूतम् ? 'अप्रमेयकम्'–प्रमातुमयोग्यम् अज्ञेयमित्यर्थः, पुनः कथंभूतं ? 'पुनर्भवप्रोज्झितम्'–पुनर्भवेन–पुनर्जन्मना प्रोज्झितं–रहितम्, पुनर्भवप्रोज्झितत्वे हेतुमाह–यतोऽक्षरमिति 'यतः'–कारणात्, 'अक्षरम्'–अविनाशि वर्तते, अतः पुनर्भवप्रोज्झितमस्तीतिभावः, पुनः कथंभूतं ? 'विभु'–व्यापकम्, पुनः कथंभूतं ? 'प्रभावत्'–कान्ति-

युक्तम्, पुनः कथंभूतम् ? ' परमेष्ठि '–परमपदे स्थितम्, पुनः कथंभूतम् ? ' अनन्तकम् '–अन्तरहितम्, पुनः कथंभूतं ? ' निर्मत्सरं '–मात्सर्यदोषरहितम्, पुनः कथंभूतं ? ' रोधविरोधवर्जितम् '–रोधो–अनुरोधो विरोधो–विद्वेषस्ताभ्यां वर्जितम्–रहितम् रागद्वेषविहीनमितिभावः, पुनः कथंभूतम् ? ' ध्यानप्रभावोत्थितभक्तनिर्वृति '–ध्यानस्य प्रभावेन उत्थिता–उत्पन्ना भक्तानां निर्वृतिः सुखं यस्मात् तत् ध्यानप्रभावेन भक्तसुखोत्पादकमितिभावः, पुनः कथंभूतं ? ' निरंजनानाकृति '–निरंजनम्–अनाकारश्चेत्यर्थः, पुनश्च कथंभूतम् ? ' शाश्वतस्थिति '–शाश्वतं निरन्तरं स्थितिर्यस्य तत्तथा ॥ ३–७ ॥

परब्रह्मणः सृष्टिरचनां तत्रैव प्रलयानुपपत्तिं च त्रिंशच्छ्लोकैराह—

मूलम्—एवंविधं ब्रह्म तदेव तत्कथं, हेतुर्भवेत्सृष्टिकुलालकर्मणि ।
प्रयोजको ब्रह्मण एव नास्ति य–त्स्वस्मिन्गतत्वात्सकलस्य वस्तुनः ॥ ८ ॥

टीका—इदानीं ब्रह्मणः सृष्टिकारणत्वं परिहर्तुमाह–एवंविधमित्यादि ' ब्रह्म ' ' एवंविधमेव '–उक्तप्रकारकमेवास्ति, ' तत् '–तस्मात् कारणात्, तद् ' ब्रह्म '–सृष्टिः, ' कुलालकर्मणि '–सर्जनरूपं यत्कुलालकर्म कुम्भकारक्रिया, तत्र ' हेतुः '–कारणं, ' कथं '–केन प्रकारेण, ' भवेत् '–भवितुं शक्नुयात्, उक्तप्रकारकं ब्रह्मसृष्टिरूपकुलालकर्मणि हेतुर्न भवितुं शक्नोतीतिभावः, यदि स्वयं सर्जनं न करोति तर्ह्यन्यप्रेरितं कुर्यादित्याशंकामपि परिहर्तुमाह–प्रयोजक इत्यादि ' ब्रह्मणः ' ' प्रयोजक

१. सर्जनरूपं यत्कुलालकर्म कुम्भकारक्रिया तत्र । २. ये तु परब्रह्म कर्तृ वदन्ति तेषां मते सर्वाणि कालस्वभावनियत्यादीनि अपि ब्रह्मगतान्येव सन्ति, तस्य ब्रह्मणः कालादि. कश्चिदन्यः पदार्थो नास्ति यो ब्रह्मप्रति सर्जनसंहारे च प्रेरयति ।

एव '—प्रेरणकारकोऽपि एव शब्दोऽपि शब्दार्थः, 'नास्ति '—न विद्यते, अत्र हेतुमाह—यदित्यादिना 'यत् '—यस्मात् कारणात्, 'सकलस्य '—सर्वस्य, 'वस्तुनः '—पदार्थस्य कालादेरित्यर्थः, 'स्वस्मिन् '—आत्मनि, 'गतत्वात् '—स्थितत्वात्, ये परब्रह्म कर्तृ वदन्ति तन्मते सर्वाणि कालस्वभावादीनि वस्तूनि ब्रह्मगतान्येव सन्ति, तथा च सति तस्माद् ब्रह्मणः कालादिः क्वचिदन्यः पदार्थ एव नास्ति यो ब्रह्म सर्जने संहारे च प्रेरयेदितिभावः ॥ ८ ॥

मूलम्—कुर्याद्यदीदं[1] जगतां हि सर्जनं, तदेदृशं केन[2] करोति विष्टपम् ।
जन्मात्ययव्याधिकषायकैतव—कन्दर्पदौर्गत्यभियाभिराकुलम् ॥ ९ ॥
परस्परद्रोहिविपक्षलक्षितं, दुःश्वा[3]पदव्याल[4]सरीसृपालि[5]कम् ।
साखेटिकैर्मैनिकसौनिकैश्चितं, दुश्चोरजारादिविकारपीडितम् ॥ १० ॥
कस्तूरिकाचामरदन्तचर्मणे, सारङ्गधेनुद्विपचित्रकान्तकम्[6] ।
दुर्मारिदुर्भिक्षकविड्वरादिकं, दुर्जातिदुर्योनिकुकीटपूरितम् ॥ ११ ॥
अमेध्यदौर्गन्ध्यकलेवराङ्कितं, दुष्कर्मनिर्मापणमैथुनाश्रितम् ।

---

१. यदीदमपि ब्रह्म निःक्रियनिरञ्जनाद्युक्तानेकविशेषणविशिष्टं सृष्टिं कुर्यादिति भवतां विधिरस्ति तर्हि भवतां ब्रह्म स्वस्वरूपाद्विपरीतां सृष्टिं कथं करोतीत्युदाहरति सप्तवृत्तैः । २. कारणेन । ३ व्याघ्र । ४. दुष्टगज । ५. वींछी । ६. नाशकम् ।

समाश्रयद्धातुकृताङ्गिपुद्गलं, सनास्ति[2]कं सर्वमुनीशै[3]र्निन्दितम् ॥ १२ ॥

कियत्स्वकीयाह्वयबद्धवैरं, कियत्स्वपूजाप्रवणाङ्गिजातम् ।
नानात्महिन्दूकतुरुष्कलोकं, कियत्परब्रह्मनिरासहासम् ॥ १३ ॥

षड्दर्शनाचारविचारडम्बरं, प्रचण्डपाषण्डघटाविडम्बनम् ।
सत्पुण्यपापोत्थितकर्मभोगदं, स्वर्गापवर्गादिभवान्तरोदयम् ॥ १४ ॥

वितर्कसम्पर्ककुतर्ककर्कशं, नानाप्रकाराकृतिदेवतार्चनम् ।
वर्णाश्रमाचीर्णपृथक्पृथग्वृषं, सद्रव्यनिर्द्रव्यनरादिभेदभृत् ॥ १५ ॥

॥ सप्तभिः कुलकम् ॥

---

१. शरीरं । २. नास्तिका हि कर्त्तारं न मन्यन्ते तर्हि सृष्टिकर्त्तुस्तद् ज्ञानं नासीद्यदमी ममैव विलोपका भविष्यन्ति न चात्र पितापुत्रविचारो वाच्यः पिता तु इन्द्रियपरवशो ज्ञानी अनायतिज्ञो यथातथा पुत्रकर्मणि प्रवर्ततां परब्रह्म तु निर्विकारं सज्ञानं चेति स्वसृष्टिनिह्नवान् कथं नाम करोतीति अथ च तस्य रागद्वेषौ न स्तस्तर्हि सृष्टिसंहारौ कथं करोतीति विचार्यमाणं विशीर्यते इति सम्यग्ध्येयम् । ३. यदि ब्रह्मणा सृष्टिः कृता तर्हि मुनीशा योगिनोऽपि ब्रह्मणैव कृतास्तर्हि ते परब्रह्मचिन्तकाः सन्तः सकलं संसारस्वरूपं परब्रह्मकृतं असारं ज्ञात्वा कथं निन्दयन्तीति विचार्य्यम् । ४. ब्रह्म । ५. ब्रह्म । ६. चत्वारः । ७. चत्वारः । ८ धर्मं ।

टीका—ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे दोषमाह–कुर्यादित्यादिना ' यदीदम् '–उक्तविशेषणविशिष्टमपि ब्रह्म, ' ही 'ति निश्चये चरणपूर्त्तौ वा, ' जगतां '–चराचराणां, ' सर्जनं '–सृष्टिं, ' कुर्याद् '–विदध्यात्, ' तदा '–तर्हि, 'ईदृशं'–एवंविधं, 'विष्टपं'–जगत्, ' केन '–कारणेन, ' करोति '–विदधाति, ईदृशशब्दोऽत्र वैपरीत्यद्योतकस्तेन विपरीतं जगत् कस्माद्धेतोः करोतीत्यर्थोऽवगंतव्यः, कथंभूतं जगत् ? इत्याह–जन्मात्ययेत्यादि ' जन्म '–उत्पत्तिः, ' अत्ययः '–नाशः, ' व्याधयः '–रोगाः, 'कपायाः'–क्रोधादयः, ' कैतवं '–छद्म, ' कंदर्पः '–कामः, ' दौर्गत्यम् '–दुर्गतिः, इत्येतेषां भयेन ' आकुलम् '–व्याकुलितम्, भियाभिराकुलमिति चिन्त्यं पदम्, भिया समाकुलमिति पाठः साधु प्रतिभाति, पुनः कथंभूतं ? ' परस्परद्रोहिविपक्षलक्षितं '–परस्परं ये द्रोहिणः–द्रोहकर्तारोऽत एव विपक्षाः–शत्रुभूतास्तैर्लक्षितमंकितम्, पुनः कथंभूतं ? ' दुःश्वापदव्यालसरीसृपालिकम् '–दुष्टाः श्वापदा व्याघ्रादयो दुष्टश्वापदादियुक्तमित्यर्थः, पुनः कथंभूतं ? ' साखेटिकैः,–आखेटकर्तृभिः, ' मैनिकनिकैः '–जातिविशेषैः, ' चितं '–व्याप्तम्, पुनः कथंभूतं ? ' दुश्चोरजारादिविकारपीडितम् '–दुष्टा ये चोराः–स्तेनाः जारा–व्यभिचारिण इत्यादीनां ये विकारा–उपद्रवास्तैः पीडितमाकुलम्, पुनः कथंभूतं ? कस्तूरिकेत्यादि ' कस्तूरिका '–मृगमदः, ' चामरं '–प्रकीर्णकम्, ' दंताः '–रदाः, 'चर्म'–अजिनम्, एतेभ्यः, 'सारंगः'–मृगः, 'धेनुः'–गौः, 'द्विपः'–हस्ती, 'चित्रकः'–व्याघ्रः, इत्येतेषामंतो यत्र तत्तथा पुनः कथंभूतं ? दुर्मारीत्यादि 'दुर्मारिः'–मारिरोगः, 'दुर्भिक्षकम्'–सस्याभावः, 'विड्वरं'–संदिग्धं परम् इत्यादीनि विद्यन्ते यस्मिंस्तत्, पुनः कथंभूतं ? दुर्जातीत्यादि ' दुर्जातीयः '–दुष्टजातिकाः, ' दुर्योनिकाः '–दुष्टयोनियुक्ताः, 'कुकीटाः'–क्षुद्रकीटाः, एतैः ' पूरितम् '–व्याप्तम्, पुनः कथंभूतं ? अमेध्येत्यादि ' अमेध्यं '–मलम्, 'दौर्गन्ध्यं'–दुर्गन्धः, ' कलेवरं '–

शरीरम्, एतैः 'अङ्कितम्'—लक्षितम्, यद्वा अमेध्यदौर्गन्ध्याभ्याम् युक्तं यत् कलेवरं तेनांकितम्, पुनः कथंभूतम्? 'दुष्कर्मनिर्मापणमैथुनाञ्चितम्'—दुष्कर्मणां—पापकर्मणां निर्मापण—कारणम् एतादृशं यद् मैथुनं—सुरतं तेन अञ्चितं—युक्तम्, 'समाश्रयद्धातुकृताङ्गिपुद्गलं'—समाश्रयन्तः—सम्मिलन्तो ये धातवः—सप्तधातवः, तैः कृतानि—विधत्तानि, अङ्गिपुद्गलानि—प्राणिशरीराणि यस्मिन् तत्, पुनः कथंभूतम्? 'सनास्तिकं'—नास्तिकैः सहितं, पुनः कथंभूतम्? 'सर्वमुनीशनिंदितम्'—सर्वैर्मुनिराजैर्गर्हितम्, यदि ब्रह्मणा सृष्टिः कृता तर्हि मुनीशा अपि तेनैव कृतास्तदा ते परब्रह्मचिन्तकाः सन्तः सकलं संसारस्वरूपं परब्रह्मकृतमसारं ज्ञात्वा कथं निन्दन्तीति विचार्यमित्यर्थः, पुनः कथंभूतम्? कियदित्यादि कियन्तः स्वकीयाह्वयेन स्वनाम्ना बद्धवैरा यस्मिंस्तत् यस्मिन्नेके ब्रह्मनाम्नि बद्धवैराः सन्तीत्यर्थः, पुनः कथंभूतम्? कियदित्यादि कियत् स्वपूजायां प्रवणं संलग्नमंगिजातं प्राणिसमूहो यस्मिंस्तत् यस्मिन्ननेके ब्रह्मपूजाप्रवणाः प्राणिगणाः सन्तीत्यर्थः, पुनः कथंभूतम्? नानात्मेत्यादि 'नानात्मानः'—नानाप्रकाराः, 'हिन्दूकाः'—हिन्दूपदवाच्याः, 'तुरुष्काः'—यवना लोका यस्मिंस्तत्, पुनः कथंभूतम्? कियदित्यादि कियन्तः परब्रह्मणो निरासे खण्डने ह्रासे च यस्मिंस्तत् यस्मिन्ननेके परब्रह्मखण्डनकर्त्तारस्तदुपहासकर्त्तारश्च सन्तीत्यर्थः, पुनः कथंभूतम्? 'षड्दर्शनाचारविचारडम्बरं'—षड्दर्शनानां सांख्यादीनां य आचारः—व्यवहारस्तस्य डंबरः—संभारो यस्मिंस्तत्, पुनः कथंभूतम्? प्रचण्डेत्यादि 'प्रचण्डाः'—प्रबलाः, ये 'पाखंडिनः'—सर्वलिंगिनस्त एव घटास्तैर्विडम्बनं—गर्हा यस्मिंस्तत्, पुनः कथंभूतम्? सत्पुण्येत्यादि—सत्पुण्येन पापेन चोत्थितमुत्पन्नं यत्कर्म तस्य भोगस्तस्य दायकम्, पुनः कथंभूतम्? स्वर्गापवर्गेत्यादि 'स्वर्गापवर्गादीनां'—भवान्तराणामुदयो यस्मिंस्तत्, पुनः कथंभूतम्?

वितर्केत्यादि–वितर्कस्य सम्पर्कः–संयोगो यत्रैवंभूतेन कुतर्केण कर्कशं–कठोरं, पुनः कथंभूतम् ? नानेत्यादि–नानाप्रकारकृतीनामनेकविधाकाराणां देवतानामर्चनं–पूजनं यत्र तत्, पुनः कथंभूतम् ? वर्णाश्रमेत्यादि वर्णा ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनामाचीर्ण आचरितः पृथक् पृथक् वृषः–धर्मो यत्र तत्, पुनः कथंभूतम् ? सद्रव्येत्यादि–सद्रव्यनराः–धनिजनाः, निर्द्रव्यनराः–धनहीनजना इत्यादिभेदान् बिभर्त्ति यत्तत् ॥ ८–१५ ॥

मूलम्—अनेन किं पल्लवितेन येन, यद् दृश्यते तद् विपरीतमेव ।
कार्ये पुनः कारणजा गुणाः स्यु–र्विद्वांस एवं निगदन्ति तज्ज्ञाः ॥ १६ ॥

टीका—जगतो वैपरीत्यविषय एव पुष्टिमाह–अनेनेत्यादिना 'अनेन'–एतेन, 'पल्लवितेन'–विस्तरेण, 'किम्'–प्रयोजनमस्ति, 'येन'–कारणेन, 'यद्'–वस्तु, 'दृश्यते'–अवलोक्यते, जगति 'तद्'–वस्तु, 'विपरीतमेव'–विरुद्धमेव दृश्यते, ब्रह्मणोऽकर्तृत्वे पुष्टिमाह–कार्य इत्यादिना पुनः 'तज्ज्ञाः'–तत्त्वज्ञानिनः, 'विद्वांसः'–विपश्चितः, 'एव'मिति, 'निगदन्ति'–कथयन्ति, 'कार्ये'–कृत्ये, 'कारणजाः'–कारणस्थाः, 'गुणाः'–धर्माः, 'स्युः'–भवन्ति, कारणगुणाः कार्ये भवन्तीतिभावः, यदि जगतः कारणं ब्रह्म तर्हि जगति ब्रह्मगता गुणाः स्युर्न च सन्ति तेन न जगद् ब्रह्मकृतमित्याशयः ॥१६॥

मूलम्—यदत्र दृश्यं किल वस्त्वनित्यं, तद्ब्रह्मणो जातमिदं हि सृष्टौ ।
तद्योगिनः केन विहाय शीघ्रं, जुगुप्स्यमेतद् वृणते विरागम् ॥ १७ ॥

१. संसारे । २. सर्वं वस्तु । ३. सर्गकाले । ४. वस्तु ।

टीका—उक्तविषय एव पुष्टिमाह—यदत्रेत्यादिना ' अत्र '–अस्मिन् संसारे, ' किले 'ति निश्चये, ' अनित्यं '–विनाशि, वस्तु ' दृश्यं '–द्रष्टुम् योग्यमस्ति, ' तदिदम् '–पूर्वोक्तमिदम् वस्तु, ' ही 'ति निश्चये, यदि 'सृष्टौ '–सर्जनकाले, ' ब्रह्मणः '–ब्रह्मणः सकाशात्, ' जातम् '–उत्पन्नमस्ति, ' तत् '–तर्हि, ' एतत् '–पूर्वोक्तम्, ' जुगुप्स्यं '–घृणा–योग्यं वस्तु, ' शीघ्रम् '–आशु, ' केन '–कारणेन, ' विहाय '–त्यक्त्वा, ' योगिनः '–योगाभ्यासकर्तारो मुनय इत्यर्थः, ' विरागं '–वैराग्यं, ' वृणते '–स्वीकुर्वन्ति, यदि सर्वं ब्रह्मणो जातमभविष्यत्तर्हि मुनयस्तच्छीघ्रं विहाय वैराग्यं नाग्रहीष्यन्नितिभावः ॥ १७ ॥

मूलम्—यद् द्वेषरागादिविरूपमुज्झ्यं, जगत्स्वरूपं वरयोगवद्भिः ।
तदेव सर्वं खलु ब्रह्मणैव, स्वस्मिन्कथं धार्यमहो युगान्ते ? ॥ १८ ॥

टीका—सर्वस्य ब्रह्मणो जातत्वे सति युगान्ते तस्मिन्नेव तल्लयो न संभवतीत्याह–यद् द्वेषेत्यादिना ' यत् '–जगत्स्वरूपं, संसारस्वरूपं, ' वरयोगवद्भिः '–श्रेष्ठयोगयुक्तैर्जनैः, ' उज्झ्यं '–त्याज्यमस्ति, कथंभूतम् जगत्स्वरूपम् ? ' द्वेषरागादिविरूपम् '–रागद्वेषादिभिर्विकृतम्, ' खल्वि'ति निश्चये, तदेव सर्वं ब्रह्मणैव, ' अहो '–इत्याश्चर्ये, ' युगान्ते '–युगस्य परिसमाप्तौ, ' स्वस्मिन् '–आत्मनि, ' कथं '–केन प्रकारेण, ' धार्यम् '–धर्तुं योग्यमस्ति, यद्रागद्वेषादिविकृतं ब्रह्मणो जातं जगद् योगिभिस्त्याज्यमस्ति तद्युगान्ते ब्रह्मणा स्वयमेव कथं धार्यं भवितुम् शक्नोतीतिभावः ॥ १८ ॥

मूलम्—तदा विवेकोऽस्ति न ब्रह्मरूपे–ऽसौ वा शुकाद्येषु न योगवत्सु ।
कार्यं च धार्यं च यदादिपुंसो, निन्द्यं च हेयं च तदन्यपुंसाम् ॥ १९ ॥

टीका—उक्तकार्ये 'वा'–अथवा, 'असौ'–विवेकः, 'योगवत्सु'–योगयुक्तेषु, 'शुकाद्येषु'–शुकादिमुनिषु, नास्ति, उक्तविषयमेव द्रढयति–योग्यम् अस्ति, एकश्चकारश्चरणपूर्त्तौ, 'तत्'–जगत्, 'अन्यपुंसाम्'–अन्यजनानाम्, शुकादीनाम् योगिनामित्यर्थः, 'निन्द्यं'–निन्दनीयम्, 'च'–पुनः, 'हेयं'–त्याज्यं, एकश्चकारश्चरणपूर्त्तौ, कथं भवितुम् शक्नोति ? ॥ १९ ॥

मूलम्—तद्ब्रह्मजा सृष्टिरथापि कल्प–स्तज्जो वदद्भिस्त्विति ब्रह्म मूढं ।
विज्ञाप्यते किं न च तैस्तथैषां, वान्ताहृतेर्ब्रह्मणि किं न दोषः ? ॥ २० ॥

टीका—युगान्ते जगतो ब्रह्मणि लीनत्वे दोषमाह–तद्ब्रह्मजेत्यादिना 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'सृष्टिः'–जगतो रचना, 'ब्रह्मजा'–ब्रह्मजनिता, 'अथापि'–अथ च, 'कल्पः'–प्रलयः, 'तज्जः'–ब्रह्मजातोऽस्ति, इत्येतद् 'वदद्भिः'–कथयद्भिः, 'तैः'–ब्रह्मवादिभिः, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, किं ब्रह्म, 'मूढं'–मूर्खं, 'न विज्ञाप्यते'–न सूच्यते, 'तथे'ति

---

१. शुकादिभिः । २. आदिपुरुषस्य पुराणपुरुषस्यार्थात्परब्रह्मनामनि । ३. शुकादीनां योगिनाम् । ४. ब्रह्मवादिभिः । ५. परब्रह्मादिकर्तृवादिनां । ६. यत्तु सृष्टिकाले स्वस्मात्सर्वं निष्काषितं तदा तु तत्सर्वं वान्तमिव पुनश्च संहृतिकाले सर्वस्यापि जगत आत्मनि संलीनीकरणाद्भक्षणमिवेति तेन सृष्टिकृता वान्ताहृतिदोषोऽपि न निवारितः ।

समुच्चये, ' एषाम् '–परब्रह्मकर्तृवादिनाम् मते, ब्रह्मणि किं, ' वान्ताहृतेः '–वान्ताहारस्य, दोषो न भवति, ये ब्रह्मकर्तृवादिनो जगत्सृष्टिं ब्रह्मजन्यां कल्पं च तज्जन्यं मन्यंते तैर्ब्रह्ममूढमस्तीति विज्ञापितमेव, तन्मते च ब्रह्मणि वान्ताहृतेर्दोषः समापात्येवेतिभावः ॥ २० ॥

मूलम्—लोके तथैकादिकब्राह्मणादि–घातेऽत्र हत्या महती निगद्या ।
तन्निघ्नतो ब्रह्मण एव सृष्टिं, सा कीदृशी स्याददया दयालोः[1] ॥ २१ ॥

टीका—उक्तविषय एव दूषणमाह—लोक इत्यादिना 'तथे'ति समुच्चये, ' लोके '–संसारे, ' एकादिकब्राह्मणादिघाते '–एकादेर्ब्राह्मणादेर्हनने सति, ' अत्र '–अस्मिन् कार्ये, ' महती '–गुर्वी, ' हत्या '–हिंसा, ' निगद्या '–कथनीया भवति, ' तत् '–तर्हि, ' सृष्टिमेव '–जगदेव, ' निघ्नतः '–हिंसतः, ' दयालोः '–दयायुक्तस्य ब्रह्मणः, ' अदया '–दयारहिता, ' सा '–हत्या, ' कीदृशी स्यात् '–किंप्रकारा भवेत्? एकादि ब्राह्मणादिघाते जनस्य महती हत्या निगद्यते तर्ह्यखिलां सृष्टिं संहरतो ब्रह्मणः सा हत्या कीदृशी वक्तव्येतिभावः ॥ २१ ॥

मूलम्—तज्जातसृष्टिं न हि तस्य हिंसा, निर्हिंसतश्चेद् भवतीति चोद्यते ।
सम्पाद्य सम्पाद्य सुतान्स्वकीया–न्पितुर्घ्नतस्तर्हि न कोऽपि दोषः ॥ २२ ॥

टीका—अत्र वादिशंकां परिहर्तुमाह—तज्जातेत्यादि ' ही 'ति निश्चये, ' तज्जातसृष्टिं '—स्वजनितां सृष्टिं, ' निर्हिं-

---

१. हत्या ।

तत्कथनम् ' ममांबा '–मदीया माता, वंध्यास्ति, इति ' समम् '–एतेन तुल्यमस्ति, निष्क्रियं ब्रह्म मत्वा ये तज्जगत्कारकं कथयन्ति तत्तेषां कथनं मम माता वन्ध्याऽस्तीति कथनवत् सर्वथा मिथ्याऽस्तीतिभावः ॥ २४–२६ ॥

मूलम्—ये केऽपि विज्ञानभृतो भवन्ति, सर्वे च ते ब्रह्म विचिन्तयन्ति ।
ब्रह्मांशकास्ते यदि कोऽस्ति भेदः, कस्मै विचारः क्रियते तदेभिः ॥ २७ ॥

टीका—ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वे पुनर्दूषणमाह–केऽपीत्यादिना केचित्, ' विज्ञानभृतः '–विशिष्टज्ञानवन्तो योगीश्वरा इति यावत्, ' भवन्ति '–वर्तन्ते, ते सर्वे ब्रह्म ' विचिन्तयन्ति '–ध्यायन्ति, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, यदि ते विज्ञानभृतः ' ब्रह्मांशकाः '–ब्रह्मणोंशाः सन्ति, ' तत् '–तर्हि, ब्रह्मणस्तेषाम् ' को भेदोऽस्ति '–किं भिन्नत्वं विद्यते ? ' एभिः '–ज्ञानभृद्भिः, ब्रह्मणः ' विचारः '–ध्यानं, ' कस्मै '–किमर्थम्, ' क्रियते '–विधीयते, जगतो ब्रह्मजन्यत्वे विज्ञानिनोऽपि ब्रह्मांशाः सन्ति, न चैषां ततः कश्चिद् भेदो भवति, तर्हि ते ब्रह्मविचारं किमर्थं कुर्वन्तीतिभावः ॥ २७ ॥

मूलम्—अंशास्तदीया यदि जन्तवोऽमी, स्वयं स्वपार्श्वं हि तदेव नेतृं ।
विनैव कष्टं यदि तस्य लब्ध्यै, नीरागता निःस्पृहता निकामम् ॥ २८ ॥

---

१. विशिष्टज्ञानवन्तो योगीश्वराः । २. ते योगीश्वराः । ३ किमर्थं यदि योगिन. स्वयं ब्रह्मांशकास्तर्हि ब्रह्मांशानां अतःपरं लभ्यमवशिष्यते यद् ब्रह्म चिन्तयन्ति । ४ नेष्यति । ५. ब्रह्मणो लब्ध्यै प्राप्त्यै ।

निर्द्वेषता निष्क्रियता च तद्व-ज्जितेन्द्रियत्वं च समानभावः ।
इत्यादि कार्यं[1] यदि तस्य[2] प्रीति-रेष्वेव सिद्धं तदिहा[3]क्रियत्वम् ॥ २९ ॥

टीका—उक्तविषय एव दूषणमाह—अंशास्तदीया इत्यादिना यदि 'अमी'—प्रसिद्धाः, 'जन्तवः'—प्राणिनः, 'तदीया अंशाः'—ब्रह्मणोंशाः, सन्ति तर्हि, 'ही' ति निश्चये, 'तत्'—ब्रह्म, एव, 'तान्'—जंतून्, 'कष्टं विनैव'—दुःखमंतरेणैव, 'स्वपार्श्वं'—स्वसमीपं, 'नेतृ'—प्रापयितृ, भविष्यति अन्यथा तस्य जगत्कर्तृत्वं न सिध्यतीति वक्तुकाम आह—यदीत्यादि यदि 'तस्य'—ब्रह्मणः, 'लब्ध्यै'—प्राप्तये, 'निकामम्'—निरन्तरं, 'नीरागता'—रागाभावः, 'निःस्पृहता'—निरभिलाषित्वं, 'निर्द्वेषता'—द्वेषाभावः 'च' शब्दः समुच्चये, 'निष्क्रियता'—क्रियाभावः, 'तद्वत्'—तथैव, 'जितेन्द्रियत्वम्'—इन्द्रियदमनम्, 'च' शब्दः समुच्चये, 'समानभावः'—समत्वम्, 'इत्यादि'—एतत्प्रभृति, 'कार्यं'—कृत्यम्, विधेयमस्ति, 'यदि'—चेत्, 'तस्य'—ब्रह्मणः, 'एष्वेव'—उक्तकार्येष्वेव, नीरागतादिष्वेवेतिभावः, 'प्रीतिः'—स्नेहोऽस्ति, 'तत्'—तर्हि, 'इह'—अस्मिन् ब्रह्मणि, 'अक्रियत्वं'—निष्क्रियत्वं, 'सिद्धं'—सिद्धिमुपगतम्, यदि ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं, तर्हि सर्वे जंतवस्तदंशा जातास्ततस्तद् ब्रह्म स्वांशभूतांस्तांन् जंतून् स्वत एव कष्टं विनैव स्वसमीपे नेष्यति, तर्हि तेषाम् तद्ध्यानेन किम् ? यदि चेत् तत्प्राप्त्यै नीरागतादिकृत्यमावश्यकं ब्रह्मणश्च नीरागतादिकृत्ये प्रीतिस्तर्हि निष्क्रियत्वद्वारा तस्य जगत्कर्तृत्वं न सिध्यतीतिभावः ॥ २८–२९ ॥

१. विधेयं । २. ब्रह्मणः । ३. तत्तस्मात्कारणात् इह ब्रह्मणि ।

समासौ, ' कर्तुः '–कारकस्य, ब्रह्मण इत्यर्थः, ' सक्रियता '–सक्रियत्वम्, क्रियया सहितत्वमितिभावः, ' स्फुटा '–व्यक्ता, कथंभूता सक्रियता ? ' मनःस्था '–मनसि स्थिता, ' तदन्यभावे '–सृष्ट्यभावे युगान्ताभावे च सृष्टिसंहाराभाव इत्यर्थः, ' निष्क्रियत्वं–निष्क्रियता, क्रियाया रहितत्वमितिभावः, ' स्याद् '–भवेत्, ' तथैव चे 'ति समुच्चये, ' जनानां '–मनुष्याणां, ' सुखदुःखदृष्ट्या '–सुखदुःखदर्शनात्, हेतौ तृतीया, ' रागद्वेषौ '–स्नेहवैरे स्तः, अत्र वादिशंकां परिहर्तुमाह–यादृक् क्रियेत्यादि ' यादृक् '–यादृशी, ' क्रिया '–कर्म, भवति, ' तादृशसौख्यदुःखे '–तादृगेव सुखं दुःखं च भवतः, ' चेत् '–यदि, ' एवम् '–उक्तप्रकारः, ' भवतामपि '–ब्रह्मवादिनां, ' ऊहः '–वितर्कः, ' स्याद् '–भवेत्, ' तर्हि '–तदा, ' किले 'ति निश्चये, ' कर्तुः '–कारकस्य, ब्रह्मण इत्यर्थः, ' बलं '–शक्तिः, ' किम् '–कीदृशी अस्ति ? एवं च सति, ' सुखदुःखहेतू '–सुखदुःखयोः कारणे, ' स्वपापपुण्ये '–आत्मनः पापं पुण्यं च, 'सिद्धे'–सिद्धिमुपगते, यादृशी क्रिया भवति तादृगेव सुखं दुःखं च भवतीति पक्षाभ्युपगमे सुखदुःखकारणे स्वपापपुण्य एव सिद्ध्यतः कर्तुर्बलं किमपि सिद्ध्यतीतिभावः ॥ ३२–३३ ॥

मूलम्—हे ब्रह्मवादिन् ! यदि जन्तवोऽमी, ब्रह्मांशकास्तर्हि समे समाः स्युः ।
तदंशसाम्याद् बहुभेदभिन्ना–श्चेत्तर्हि कश्चिन्ननु तत्करोऽन्यः ॥ ३४ ॥

टीका—ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वे दूषणमाह–हे ब्रह्मवादिन्नित्यादिना ' हे ब्रह्मवादिन्निति '–ब्रह्मजगत्कर्तृवादिन्नित्यर्थः, 'यदि'–चेत्, ' अमी '–प्रसिद्धाः, ' जन्तवः '–प्राणिनः, ' ब्रह्मांशकाः '–ब्रह्मणोंशाः सन्ति, तर्हि ' समे '–सर्वे जन्तवः, ' समाः '–

१. ब्रह्मांशानाम् । २. जीवाः । ३. सुखदुःखादिभेदकरोऽन्यः पदार्थः ।

तुल्याः। 'स्युः'–भवेयुः, अत्र वादिहृदयस्थां शंकां परिहर्तुमाह–तदंशेत्यादि 'चेत्'–यदि, त्वम् एवं ब्रूयाः 'तदंशसाम्यात्'– ब्रह्मणोंशानाम् समानत्वात्, 'बहुभेदभिन्ना'–बहुभिरनेकैर्भेदैः–प्रकारैर्भेदमुपगता जीवाः सन्ति, तर्हि, 'नन्वि'ति वितर्के, 'तत्करः'–सुखदुःखादिभेदकारकः, 'कश्चित्'–कोऽपि, 'अन्यः'–अपरः स्यात् ॥ ३४ ॥

मूलम्—चेद् ब्रह्मभिन्ना भुवि जन्तवोऽमी, सुखस्य दुःखस्य च कर्तृ ब्रह्म।
हेतोर्यतो दुःखसुखे विधत्ते, ब्रह्मा स एवाऽस्तु तयोर्विधाता ॥ ३५ ॥
निरञ्जनं नित्यममूर्त्तमक्रियं, सङ्गीर्य्य ब्रह्माऽथ पुनश्च कारकम्।
संहारकं रागरुडादिपात्रकं, परस्परध्वंसि वचोऽस्त्यदस्ततः ॥ ३६ ॥

टीका—उक्तविषयानभ्युपगमे च दोषमाह–चेद्ब्रह्मेत्यादिना 'चेत्'–यदि, त्वम् एवं ब्रूयाः 'अमी'–प्रसिद्धाः, 'जन्तवः'–प्राणिनः, 'भुवि'–संसारे, 'ब्रह्मभिन्नाः'–ब्रह्मणः पृथग्भूताः सन्तः, 'सुखस्य'–सौख्यस्य, 'दुःखस्य'–क्लेशस्य च, 'कर्तृ'–कारकं ब्रह्म, अस्ति तर्हि 'यतः'–यस्मात्, 'हेतोः'–कारणात्, 'ब्रह्मा' 'दुःखसुखे'–क्लेशसौख्ये, 'विधत्ते'–करोति, 'स ब्रह्मा'–ब्रह्म एव, 'तयोः'–सुखदुःखहेत्वोः पुण्यपापयोरितिभावः, 'विधाता'–कर्त्ता, 'अस्तु'–भवतु, इत्थं च सति दूषणमाह–निरञ्जनमित्यादिना 'ततः'–तस्मात् कारणात्, उक्तपक्षाभ्युपगमे सतीत्यर्थः, 'निरञ्जनम्'–

१. पुण्यपापयोः। २. द्वेष।

अंजनरहितम्, 'नित्यम्'—एकरूपम्, 'अमूर्त्तं'—मूर्तिविरहितम्, 'अथ चे'ति समुच्चये, 'अक्रियं'—क्रियारहितम्, ब्रह्म, 'सङ्गीर्य'—कथयित्वा, 'पुनः'—पश्चात्, 'कारकं'—कर्तृ, अस्ति, 'संहारकं'—संहरणकर्तृ अस्ति, तथा 'रागरुडादिपात्रकं'—रागद्वेषादीनां भाजनमस्ति, 'अदः'—पूर्वोक्तं, 'वचः'—वचनम्, 'परस्परध्वंसि'—अन्योऽन्यव्याघातकम्, 'अस्ति'—विद्यते ॥ ३५–३६ ॥

मूलम्—अतो विभिन्नं जगदेतदेत–दुब्रह्मापि भिन्नं मुनिभिर्व्यचारि ।
अतस्तु संसारगता मुनीन्द्राः, कुर्वन्ति मुक्त्यै परब्रह्मचिन्ताम् ॥ ३७ ॥

टीका—फलितमाह–अत इत्यादिना 'अतः'—अस्मात् कारणात्, 'एतत्'—प्रसिद्धं, 'जगत्'—संसारः, ब्रह्मणः 'विभिन्नं'—पृथग्भूतमस्ति, एतत्, 'मुनिभिः'—महात्मभिः, 'व्यचारि'—विचारितम्, एतेन किं सिद्ध्यतीत्याह–अतस्त्वित्यादि 'अतस्त्विति'—अतएवेत्यर्थः, 'मुनीन्द्राः'—मुनिराजाः, 'मुक्त्यै'—मोक्षाय, 'परब्रह्मचिन्ता'—ब्रह्मध्यानं, 'कुर्वन्ति'—विदधति, कथंभूता मुनींद्राः ? 'संसारगताः'—संसारे स्थिताः ॥ ३७ ॥

ईश्वरमायातो जगद्रचनानुपपत्तिं श्लोकदशकेनाह—

---

१. ध्यानम्।

मूलम्—ये केऽपि[1] मायामिह विष्णुमाश्रितां, जगद्विधौ हेतुमुदीरयन्त्यथ।
प्रष्टव्यमेषामिति किं हि मायां, विष्णुः श्रितो विष्णुमथापि माया[2] ॥ ३८ ॥

टीका—इदानीं मायावादिवैष्णवमतं परिजिहीषुराह—ये केऽपीत्यादि 'इह'—अस्मिन्संसारे, उक्तविषये वा, 'ये केऽपि'—केचित् वैष्णवाः, 'मायां' 'जगद्विधौ'—जगतो रचने, 'हेतुं'—कारणम्, 'उदीरयन्ति'—कथयन्ति, कथंभूतां मायाम्? 'विष्णुमाश्रितां'—कृतविष्णुसमाश्रयम्, 'अथे'ति प्रश्नद्योतने, 'एषां'—वैष्णवानाम्, 'इति'—एतत् वक्ष्यमाणमिति यावत्, 'प्रष्टव्यं'—प्रष्टुं योग्यमस्ति यत्, 'ही'ति चरणपूर्तौ, किम् 'विष्णुः' 'मायां श्रितः'—मायाधीनोऽस्ति, 'अथापि'—अथवा, माया विष्णुश्रिताऽस्ति ॥ ३८ ॥

मूलम्—माया जडा संश्रयितुं स्वयं नो, शक्ता तु विष्णुः परब्रह्मतुल्यः[3]।
जानन्स्वयं नाश्रयते हि मायां, यत्पारतन्त्र्यादजडो जडं श्रयेत् ॥ ३९ ॥

टीका—पक्षद्वयमपि परिहर्तुमाह—मायेत्यादिना 'माया' 'जडा'—अचेतनाऽस्ति सा, 'स्वयं'—स्वत एव, अन्यप्रेरणमं-

---

१. ये केचन वैष्णवाः सन्ति ते च विष्णुनैव कृतं सर्गं संहारं च वदन्ति यथा च पद्मपुराणे तत्त्वानुसारिमहादेवकृतभगवत्सहस्रनामपाठे प्रतिपादितम्। यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे। यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये। इत्याद्यनेकशः पाठैः पठन्तीति तानाश्रित्याह ये केऽपीत्यादि। २. श्रिता। ३. परब्रह्माधिकारोक्तविशेषणविशिष्टत्वात् ब्रह्मतुल्यो वा विष्णुर्ब्रह्मापरपर्यायो वा विष्णुरिति।

तरेणैवेत्यर्थः, विष्णुम् ‘संश्रयितुम्’–आश्रयितुम्, ‘नो’–नैव, ‘शक्ता’–समर्थाऽस्ति, तर्हि विष्णुर्मायां श्रयेदित्यपि परिहर्तुमाह–विष्णुरित्यादि ‘विष्णुस्तु’ ‘परब्रह्मतुल्यः’–परब्रह्मणा समानः, परब्रह्माधिकारोक्तविशेषणविशिष्टत्वाद् ब्रह्मतुल्य इति–भावोऽस्ति सः, ‘ही’ति निश्चये, ‘जानन्’–मायाश्रयणदुर्विपाकं विदन्नपीत्यर्थः, ‘स्वयं’–स्वत एव, अन्यप्रेरणमंतरेणै-वेत्यर्थः, ‘मायां मा श्रयेत्’–मायाधीनो न भवति, अत्र हेतुमाह–यदित्यादिना ‘यत्’–यस्मात् कारणात्, ‘अजडः’–चेतनावान्, ‘पारतन्त्र्यात्’–पराधीनत्वात्,परवशः सन्नेवेति, ‘जडं श्रयेत्’–अचेतनस्याश्रयं करोति ॥ ३९ ॥

मूलम्—अथैष विष्णुर्युगपन्नुदेत्तां, पृथक्पृथग्वा प्रतिजीवमीर्त्ते ।
आद्ये यदीमां तु नुदेत्त्रिलोकी, तदैकरूपास्तु न भिन्नरूपा ॥ ४० ॥
तदैकरूप्याद्यदि तां पृथक्पृथग्, जीवान्प्रतीर्त्ते नु भवेत्तदानीम् ।
आनन्त्यमस्या इयमप्यनेक–रूपा च जीवा अपि भिन्नरूपाः ॥ ४१ ॥

टीका—मायाप्रेरणेऽपि दोषमाह–अथैष इत्यादिना ‘अथे’ति प्रश्ने, ‘एषः’–पूर्वोक्तो विष्णुः, ‘तां’–मायां, ‘युग-पत्’–एकस्मिन्नेव समये, ‘नुदेत्’–प्रेरयेत्, ‘वा’–अथवा, ‘प्रतिजीवं’–जीवं जीवं प्रति, ‘पृथक्पृथक्’–विभेदेन, ‘ईर्त्ते’–प्रेरयति, प्रथमे पक्षे दोषमाह–आद्य इत्यादिना ‘आद्ये’–प्रथमे पक्षे, प्रथमपक्षाभ्युपगमे सतीतिभावः, यदि ‘इमां’–

१. मायां । २. यदि सुखमयी तदा सुखमय्येव दुःखमयी दुःखमय्येव न च भिन्नरूपा । ३. तस्या मायाया एकरूप्यं एक-स्वभावता तस्मात् । ४. मायां । ५. जीवानामनेकत्वात् ।

पूर्वोक्तां मायां, 'नुदेत्'-प्रेरयेत्, 'तु' शब्दश्चरणपूर्तौ, 'तदा'-तर्हि, 'तदेकरूप्यात्'-तस्या मायाया एकरूपत्वेन हेतुना, 'त्रिलोकी'-त्रिभुवनम्, 'एकरूपा'-समाना, सुखमयी दुःखमयी वेत्यर्थः, 'अस्तु'-भवतु, 'भिन्नरूपा'-पृथग्रूपा, न अस्तु, द्वितीयपक्षे दोषमाह-यदीत्यादिना यदि 'तां'-मायाम्, पृथक्पृथग्भेदेन 'जीवान्'-जंतून् प्रति, 'ईर्त्ते'-प्रेरयति, 'तदानीं'- तदा, 'नु' इति वितर्के, 'अस्याः'-मायायाः, 'आनन्त्यम्'-अनंतत्वम्, 'भवेत्'-स्यात्, उक्तपक्षाभ्युपगमे मायाया अनंतत्वं प्राप्नोतीतिभावः, येन 'इयं'-मायाऽपि, 'अनेकरूपा'-विभिन्नस्वरूपा, 'च'-पुनः, 'जीवाः'-जन्तवोऽपि, 'भिन्नरूपाः'-अनेकस्वरूपा भवेयुः ॥ ४०-४१ ॥

मूलम्—नामैवमस्त्वत्र तथापि माया, जडा सती किं चरितुं क्षमा स्यात्।
कर्त्तुंश्च[1] शक्तेरथ सा समर्था, तदैव कर्त्ता सुखदुःखदोऽस्तु ॥ ४२ ॥
किं कर्त्तुरेतैरपराद्धमस्ति, चेदीदृशं तां[2] प्रति जीवमीर्त्ते।
निरागसां[3] प्राणभृतां य ईह-ग्दुःखादि कर्त्ता स कथं हि कर्त्ता ? ॥ ४३ ॥

टीका—अत्र पुनर्दूषणमाह-नामैवमित्यादिना 'अत्र'-उक्तविषये, 'नामे' ति-संभाव्ये, 'एवमस्तु'-उक्तविषयः स्यात् पृथक्पृथग्जीवान् प्रति विष्णुर्मायां प्रेरयेत भवेदित्यर्थः, 'तथापि' 'जडा'-अचेतना, 'सती'-माया, 'किं चरितुं'-किं कर्त्तुम् ? 'क्षमा'-शक्ता, 'स्यात्'-भवेत्, अत्र वादिहृदयस्थां शंकां परिहर्तुमाह-कर्त्तुश्चेत्यादि 'अथ चेति'-

१. कर्त्तुम्। २. मायाम्। ३. निरपराधानाम्।

यदि त्वमेवं ब्रूया इत्यर्थः, यत् 'कर्तुः'–कारकस्य, विष्णोरित्यर्थः, 'शक्तेः'–सामर्थ्यात्, 'सा'–माया, चरितुम् 'समर्थो'–शक्ताऽस्ति, 'तदा'–तर्हि, 'सुखदुःखदः'–सौख्यक्लेशयोर्दाता कर्तैव विष्णुदेवः, 'अस्तु'–भवतु, अत्र दोषमाह–किं कर्तुरित्यादिना एवं च सति 'एतैः'–जन्तुभिः, 'कर्तुः'–विष्णोः, 'किमपराद्धमस्ति'–कोऽपराधः कृतोऽस्ति, 'चेत्'–यत्, 'ईदृशीम्'–इत्थं भूतां, सुखदुःखदामितिभावः, 'तां'–मायां, 'जीवं प्रति'–जीवमुद्दिश्य, 'ईर्ते'–प्रेरयति, इत्थं च सति दोषमाह–निरागसामित्यादिना 'यः'–विष्णुः, 'निरागसां'–निरपराधानां, 'प्राणभृतां'–प्राणिनाम्, 'ईदृग्-दुःखादिकर्ता'–ईदृशः–उक्तप्रकारकस्य दुःखादेः कर्त्ताऽस्ति, 'ही'ति निश्चये, 'सः' 'कथं'–केन प्रकारेण, 'कर्त्ता'–जगन्निर्माता भवितुं शक्नोति ॥ ४२–४३ ॥

मूलम्—ध्यायन्ति ये नेशमिमेऽस्य सागसा[2]–स्तेषामसौ दुःखकरः प्रथेत्यहो ।
ये त्वीशमेनं प्रति सेवमाना[3],–स्तेषामयं साततर्तिं विधत्ते ॥ ४४ ॥

टीका—अत्र वादी प्राह–ध्यायंतीत्यादि ये 'इमे'–जन्तवः, 'ईशं'–विष्णुं, 'न ध्यायन्ति'–न चिंतयन्ति, 'अस्य'–स्वस्य, ते 'सागसाः'–सापराधाः सन्ति, 'तेषां'–जन्तूनाम्, 'असौ'–विष्णुः, 'दुःखकरः'–दुःखकर्त्ता दुःखप्रदर्शितभावो भवति, 'अहो' इति–सम्बोधने, 'प्रथा'–रीतिरस्ति, 'ये'–जन्तवस्तु, 'एनम्'–पूर्वोक्तम्, 'ईशं'–विष्णुं, प्रति, 'सेवमानाः'–सेवनकर्त्तारः सन्ति, 'तेषाम्'–जंतूनाम्, 'अयं'–विष्णुः, 'साततर्तिं'–सौख्यसमूहं, 'विधत्ते'– करोति ॥ ४४ ॥

१. कर्त्तुः । २. सापराधाः । ३. सेवकानाम् । ४. प्रसिद्धिः ।

मूलम्—द्वेषी च रागी भवतां स कर्त्ता, य ईदृशीमाचरति प्रतिक्रियाम् ।
नामैवमस्त्वस्तु परं य एनं, निन्देन्न वन्देत गतिस्तु कास्य ॥ ४५ ॥

टीका—उक्तपक्षं परिहर्तुमाह–द्वेपी चेत्यादि एवं च सति ' सः '–पूर्वोक्तः, ' भवतां '–भवत्संबंधी, भवदभिमत इति–भावः, ' कर्त्ता '–जगत्कारकः, विष्णुरितिभावः, ' च ' शब्दो समुच्चये, ' द्वेपी '–द्वेपयुक्तः, ' रागी '–रागयुक्तश्च प्राप्नोति, ' यः ' ' ईदृशीम् '–एवंभूतां, ' प्रतिक्रियाम् '–प्रतीकारं, ' आचरति '–करोति, वादी प्राह–नामेत्यादिना ' नामे 'ति–संभाव्ये, एवमस्त्विवति, रागद्वेषयुक्तः स्यात् का नो हानिरित्यर्थः, अस्य प्रतिक्षेपमाह–अस्तीत्यादिना ' अस्त्विवति '–तवोक्त-कथनं स्यादित्यर्थः, ' परम् '–परन्तु, ' यः '–जंतुः, ' एनं '–कर्त्तारम्, ' न निंदेत् '–न गर्हयेत्, न च ' वंदेत् '–नमस्कुर्यात्, डमरुकमणिन्यायेन[1] नेति रहस्योभयप्रयोगः ' अस्य '–पूर्वोक्तप्राणिनस्तु, ' का गतिः ? '–कीदृशी व्यवस्था भवेत् ? ॥४५॥

मूलम्—लोके त्रिधा स्याद्गतिरेकवस्तुनो–यत्सेवकासेवकमध्यमात्मिकाः ।
आद्योर्द्वयोश्चेद्[2]गतिरस्ति तर्हि, मध्यस्थजन्तोरपि[3] साऽस्तु काचित् ॥ ४६ ॥

टीका—अत्रैव पुष्टिमाह–लोक इत्यादिना ' लोके '–संसारे, ' एकवस्तुनः '–एकपदार्थस्य, ' त्रिधा '–त्रिप्रकारा, ' गतिः '–दशा, ' स्यात् '–भवति, ' यत् सेवकासेवकमध्यमात्मिकाः ' इति–सेवकात्मिका मध्यमात्मिका च सेवकस्वरूपा मध्यमस्वरूपा चेतिभावः, ' चेत् '–यदि, ' आद्योः '–प्रथमयोः, ' द्वयोः '–उभयोः, सेवकासेवकयोर्द्वयोरित्यर्थः, ' गतिः '–

१. मध्यस्थनकारस्योभयत्रसम्बन्धो डमरुकमणिवत् । २. सेवकासेवकयोर्द्वयोः । ३. उदासरूपस्य गतिः ।

व्यवस्था, ' अस्ति '–विद्यते, ' तर्हि '–तदा, ' मध्यस्थजन्तोरपि '–सेवकासेवकभिन्नस्वरूपप्राणिनोऽपि, ' सा ' 'काचित्'–काऽपि, गतिः ' अस्तु '–भवतु ॥ ४६ ॥

मूलम्—अस्यापि काचिन्नियता गतिः स्या–दस्यागतेस्तर्हि च कोऽस्ति कर्त्ता[1] ।
तर्हीति वाच्यं सुखदुःखमुख्यं, यथा कृतं कर्म तथैव लभ्यम् ॥ ४७ ॥

टीका—उक्तविषय एव पुनराह–अस्यापीत्यादि ' अस्यापी'ति मध्यस्थजंतोरपीत्यर्थः, ' काचित् '–कापि, 'नियता'–निश्चिता, ' गतिः '–व्यवस्था, ' स्यात् '–अस्ति, 'तर्हि'–तदा, 'अस्याः'–पूर्वोक्ताया गतेः, ' कर्त्ता '–कारकः, 'कोऽस्ति'–विद्यते, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' तर्हि '–तदा, ' इति '–एतद् वक्ष्यमाणम्, ' वाच्यम् '–कथयितव्यम्, यत् ' यथा '–येन प्रकारेण, ' कृतं '–विहितम्, ' कर्म '–कार्यम्, भवति, ' तथैव '–तेनैव प्रकारेण, ' सुखदुःखमुख्यम् '–सुखदुःखादि, ' लभ्यं ' प्राप्यम् भवति ॥ ९७ ॥

स्वत ईश्वरेण जीवानां सृष्टिसंहारानुपपत्तिं श्लोकचतुर्दशेनाह—

मूलम्—इत्थं च ये[1] केचन सङ्गिरन्ते[2], कर्त्ता स्वतो[3] जीवगणान्प्रसृज्य[4] ।
संसारिभावं प्रणिदाय[5] तेषां, महालये संहरते पुनस्तान् ॥ ४८ ॥

१. यवनाचार्यादयः । २. प्रतिजानते प्रतिज्ञां कुर्वन्तीति यावत् । ३. स्वकीयादात्मनः सकाशात् । ४. कृत्वा । ५. दत्त्वा ।

वाच्या अमी किं जगदीश्वरोऽयं, जीवान्सतः किं प्रकटीकरोति ।
किं वा नवानेव करोति कर्त्ता, चेदादिपक्षः शृणु तर्हि वार्त्ताम् ॥ ४९ ॥

टीका—इदानीं यवनाचार्यादिमतमुक्तविषये प्रदर्श्य तत्परिजिहीर्षयाह—इत्थं चेत्यादि 'इत्थं चे' ति—एवं च सतीत्यर्थः, 'ये केचन'—केऽपि यवनाचार्यादयः, 'सङ्गिरन्ते'—कथयन्ति, प्रतिजानते यावत्, यत् 'कर्त्ता'—कारकः, 'जीवगणान्'—जीवसमूहान्, 'स्वतः'—स्वस्मात् स्वकीयादात्मनः सकाशादितिभावः, 'प्रसृज्य'—कृत्वा, 'तेषां'—जीवगणानां, 'संसारिभावं'—संसारित्वं, 'प्रणिदाय'—दत्त्वा, 'पुनः'—पश्चात्, 'तान्'—जीवगणान्, 'महालये'—प्रलयकाले, 'संहरते'—विनाशयति, परिहारमाह—वाच्या इत्यादिना 'अमी'—पूर्वोक्ता वादिनः, 'वाच्याः'—कथयितव्याः, प्रष्टव्या इतिभावः, 'कि'मिति प्रकारद्योतने, 'अयं जगदीश्वरः'—जगत्स्वामी, 'कर्त्ता'—कारकः, 'किम्' 'सतः'—विद्यमानान्, 'जीवान्'—जंतून्, 'प्रकटीकरोति'—प्रादुर्भावयति, 'किं वा'— अथवा, 'नवानेव'—नवीनानेव, असत एवेतिभावः, 'करोति'—विदधाति, पूर्वपक्षे दोषमाह—चेदित्यादिना 'चेत्'—यदि, 'आदिपक्षः'—प्रथमपक्षोऽस्ति, 'तर्हि'—तथा, 'वार्ताम्'—वृत्तान्तं, 'शृणु' ॥ ४८–४९ ॥

---

१. ये इत्थं वदन्ति ते वाच्याः पृष्टव्या इत्यर्थः । २. विद्यमानान् । ३. जीवान् ।

मूलम्—इष्टे[1] पदे चेत्परिरक्ष्य जीवान्, यः कार्यकाले प्रकटीकरोति ।
सोऽस्माद्दशः कर्मणि[2] वस्तुरक्षी, प्रस्तावनोप्राप्तिभयाद्विभीतः[3] ॥ ५० ॥

टीका—वार्तामेवाह-इष्ट इत्यादिना 'चेत्–यदि, 'इष्टे पदे'–स्वाभीष्टे स्थाने, 'जीवान्'–प्राणिनः, 'परिरक्ष्य'–रक्षित्वा, 'यः'–कर्त्ता, 'कार्यकाले'–कार्यावसरे, 'प्रकटीकरोति'–प्रादुर्भावयति, तर्हि 'सः'–पूर्वोक्तः कर्त्ता, 'कर्मणि'–क्रियावसरे, 'अस्माद्दशः'–अस्माभिस्तुल्यः, 'वस्तुरक्षी'–पदार्थरक्षको भवति, कथंभूतः स वस्तुरक्षी कर्त्तेत्याह–प्रस्तावेत्यादि 'प्रस्तावनो प्राप्तिभयाद् विभीतः'–प्रस्तावे–अवसरे या नो प्राप्तिरप्राप्तिस्तथा भयाद्–भीतेर्विभीतः–भयं प्राप्तः ॥५०॥

मूलम्—अशक्तिरप्यस्य निवेदिता य–न्नो भिन्नभिन्नार्थकमेलवीर्यः[4] ।
कर्त्तुस्त्वचिन्त्या किल शक्तिरस्ति, तर्त्कि स लोभीति निगद्यते हो ॥ ५१ ॥

टीका—उक्तपक्षाभ्युपगमे दोषमाह–अशक्तिरित्यादिना एवं च सति 'अस्य'–कर्तुः, 'अशक्तिरपि'–असामर्थ्यमपि, 'निवेदिता'–प्रकटीकृता भवति, 'यत्'–यस्मात् कारणात्, 'भिन्नभिन्नार्थकमेलवीर्यः'–पृथक्पृथग्जीवपदार्थमेलनशक्तियुतः, 'नो'–नैवाऽस्ति, वादी प्राह–कर्त्तुरित्यादि 'कर्तुः'–कारकस्य तु, 'किलेति'–निश्चये, 'अचिन्त्या'–अचिंतनीया, 'शक्तिः'–सामर्थ्यं, 'अस्ति'–विद्यत इति, अस्य परिहारमाह–तदित्यादिना 'तत्'–तर्हि, 'हो'–इति संबोधने आश्चर्ये वा, किं 'सः'–कर्त्ता, 'लोभी'–लोभयुक्तोऽस्ति, 'इति'–एतत्, 'निगद्यते'–कथ्यते ॥ ५१ ॥

---

१. स्ववाञ्छिते स्थाने । २. क्रियावसरे । ३. अवसरे याऽप्राप्तिस्तद् भयात् । ४. पृथक्पृथग्जीवपदार्थमेलनबलः ।

मूलम्—कृत्वा नवानेव यदैव जन्तून्, संसारिभावं प्रति लाभयेच्चेत्।
मौलान् कथं मोचयितुं क्षमो न, येन स्वक्लृप्तानिति किं विडम्बयेत्? ॥ ५२ ॥

टीका—द्वितीयपक्षे दोषमाह–कृत्वेत्यादिना 'चेत्'–यदि, 'यदा'–यस्मिन्काले, 'एव'–शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'नवानेव'–नवीनानेव, 'जंतून्'–प्राणिनः, 'कृत्वा'–विधाय, 'संसारिभावं प्रति'–संसारित्वमुद्दिश्य, 'लाभयेत्' 'जंतून्'–'मोचयितुम्'–मुक्तान् कर्तुं, 'कथं'–कुतः, 'क्षमः'–समर्थो न भवति, 'येन'–कारणेन, 'स्वक्लृप्तान्'–स्वकृतान् जंतून्, 'इति'–अनया रीत्या, 'सः' 'किं विडम्बयेत्'–कुतो विडंबितान् करोति ॥ ५२ ॥

मूलम्—कृतानपीत्थं यदि संहरेत् पुनः, कोऽयं विवेको जगदीशितुः सतः।
बालोऽपि यो वस्तु निजं प्रक्लृप्तं, धर्तुं क्षमस्तावदयं दधाति ॥ ५३ ॥

टीका—उक्तपक्ष एव दोषमाह–कृतानित्यादिना यदि 'कृतानपि'–विहितानपि जंतून्, 'पुनः'–पश्चात्, 'इत्थम्'–उक्तप्रकारेण, 'संहरेत्'–नाशयेत्, तर्हि 'सतः'–श्रेष्ठस्य, 'जगदीशितुः'–जगत्स्वामिनः, विष्णोरित्यर्थः, 'अयं'–पूर्वोक्तः, 'को विवेकः'–विचारशीलत्वमस्ति, जंतून् कृत्वा तत्संहारकरणे न कोऽपि विष्णोर्विवेक इतिभावः। अत्रैव पुष्टिमाह–बालोऽपीत्यादिना 'यो बालोऽपि'–बालकोऽपि भवति सः, 'निजम्'–आत्मीयं, 'प्रक्लृप्तं'–कृतं वस्तु यावत्, 'धर्तुं'–रक्षितुम्, 'क्षमः'–शक्तो भवति, 'तावत्'–तत्कालपर्यन्तम्, 'अयं'–बालः, 'दधाति'–धत्ते, 'सुरक्षितं'–

१. प्रापयेत्। २. स्वकृतान्। ३. रक्षति।

रक्षतीतिभावः ॥ ५३ ॥

मूलम्—लीलेति चेत्तर्हि जनोऽपि लीलां, कुर्वन्न निन्द्यो भवति प्रवीणैः ।
तपोयमध्यानमुखैः स लभ्य-श्चेत्तानि रुच्यै यदि सन्ति तस्मै ॥ ५४ ॥
एतानि यस्मै रुचये भवन्ति, स नेदृशीं जातु करोति लीलाम् ।
लोकेऽपि जीवादिकघातनोत्था, लीला निषिद्धास्ति समैव तेन ॥ ५५ ॥

टीका—अत्रैव दोषमाह—लीलेत्यादिना ' चेत् '—यदि त्वमेवं ब्रूया यत्तस्य इतीयं लीला—कौतुकमस्ति तर्हि तदा लीलां-कौतुकम् स्वचित्ताभीष्टागम्यगमनादिक्रीडामितिभावः, ' कुर्वन् '—विदधत्, ' जनोऽपि '—मनुष्योऽपि, ' प्रवीणैः '—चतुरैः, ' निंद्यः '—निन्दायोग्यः, 'न भवति '—न जायेत, वादिहृदयस्थशंकांतरं परिहर्तुमाह—तपोयमेत्यादि ' चेत् '—यदि, ' सः '—जगदीशः, ' तपोयमध्यानमुखैः '—तपोयमध्यानादीभिः, ' लभ्यः '—प्रापणीयोऽस्ति, तथा ' तानि '—तपोयमध्यानादीनि, ' तस्मै '—जगदीशाय, ' रुच्यै '—प्रीतये सन्ति, तर्हि यस्मै ' एतानि '—तपःप्रभृतीनि, ' रुचये '—प्रीतये भवन्ति, स ' जातु '—कदाचित्, ' ईदृशीम् '—उक्तप्रकारां, ' लीलाम् '—क्रीडाम्, जनानां दुःखदां ' न करोति '—न विधत्ते, अत्र लौकिके क्रीडामित्यर्थः ' लोके '—संसारेऽपि, ' जीवादिकघातनोत्था '—प्राण्यादि हिंसाजन्या, 'लीला'—क्रीडा, 'तेन'—

१. स्वचित्ताभीष्टागम्यगमनादिक्रीडां विदधत् । २. स खुदाईनामा जगदीशः । ३. तपःप्रभृतीनि । ४. जनानां दुःखदा-नरागद्वेषादिविश्रानसहारादिकाम् ।

ईश्वरेण एव, 'समा'-सर्वा, 'निषिद्धाऽस्ति'-प्रतिषिद्धा वर्तते ॥ ५४-५५ ॥

मूलम्—अन्यान्निषेधन्पुनरात्मना सृजं-स्तदा स कोऽतीव विनिन्दितः स्यात् ।
एवं त्वनालोचनकर्मकारं, वयं न कर्त्तारमिमं वदामः ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तविषय एव आह-अन्यानित्यादि यदा यः ' अन्यान् '-परान्, ' निषेधन् '-प्रतिवारयन्, ' पुनः '-परन्तु, ' आत्मना '-स्वेन, ' सृजन् '-कुर्वन्, भवतीतिशेषः, ' स कः '-सः, 'तदा'-तस्मिन् काले, 'अतीव'-अत्यन्तं, 'विनिन्दितः'-कुत्सितः, ' स्यात् '-भवति, फलितमाह-एवमित्यादिना ' तु ' शब्दो विशेषणार्थः, ' एवम् '-उक्तप्रकारम्, ' अनालोचन-कर्मकारम् '-असमीक्ष्य कारिणम्, ' इमं '-पूर्वोक्तं, ' कर्त्तारं '-कारकम्, ' न वदामः '-न कथयामः ॥ ५६ ॥

मूलम्—यत्त्वद्वचोन्यासभरैः स कर्त्ता, पूतः स्वयं स्वीयजनान्पुनानः ।
ज्योतिर्मयाद्योत्थगुणैर्विशिष्टः, सोऽपि स्वकांशान्स्वैरसाद्विमोहे ॥ ५७ ॥
संसारभावे विरचय्य सद्यो, जीवत्वमेवं बहुदुःखपात्रं ।
नुदत्ययं चेन्नहि तर्हि कर्त्तु-रंशा इमे प्राणभृतोऽपरे यत् ॥ ५८ ॥

टीका—अत्र पुष्टिमाह-यत्त्वदित्यादिना ' यत् '-यस्मात्कारणात्, ' त्वद्वचोन्यासभरैः '-तव वाक्योपन्यसनसमुदायैः, ' सः '-पूर्वोक्तः, ' कर्त्ता '-कारकः, ' स्वयं '-स्वतः, ' पूतः '-पवित्रोऽस्ति, ' स्वीयजनान् '-स्वमनुष्यान्, ' पुनानः '-

१. प्रागेव ब्रह्मलक्षणसदृशलक्षणः त्वदुक्तः कर्त्ता । २. स्वकीयात् कस्माच्चिल्लीलादिरसात् ।

पवित्रीकुर्वन्, अस्ति तथा 'ज्योतिर्मयाद्योत्थगुणैः'–ज्योतिर्मयप्रभृत्युत्पन्नैर्गुणैः, 'विशिष्टः'–युक्तोऽस्ति, 'सः'–पूर्वोक्तः, 'अयं'–प्रसिद्धो जगदीश्वरः, 'चेत्'–यदि, 'स्वकांशान्'–आत्मनोऽशान्, जंतून्, 'स्वरसात्'–आत्मन आनंदहेतोः, आत्मनो लीलादिरसेनेतिभावः, 'विमोहे'–मोहयुक्ते, 'संसारभावे'–संसारित्वे, 'विरचय्य'–निर्माय, 'सद्यः'–शीघ्रम्, 'एवम्'–उक्तप्रकारं, 'बहुदुःखपात्रम्'–अनेकदुःखानां स्थानं, 'जीवत्वं'–जीवभावं, 'नुदति'–प्रेरयति, 'तर्हि'–तदा, 'इमे'–प्रसिद्धाः, 'प्राणभृतः'–प्राणिनः, 'कर्त्तुः'–जगत्कारकस्य, 'अंशाः'–अवयवाः, 'नहि'–नैव, सन्ति, 'यत्'–यस्मात्कारणात्, 'अपरे'–भिन्नाः सन्ति ॥ ५७–५८ ॥

मूलम्—कर्त्ता कथं सङ्कटपेटकोदरे, दौर्गत्यदौस्थ्यादिमये भवेऽस्मिन् ।
जानन्निजांशान्सहसैव नुद्यात्, स्वकस्वरूपाद्विनिपात्य रम्यात् ॥ ५९ ॥

टीका—जीवप्रेरणविषय एव पुनर्दोषमाह–कर्त्तेत्यादिना 'कर्त्ता'–जगदीशः, 'निजांशान्'–स्वांशरूपान्, 'सहसैव'–अविचार्यैव, 'अस्मिन्'–पूर्वोक्ते भवे–संसारे, 'कथं'–केन प्रकारेण, 'नुद्यात्'–प्रेरयेत्, कथं प्रेरयितुं शक्नोतीतिभावः, कथंभूतः कर्त्ता ? 'जानन्'–विदन्, संसारस्थदुःखादिकं जानानोऽपीत्यर्थः, किं कृत्वा नुद्यादित्याह–स्वकेत्यादि 'स्वकस्वरूपात्'–निजस्वरूपात्, 'विनिपात्य'–पातयित्वा[1], प्रच्याव्येति यावत्, कथंभूतात् स्वकस्वरूपात् ? 'रम्यात्'–रमणीयात्, मनोहरादित्यर्थः, कथंभूते भवे ? संकटपेटकोदरे'–संकटानाम्–दुःखानां पेटकं–मंजूषा उदरे–गर्भे यस्य स तथा

१. पातयित्वा ।

तस्मिन्, पुनः कथंभूते ? ' दौर्गत्यदौस्थ्यादिमये '–दौर्गत्यं–दुर्गतिः दौस्थ्यं–दुःखस्थानम् इत्यादिभिर्युक्ते ॥ ५९ ॥

मूलम्—एषा तु लीलाऽस्ति यदीश्वरस्य, संसार एवैष ततस्तदिष्टः[1]।
तदा तु संसारिजनैस्तदाप्त्यै[2], कष्टादि केनाथ विधेयमुग्रम् ॥ ६० ॥

टीका—वादिपक्षपरिहरणपूर्वकं पुनर्दोषमाह–एषा त्वित्यादिना ' यदि '–चेत्, ' एषा '–पूर्वोक्ता, तु, ' ईश्वरस्य '–जगत्स्वामिनः, ' लीला '–क्रीडाऽस्ति, ' ततः '–तर्हि, ' एषः '–दौर्गत्यादिमयः, ' संसारः '–भव एव, ' तदिष्टः '–ईश्वरस्याऽभीष्टोऽस्ति, ' तु ' शब्दो विशेषणार्थः, ' अथे 'ति वितर्के, तदा ' संसारिजनैः '–भववर्त्तिभिर्मनुष्यैः, तदाप्त्यैरीश्वरस्य प्राप्तये उग्रं कष्टादि तीक्ष्णं क्लेशप्रभृतिदुस्तरतपश्चर्यादीतिभावः, ' केन '–कारणेन, ' विधेयम् '–कर्त्तव्यमस्ति, यदीश्वरस्य संसार एवाभीष्टस्तर्हि सांसारिकजनैस्तत्प्राप्तये दुस्तरतपश्चर्यादिकृत्यं किमर्थं क्रियत इतिभावः ॥ ६० ॥

मूलम्—पूर्वापरानाश्रितवाक्यमेतत्, प्रजल्पतां काऽपि न वाक्प्रतीतिः।
य सर्वसद्रूपगुणानदोषान्, कर्त्तुर्वराशानिति पातयन्ति ॥ ६१ ॥

टीका—फलितमाह–पूर्वापरेत्यादिना ' एतत् '–पूर्वोक्तं, ' पूर्वापरानाश्रितवाक्यं '–पूर्वापरासंबद्धवचनम्, ' प्रजल्पताम् '–कथयताम्, ' तेषां '–यवनाचार्यादीनाम्, ' काऽपि '–काचिदपि, ' वाक्प्रतीतिः '–वचनेषु विश्वासो न भवति, ये, ' कर्त्तुः '–जगदीश्वरस्य, ' सर्वसद्रूपगुणान् '–सर्वोत्तमस्वरूपान् गुणान्, इति ' एतेन '–उक्तप्रकारेण, ' पातयन्ति '–

१. परमेश्वरस्येष्टः । २. परमेश्वरप्राप्त्यै ।

विनाशयन्ति, अनाद्रियंत इतिभावः, कथंभूतान् सर्वसद्रूपगुणान् ? ' अदोषान् '–दोषरहितान्, पुनः कथंभूतान् ? ' वरांशान् '–ईश्वरस्य श्रेष्ठभागस्वरूपान् ॥ ६१ ॥

कर्मणा जीवस्य सुखदुःखादिर्भवति, तथापि परमेश्वरे कर्तृत्वारोपणं श्लोकाष्टकेनाह—

मूलम्—किं[1] तर्हि वाच्यं शृणु किञ्चिदस्ति, ज्योतिर्मयं चिन्मयमेकरूपम् ।
द्रष्टृ[2] प्रजानां[3] सुखदुःखहेतुं[4], योगीश्वरध्येयतमस्वभावम् ॥ ६२ ॥

टीका—अत्र स्वसिद्धान्तं दर्शयितुमाह—किं तर्हीत्यादि ' किमि 'ति–यदि त्वमेवं ब्रूया यत्तर्हि किमस्तीतिभावः, ' तर्हि '–तदा, ' किंचित् '–किमपि, ' वाच्यमस्ति '–कथनीयं विद्यते, तत्, ' शृणु '–निशामय, स्वब्रह्मैवमस्ति, कथंभूतम् ? इत्याह–ज्योतिरित्यादिना ' ज्योतिर्मयं '–प्रकाशस्वरूपम्, पुनः कथंभूतम् ? ' चिन्मयं '–ज्ञानस्वरूपम्, पुनः कथंभूतम् ? ' एकरूपम् '–अद्वितीयस्वरूपम्, पुनः कथंभूतम् ? ' प्रजानां सुखदुःखहेतुं '–द्रष्टलोकानां सुखदुःखकारणम्, पुण्यपापदर्शकम्, पुनश्च कथंभूतम् ? ' योगीश्वरध्येयतमस्वभावम् '–योगीश्वरैर्योगिराजैर्ध्येयतमोऽतिशयेन चिन्त्यः स्वभावो यस्य तत्तथा ॥ ६२ ॥

---

१. सिद्धान्ती स्वेष्टं परब्रह्मपरमेष्ठिलक्षणमपरनामसिद्धाख्यं निरूपयति । २. दर्शकम् । ३. लोकानां सम्बन्धिनम् । ४. पुण्यपापलक्षणं प्रति पुण्यपापयोस्तस्य दर्शकत्वे तयोस्तत्तत्फलवत्त्वं स्यात् यथा साक्षिणि सति पुण्यपापयोः फलाफलोपलम्भः सुलभो-भवति लोका अपि वदन्ति सर्वं कृतं शुभाशुभं भगवान् वेत्तीति तात्पर्यार्थः ॥

मूलम्—दौर्गत्यदुःखे सुगतिं सुखं च, प्राप्नोति तादृक्कृतकर्मयोगात् ।
जीवो यदा त्वेष समानभावं, श्रयेत्तदा गच्छति ब्रह्मभूयम् ॥ ६३ ॥

टीका—जीवानां सुखदुःखविषये सिद्धान्तमाह—दौर्गत्येत्यादिना 'जीवः'—जन्तुः, 'तादृक्कृतकर्मयोगात्'—तथाविधं विहितकर्मसंयोगेन, 'दौर्गत्यदुःखे'—दुर्गतिं दुःखं च, पुनः 'सुगतिं'—शोभनां गतिं, 'सुखं'—सौख्यं च, 'प्राप्नोति'—लभते, 'यदा'—यस्मिन्काले, तु, एषः जीवः, 'समानभावम्'—समत्वम्, रागद्वेषविरहितत्वमित्यर्थः, 'श्रयेत्'—आश्रयति, 'तदा'—तस्मिन्काले, 'ब्रह्मभूयं'—ब्रह्मत्वं, 'गच्छति'—प्राप्नोति ॥ ६३ ॥

मूलम्—तुष्टिर्जनानां परमेश्वरस्य, चेत्सृष्टिसंहारकथाप्रवृत्त्या ।
स्फूर्त्तिप्रभावप्रतिपादनार्थं, तदेति वाच्या स्तुतिरीश्वरस्य ॥ ६४ ॥

टीका—तुष्टिरित्यादि 'चेत्'—यदि, 'परमेश्वरस्य'—शिवस्य, 'सृष्टिसंहारकथाप्रवृत्त्या'—जगद्रचनतत्संहारवार्त्तायाः प्रवृत्तेः, 'जनानां'—मनुष्याणाम्, 'तुष्टिः'—प्रसादो भवतीति, 'तदा'—तर्हि, 'स्फूर्तिप्रभावप्रतिपादनार्थं'—दीप्तिप्रतापकथनार्थम्, 'इति'—अनया रीत्या, ईश्वरस्य, 'स्तुतिः'—स्तवः, 'वाच्या'—कथनीया भवति ॥ ६४ ॥

मूलम्—आस्तामयं श्रीपरमेष्ठिनामा, तद्ध्यानवानेष जनोऽभिनिष्यात् ।
कर्त्ता सुखस्यात्मनि संविधानात्, संहारकश्चात्मतमोपहारात् ॥ ६५ ॥

---

१. ब्रह्मत्वं । २. स्यात् ।

टीका—आस्तामयमित्यादि 'अयम्'–प्रसिद्धः, 'श्रीपरमेष्ठिनामा'–श्रीपरमेष्ठिनामक,' आस्ताम्'–तिष्ठतु, 'तद्ध्यानवान्'–श्रीपरमेष्ठिध्यानकर्त्ता, 'एषः'–प्रसिद्धः, 'जनः'–नरः, 'आत्मनि'–स्वस्मिन्, 'सुखस्य'–सौख्यस्य, ' संविधानात् '–करणात्, 'कर्त्ता'–कारकः, ' अभिनिष्यात् '–भवेत्, ' च '–पुनः, ' आत्मतमोपहारात् '–स्वांधकारनाशात्, ' संहारकः '–संहारकर्त्ता स्यात्, श्रीपरमेष्ठिध्यानकर्त्ता जन आत्मनि सुखकरणात् कर्त्ता आत्मांधकारनाशाच्च संहारको भवितुमर्हतीतिभावः ॥ ६५ ॥

मूलम्—यथैव लोके किल कोऽपि शूरः, स्वाम्यात्तशस्त्रैरपि सर्वशत्रून् ।
सञ्जित्य तत्संहृतिकृन्निजाङ्गे, सुखस्य कृत्यापि भवेत्स कर्त्ता ॥ ६६ ॥

टीका—अत्रैव लौकिकोदाहरणमाह–यथैवेत्यादिना ' यथैवे 'ति तथाहीत्यर्थः, ' किले 'ति निश्चये, ' लोके '–संसारे, ' कोऽपि '–कश्चित्, ' शूरः '–वीरः, ' स्वाम्यात्तशस्त्रैरपि '–स्वामिसकाशात् गृहीतैः शस्त्रैरपि, ' सर्वशत्रून् सञ्जित्य '–सकलशत्रूणां पराजयं कृत्वा, तत् ' संहृतिकृत् '–शत्रुसंहृतिकर्त्ता भवति, तथा ' निजाङ्गे '–स्वशरीरे, ' सुखस्य '–सौख्यस्य, ' कृत्यापि '–कारणेनापि, ' कर्त्ता '–कारको, ' भवेति '–भवत्, शत्रुसंहारकरणात् स संहर्त्ताऽऽत्मनि सुखोपादनाच्च स कर्त्तोच्यत इतिभावः ॥ ६६ ॥

मूलम्—यथाऽत्र शस्त्रादिकवस्तुनेतुः, स्थाने स्थितस्यापि न हि प्रयासः ।
तथेश्वरस्यापि भवेन्न काचित्, क्रिया यतो निष्क्रियतापि सिद्धा ॥ ६७ ॥

---

१. स्वामिनः ।

टीका—उदाहरणविस्पष्टेन फलितमाह–यथेत्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, ' अत्र '–अस्मिन् संसारे, ' स्थाने स्थितस्याऽपि '–स्वस्थले उपविष्टस्याऽपि, ' शस्त्रादिकवस्तुनेतुः '–शस्त्रादिपदार्थस्वामिनः, ' ही 'ति निश्चये, ' प्रयासः '–परिश्रमः, न भवति ' तथा '–तेनैव प्रकारेण, ' ईश्वरस्याऽपि '–परमेश्वरस्याऽपि, ' काचित् '–काऽपि, ' क्रिया '–कृत्यं, ' न भवेत् '–न भवति, ' यत इति ' अस्मात्कारणादित्यर्थः, ' निष्क्रियतापि '–निष्क्रियत्वमपि, क्रियारहितत्वमितिभावः, ईश्वरस्यापि, ' सिद्धाः '–सिद्धिमुपगताः ॥ ६७ ॥

मूलम्—शूरोऽपि चैवं सति शस्त्रभर्तु–र्महोपकारं किल मन्यतेऽसौ ।
अधीशभक्तोऽपि तदीयनाम–ध्यानोत्थसौख्यस्तकमेव वक्ति ॥ ६८ ॥

टीका—उक्तविषयमेव विस्पष्टयति–शूरोऽपीत्यादिना ' एवं च सती'ति–उक्तवृते सतीत्यर्थः, ' असौ '–पूर्वोक्तः, ' शूरोऽपि '–वीरोऽपि, ' किले 'ति निश्चये, ' शस्त्रभर्तुः '–शस्त्रस्वामिनः, ' महोपकारं '–महतीमुपकृतिं, ' मन्यते '–जानाति, दार्ष्टान्ते योजनामाह–अधीशेत्यादिना एवम् ' तदीयनामध्यानोत्थसौख्यः '–ईश्वरनामध्यानेन उत्पन्नं सुखम् यस्मै, ' सः '–एवंभूतः, ' अधीशभक्तोऽपि '–ईश्वरभजनकर्त्ताऽपि, ' तकमेव '–उत्पन्नसुखकारकमधीशमेवेत्यर्थः, ' वक्ति '–कथयति, यथा शूरः कार्यसिद्धौ शस्त्रस्वामिमहोपकारं मन्यते तथेश्वरनामध्यानोत्पन्नसुखं ईश्वरभक्तोऽपि तत्सुखकर्त्तारमीश्वरमेव वक्तीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

१. शस्त्रनायकस्य । २. तत्सौख्यकरं तमधीशमेव वक्ति तस्य सेवकत्वात् ।

मूलम्—एवं ह्यनेके खलु सन्ति संतो, दृष्टान्तसङ्घाः सुधिया समुह्याः ।
तथा सतीशो महिमापि विश्रुतो, भक्तुश्च सर्गप्रतिसर्गकर्तृता ॥ ६९ ॥

टीका—निजमतकथनपूर्वकमधिकारमुपसंहर्तुमाह–एवमित्यादि ' हि ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' खल्वि 'ति निश्चये, ' एवम् '–उक्तप्रकारेण, ' अनेके '–बहवः, ' दृष्टान्तसङ्घाः '–दृष्टान्तसमूहाः, ' सन्तः '–विद्यमानाः श्रेष्ठा वा, ' सन्ति '–वर्तन्ते, ' सुधिया '–विदुषा, ' समुह्याः '–तर्कनीयाः, फलमाह–तथा सतीत्यादिना ' तथा सतीति '–उक्तविषयाभ्युपगम इत्यर्थः, ' ईशः '–ईश्वरः, ' विश्रुतः '–प्रख्यातो भवति तस्य, ' महिमाऽपि '–महत्त्वमपि, श्रुतो भवति, ' च '–पुनः, ' भक्तुः '–भजनकर्तुः, ईश्वरभक्तस्येत्यर्थः, ' सर्गप्रतिसर्गकर्तृता '–सृष्टिसंहारकर्तृत्वम् विश्रुता भवति ॥ ६९ ॥

श्रीजैनतत्त्वसारे परब्रह्मविचारोक्तिलेशः
अष्टमोऽधिकारः समाप्तः

---

१. सृष्टिसंहार ।

अथ नवमोऽधिकारः

ब्रह्मणः स्वरूपम्—

मूलम्—किं ब्रह्म सिद्धापरनामकीर्त्तितं, ध्येयं मुनीनामपि शुद्धचेतसाम् ।
भवार्णवे यानवदेव योगिनो, जानन्ति यन्मुक्तिगृहं यियासवः ॥ १ ॥

टीका—इदानीं ब्रह्मविषये प्रश्नयति—किं ब्रह्मेत्यादिना हे स्वामिन् ! ब्रह्म 'किं'—कीदृग्रूपमस्ति ? उत्तरमाह—सिद्धापरेत्यादिना यत् 'सिद्धापरनामकीर्त्तितं'—सिद्धेत्यपरनाम्ना कथितम्, 'मुनीनामपि ध्येयम्'—ऋषीणामपि ध्यातुम् योग्यम्, किं पुनरन्येषामित्यपि शब्दभावः, कथंभूतानां मुनीनां ? 'शुद्धचेतसाम्'—निर्मलमानसानाम्, यच्च 'भवार्णवे'—संसारसागरे, 'योगिनः'—योगाभ्यासकर्त्तारः, 'यानवदेव'—प्रवहणतुल्यमेव, 'जानन्ति'—बुध्यन्ते, कथंभूता योगिनः ? 'मुक्तिगृहं'—मोक्षपदं, 'यियासवः'—गन्तुमिच्छवः, तत् ब्रह्मास्ति ॥ १ ॥

१. अथ जिज्ञासुः पृच्छति ब्रह्मभूयमित्यत्र किं नाम ब्रह्मेत्युक्ते तज्जिज्ञासोराशयेन वदति सिद्धान्ती । २. यत् सिद्धापरनाम ब्रह्म भवार्णवे संसारसागरे योगिनः मुक्तिरूपं गृहं प्रति प्राप्तुकामाः प्रवहणवत् आमनन्ति । गृहप्रवेशे तु कर्त्तव्ये यथा प्रवहणं परित्यज्यते तथा मुक्तिगृहगमनावसरे सिद्धध्यानमपि संत्यज्यात्मध्यानं च समभावलक्षणमाश्रित्य मुक्तिगृहं प्रविशन्तीतिभावः ।

कालादि पञ्चभ्यो जगदुत्पत्तिं तत्प्रलयञ्च श्लोकद्वयेनाह—

मूलम्—स्वामिन् ! यदीयं न हि सृष्टिरुत्थिता, सकाशतो ब्रह्मण इत्यवाचि चेत् ।
इयं कुतः स्यादपयाति वा कुतो, निगद्यतामद्य रहस्यमेतकद् ॥ २ ॥

टीका—ब्रह्मस्वरूपमवगत्य जगत्सृष्टिसंहारविषये प्रश्नयति स्वामिन्नित्यादिना ' हे स्वामिन् ! '–हे प्रभो !, ' यदीयं '–पूर्वोक्ता सृष्टिः–जगद्रचना, ' ब्रह्मणः सकाशतः '-ब्रह्मणोऽन्तिकात्, ' न ह्युत्थिता '–नोत्पन्ना, ' इति '–एतत्, ' चेत् '–इति चरणसूत्रौ, ' अवाचि '–उक्तं भवता, तर्हि इयं सृष्टिः कुतः स्यात् ? कस्माद् भवेत् ? ' वा '–अथवा, ' कुतोऽपयाति '–कस्मात् संहारं प्राप्नोति, ' अद्य '–इदानीम्, ' एतकत् '–एतत्, ' रहस्यम् '–गूढवृत्तं, ' निगद्यताम् '–कथ्यताम् भवता ॥ २ ॥

मूलम्—त्रिकालविज्ञा इति योगिनो ये, निरागिणस्तेऽभिदधुर्विशिष्टाः ।
कालात्स्वभावान्नियतेश्च वीर्यतः, सृष्टिक्षयौ स्तः समवायपञ्चकात् ॥ ३ ॥

टीका—उक्तप्रश्नस्योत्तरमाह–त्रिकालविज्ञा इत्यादिना ' ये विशिष्टाः '–महान्तो जनाः सन्ति, कथंभूता विशिष्टाः ? ' त्रिकालविज्ञाः '–भूतभविष्यद्वर्तमानकालस्थपदार्थज्ञातारः, पुनः कथंभूताः ? ' योगिनः '–योगाभ्यासकर्तारः, पुनः कथं-भूताः ? ' निरागिणो '–रागरहिताः, निशब्दोऽत्र निःशब्दार्थः, ' ते इति '–एतद्वक्ष्यमाणम्, ' अभिदधुः '–कथयामासुः, यत् ' कालात् '–कालसकाशात्, ' स्वभावात् '–स्वभावसकाशात्, ' नियतेः '–नियतिसकाशात्, ' वीर्यतः '–उद्यमाच्च

१. कालः स्वभावनियती, पूर्वकृतं पुरुषकारणं पञ्च । समवाये सम्यक्त्व-मेकत्वे भवति मिथ्यात्वम् ॥ इति जैनतत्त्वम् ।

कर्मण इत्यवगन्तव्यम् 'एतस्मात्', समवायपञ्चकात्'-पञ्चानां समवायात्, 'सृष्टिक्षयौ स्तः'-सर्जनसंहारौ भवतः ॥ ३ ॥

ब्रह्मणो ब्रह्मणि लीनत्वं, ज्योतिषि ज्योतिषो मेलनं श्लोकचतुष्टयेनाह—

मूलम्—मुनीश्वराः! ब्रह्मणि ब्रह्म लीयते, ज्योतिस्तथा ज्योतिषि संविशेदिति।
कथं प्रवादो घटते महात्मना-मयं विना ब्रह्म पुराणवेदिनाम् ॥ ४ ॥

टीका—ब्रह्मणोऽभावे दूषणं भवतीत्याशंकामाह—मुनीश्वरा इत्यादिना 'हे मुनीश्वरा!'-हे मुनिराजाः!, 'ब्रह्मणि ब्रह्म लीयते'-ब्रह्मविषये ब्रह्म लयं याति, 'तथे'ति समुच्चये, 'ज्योतिषि ज्योतिः संविशेत्'-ज्योतिर्विषये ज्योतिः संविष्टं भवति, 'इत्ययम्'-इत्येषः, 'महात्मनां'-महोदयानां, 'प्रवादः'-कथनम्, 'ब्रह्म विना'-ब्रह्मांतरेण, ब्रह्मण्यसतीतिभावः, 'कथं'-केन प्रकारेण, 'घटते'-सिद्ध्यति, कथंभूतानाम् महात्मनाम्? 'पुराणवेदिनाम्'-पुरातनतत्त्वज्ञातॄणाम् ॥ ४ ॥

मूलम्—निशम्यतां ज्ञानमिदं वदन्ति, ब्रह्मेति वा ज्योतिरथेति विज्ञाः।
तदेकसिद्धस्य हि ब्रह्म यावत्, क्षेत्रं श्रयेत्सर्वदिशास्वनन्तम् ॥ ५ ॥

---

१. पुरातनतत्त्वविदाम्। २. ब्रह्मशब्देन ज्ञानमुक्तमनेकार्थैः, तदेव ज्ञानं प्रकाशकत्वात् ज्योतिरिव ज्योतिरिति ज्योतिरपि लोका व्यवहरन्ति तत एकस्यापि परमज्ञानस्य ब्रह्म ज्योतिश्चेति नामद्वयं लोकाः श्रितास्ततो लोकाशयेनोच्यते ब्रह्मेति ज्ञानं ज्योतिर्वेति।

तावद् द्वितीयस्य तृतीयकस्य, सिद्धस्य ब्रह्मा[1]श्रयते तदेव ।
एवं ह्यनन्ता[2]मितसिद्धनाम्नां, ब्रह्मा[3]श्रयेत् क्षेत्रमहो तदाश्रितम्[4] ॥ ६ ॥
तेनेति गीर्ब्रह्मणि ब्रह्म लीयते, ज्योतिस्तथा ज्योतिषि सम्मिलत्यथ
अयं प्रवादो मुनिभिः पुरातनैः, समाश्रितो ब्रह्म[5]यथार्थवेदिभिः ॥ ७ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–निशम्यतामित्यादिना ' निशम्यतां '–श्रूयताम् त्वया, ' विज्ञाः '–तत्त्वविदः, ' इदं '–प्रसिद्धं, ' ज्ञानं '–ब्रह्म इति, ' वदन्ति '–ब्रह्मनाम्ना कथयन्ति, ' वा '–अथवा, ' अथे 'ति अनंतरे, ' इदं '–ज्ञानम्, ' ज्योतिरिति '–ज्योतिर्नाम्ना वदंति । विज्ञा ब्रह्मशब्दवाच्यं ज्ञानम् ज्योतिर्वा कथयन्तीतिभावः, तेन किमुक्तं भवतीत्याह–तदेकेत्यादिना ' ही 'ति निश्चये, ' तत् –'तस्मात् कारणात्, ' एकसिद्धस्य '–एकस्य सिद्धस्य, ' ब्रह्म '–ज्ञानं ज्योतिर्वा कर्तृपदं, ' सर्वदिशासु '–सकलासु दिशासु, ' यावत् '–यत् परिमाणकं, ' अनन्तम् '–अन्तरहितम्, ' क्षेत्रं ' ' श्रयेत् '–आश्रयति, ' द्वितीयस्य '–अपरस्य, तथा ' तृतीयकस्य '–तृतीयस्य, ' सिद्धस्य ' ' ब्रह्म '–ज्ञानं ज्योतिर्वा, ' तावत् '–परिमाणकं, ' तदेव '–सर्वासु दिशासु, ' अनंतं क्षेत्रमेव ' ' आश्रयते '–आश्रितं करोति, ' एवम् '–अनया रीत्या, ' ही 'ति निश्चये, ' अहो ' इति विस्मये, ' अनन्तामितसिद्धनाम्नां '–अनन्ता अत एवामिता ये सिद्धा इति नामानस्तेषां, ' ब्रह्म '–ज्ञानं ज्योतिर्वा, ' तदाश्रितम् '–सिद्धज्ञानाश्रितम्, सिद्धज्योतिराश्रितं वा, ' क्षेत्रम् ' ' आश्रयेत् '–आश्रयति, फलितमाह–तेनेत्यादिना ' तेन '–कारणेन,

---

१. ज्ञानम् । २. अनन्ता अत एवामिता ये सिद्धा इतिनामानः । ३. ज्ञानं ज्योतिर्वा । ४. सिद्धज्ञानाश्रितम् । ५. ब्रह्मशब्दार्थवेदिभिः ।

'ब्रह्मणि ब्रह्म लीयते '–ब्रह्मविषये ब्रह्म लयं याति, 'अथ '–अनन्तरम्, 'तथे 'ति समुच्चये, 'ज्योतिः सम्मिलति '–ज्योतिर्विषये ज्योतिः सम्मेलं प्राप्नोति, 'इति '–एषा, 'गीः '–वाणी, कथनमित्यर्थो भवति, अत्र पुष्टिमाह–अयमित्यादिना 'मुनिभिः '–महात्मभिः, 'अयं '–पूर्वोक्तः, 'प्रवादः '–कथनं, 'समाश्रितः '–अवलम्बितः, आहत इतिभावः, कथंभूतैर्मुनिभिः ? 'पुरातनैः '–प्राचीनैः, पुनश्च कथंभूतैः ? 'ब्रह्मयथार्थवेदिभिः '–ब्रह्मशब्द–सत्यार्थज्ञातृभिः ॥ ५–६–७ ॥

ब्रह्मसिद्धयोरसंकीर्णतां श्लोकचतुष्टयेनाह—

मूलम्—एवं सति प्राज्ञवराः ! कथं न तत्, क्षेत्रस्य साङ्कर्यमथो भवेत्तथा ।
परस्परालिङ्गितब्रह्मणोऽप्यहो !, संकीर्णता केन भवेन्न तत्र ॥ ८ ॥

टीका—अत्र वादी पुनः शङ्कते–एवं सतीत्यादि 'अथो '–प्रश्नद्योतने, 'हे प्राज्ञवराः ! '–हे विद्वच्छ्रेष्ठाः, 'एवं सति '–उक्तविषयाभ्युपगमे सति, 'तत् '–प्रसिद्धम्, 'क्षेत्रस्य ' 'सांकर्यं '–संकीर्णत्वं, 'कथं '–कुतः ? 'न भवेत् '–न जायते, 'तथे 'ति समुच्चये, 'अहो ! '–इति विस्मये, 'तत्र '–तस्मिन् स्थले, 'परस्परालिङ्गितब्रह्मणोऽपि '–मिथः कृतालिङ्गनस्य ज्ञानस्यापि ज्योतिषोऽपि वा, 'संकीर्णता '–संकीर्णत्वम्, सांकर्यमिति यावत्, 'केन '–कारणेन, 'न भवेत् '–न भवति ॥ ८ ॥

---

१. मिथो मिलितज्ञानस्य ज्योतिषो वा ।

मूलम्—यथैव कस्याऽपि मनीषिणो हृदि, प्रभूतशास्त्राक्षरसङ्ग्रहे सति ।
साङ्कर्यमस्योरसि नैव जायते, न चाक्षराणां परिपिण्डता भवेत् ॥ ९ ॥
एवं चिदाश्लिष्टदिवः समन्ततो, न ब्रह्मभिर्ब्रह्मपरम्पराश्रितैः ।
सङ्कीर्णताऽथो नभसा न ब्रह्मणा–मिह प्रवीणा इति संविदा जगुः ॥ १० ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–यथैवेत्यादिना ' यथैव '–येन प्रकारेणैव, ' कस्यापि '–कस्यचित्, ' मनीषिणः '–बुद्धिमतः, ' हृदि '–हृदये, ' प्रभूतशास्त्राक्षरसंग्रहे सति '–बहूनां शास्त्राणाम् वर्णानाम् संग्रहे जाते सत्यपि, ' अस्य '–मनीषिणः, ' उरसि '–वक्षःस्थले, ' सांकर्यं '–संकीर्णत्वम्, ' नैव जायते '–न भवति, ' च '–पुनः, ' अक्षराणां '–वर्णानाम्, ' परिपिण्डता '–पिंडीभावोऽपि, ' न भवेत् '–न भवति, दृष्टान्तं दार्ष्टान्ते घटयति–एवमित्यादिना ' एवम् '–उक्तप्रकारेण, ' समन्ततः '–परितः, ' ब्रह्मपरंपराश्रितैः '–ज्ञानपरंपराधीनैर्ज्योतिः परंपराधीनैर्वा, ' ब्रह्मभिः '–ज्ञानैर्ज्योतिभिर्वा, ' चिदाश्लिष्टदिवः '–ज्ञान-संश्लिष्टक्षेत्रस्य, ज्योतिःसंश्लिष्टक्षेत्रस्य वा, ' संकीर्णता '–संकीर्णत्वम्, न भवति, ' अथे 'ति समुच्चये, ' नभसा '–आकाशेन, क्षेत्रस्थाकाशेनेतिभावः, ' ब्रह्मणां '–ज्ञानानां ज्योतिषां वा, न संकीर्णता भवति, ' इह '–अस्मिन्संसारे, ' प्रवीणाः '–चतुराः, ' संविदा '–ज्ञानेन, ' इति '–एतत्पूर्वोक्तम्, ' जगुः '–कथयामासुः ॥ ९–१० ॥

मूलम्—इत्थं हि सिद्धैः परिपूरितं शिव–क्षेत्रं न सङ्कीर्णमहो ! भवेत्कदा ।
सिद्धास्तथा सिद्धपरम्पराश्रिताः, साङ्कर्यबाधारहिता जयन्ति भोः ॥ ११ ॥

टीका—फलितमाह–इत्थमित्यादिना ' ही 'ति निश्चये, ' अहो ! '–इति विस्मये, ' इत्थम् '–उक्तप्रकारेण, ' सिद्धैः '–सिद्धिं गतैः, ' परिपूरितम् '–व्याप्तम्, ' शिवक्षेत्रं '–सिद्धक्षेत्रम्, ' कदा '–कदाचित्, ' संकीर्णं '–संकीर्णतायुक्तं, ' न भवेत् '–नैव भवति, ' तथे 'ति समुच्चये, ' भोः '–इत्यामंत्रणे, ' सिद्धपरंपराश्रिताः '–सिद्धपरंपराधीनाः सिद्धाः, ' साङ्कर्यबाधारहिताः '–संकीर्णत्वरूपबाधया विहीनाः, ' जयन्ति '–विजयिनो भवन्ति ॥ ११ ॥

श्रीजैनतत्त्वसारे एकसिद्धक्षेत्रेऽनेकसिद्धावस्थानाभिधानोक्तिलेशो नवमोऽधिकारः समाप्तः

अथ दशमोऽधिकारः

निगोदजीवानामनन्तकालपर्यन्तम् निगोददुःखे वसनमित्यादि त्रयोदशश्लोकैराह—

मूलम्—प्रश्नः पुनः पृच्छयत एष पूज्याः !, निगोदजीवानधिकृत्य तद्वत् ।
निगोदजीवाश्च निगोद एव, तिष्ठन्ति केनाऽशुभकर्मणा ते ॥ १ ॥
यत्ते हि जन्मात्ययमाचरन्तः, कर्माणि कर्त्तुं न लभन्ति वेलाम् ।
तत्कर्मणा केन परेतदुःखा–नन्तव्यथां तेऽनुभवन्ति दीनाः ॥ २ ॥

१. मरणम् । २. परेता नारकास्तेषां यानि दुःखानि तेभ्योऽप्यनन्ता व्यथा येषां ते ।

ये तेषु केचिद्व्यवहारराशि-मायान्ति ते स्युः क्रमतो विशिष्टाः ।
राशेः पुनर्यें व्यवहारनाम्नो, निर्गत्य जीवा अभियान्ति तेऽपि ॥ ३ ॥
निगोदजीवत्वमथो लभन्ते, कथं व्यवस्था कुत आविरस्ति ।
निशम्यतां सम्यगयं विचारो, विचारसञ्चारितचित्तवृत्ते ! ॥ ४ ॥

टीका—निगोदजीवानधिकृत्य प्रश्नयति-प्रश्न इत्यादिना ' हे पूज्याः ! '–हे माननीयाः !, ' तद्वत् '–पूर्वानुसारेण, ' निगोदजीवानधिकृत्य '–निगोदजीवानुद्दिश्य, ' पुनः '–पुनरपि, ' एषः '–वक्ष्यमाणः प्रश्नः, ' पृच्छ्यते '–पृच्छां नीयते, ' ये '–निगोदजीवाः सन्ति, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' केन ' ' अशुभकर्मणा '–निकृष्टकर्मणा, ' निगोद एव ' ' तिष्ठन्ति '–स्थितिं कुर्वन्ति, ' यत् '–यस्मात् कारणात्, ' ही ' ति निश्चये, ' ते '–निगोदजीवाः, ' जन्मात्ययम् '–जन्मनो नाशम्, मरणमितिभावः, ' आचरन्तः '–कुर्वन्तः, ' कर्माणि कर्त्तुं '–कार्याणि विधातुम्, ' वेलां '–समयं, ' न लभन्ति '–न प्राप्नुवन्ति, परस्मैपदं चिन्त्यम्, ' तत् '–तर्हि, ' दीनाः '–दुःखिताः, ' ते '–निगोदजीवाः, ' केन '–कर्मणा, ' परेतदुःखानन्तव्यथां '–परेता नारकास्तेषां यानि दुःखानि तेभ्योऽप्यनंतां व्यथां–पीडां, ' अनुभवन्ति '–भोगे समानयन्ति, ' तेषु '–निगोदजीवेषु, ' ये '–केचित्, ' केऽपि–निगोदजीवाः, ' व्यवहारराशिमायांति '–अव्यवहारराशितो निष्क्रम्य व्यवहारराशिं प्राप्नुवन्ति, ' ते '–निगोदजीवाः, ' क्रमतः '–क्रमेण, ' विशिष्टाः स्युः '–उत्कृष्टा भवन्ति, ' अथे ' ति आनंतर्ये, ' पुनः ये जीवाः ' ' व्यवहारनाम्नो राशेः '–व्यवहारनामकाद्राशेः, ' निर्गत्य '–निष्क्रम्य, ' अभियान्ति '–

गच्छन्ति, 'तेऽपि जीवाः' 'निगोदजीवत्वम् लभन्ते'–निगोदजीवभावं प्राप्नुवन्ति, एतेषाम् 'कथं'–केन प्रकारेण, 'व्यवस्था'–व्यवस्थानकम्, भवति, 'कुतः'–कस्मात्, 'आविरस्ति'–प्राकट्यं भवति, अस्य प्रश्नस्योत्तरमाह–निशम्यतामित्यादिना 'हे विचारसञ्चारितचित्तवृत्ते!'–विचारे सञ्चारिता–सञ्चारं नीता चित्तवृत्तिर्मनसो भावो येन स तथा तत्संबोधनें, 'अयं'–पूर्वोक्तः, 'विचारः'–परामर्शः, 'सम्यग्'–समीचीनतया, 'निशम्यताम्'–श्रूयतां त्वया ॥ १–४ ॥

मूलम्—निगोदजीवेषु सदैव दुःखं, यदस्ति तत्तादृशजातिभावात् ।
तथाविधक्षेत्रजनिप्रलम्भा–न्महार्त्तिदोदर्कतथाप्रणोदात् ॥ ५ ॥

टीका—विचारमेव दर्शयति–निगोदजीवेष्वित्यादिना 'निगोदजीवेषु' यत् 'सदैव'–सर्वदेव, 'दुःखमस्ति'–दुःखं भवति, 'तत्'–दुःखं, 'तादृशजातिभावात्'–तथाविधजातिस्वभावात्, 'तथाविधक्षेत्रजनिप्रलम्भात्'–तादृशक्षेत्रोत्पत्तिप्राप्तेः, तथा 'महार्तिदोदर्कतथाप्रणोदात्'–महापीडादायकस्योत्तरकालभाविनः फलस्य तथाविधप्रेरणात्[1] ॥ ५ ॥

मूलम्—यथैव लोके लवणोदवारि, क्षारं सदा दुःसहकर्मयोगात् ।
अनन्तकालेऽपि भवेन्न पेयं, यन्नैव वर्णान्तरमाश्रयेन ॥ ६ ॥

टीका—अत्र दृष्टान्तमाह–यथैवेत्यादिना 'यथैवेति'–तथाहीत्यर्थः, 'लोके'–संसारे, 'दुःसहकर्मयोगात्'–दुःखेन सह्यानां कर्मणां संयोगेन, 'लवणोदवारि'–लवणसमुद्रस्य जलं, 'सदा'–सर्वदा, 'क्षारं'–क्षारत्वाविशिष्टम् भवति, तत्,

१. उत्तरकालतादृक्प्रेरणात् ।

' अनन्तकालेऽपि '–अनन्तसमयेऽपि, ' पेयं न भवेत् '–पातुं योग्यं न भवति, ' यत् ' शब्दस्तथार्थः, ' वर्णान्तरम् '–अन्यं वर्णं, ' नैवाश्रयेत् '–नाश्रयति, वर्णान्तरमपि न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

मूलम्—अनन्ततोऽनन्ततरस्त्वनेहा, बभूव वार्द्धेर्लवणोदनाम्नः ।
विनेदृशं कर्म न नाम वाच्यं, तत्कुत्र दुष्कर्म कृतं जलेन ॥ ७ ॥

टीका—उक्तविषयमेव दृढयति–अनन्तत इत्यादिना ' लवणोदनाम्नः '–लवणोदनामकस्य, ' वार्द्धेः '–समुद्रस्य, ' अनंततः–'–अनन्तात्, ' अनंततरः '–अतिशयेनानंतः, अनन्तादप्यधिकोऽनंत इतिभावः, ' अनेहा '–कालः, ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' बभूव '–अभवत्, ' कर्म विना '–कार्यमंतरेण, दुष्कर्म विनेत्यर्थः, ' ईदृशं '—पूर्वोक्तं, ' नाम '–अभिधानम्, लवणोद इति नामेतिभावः, ' न वाच्यम् '–न कथनीयम् भवति, ' तत् '–तर्हि, जलेन, ' कुत्र '–कस्मिन् स्थाने, 'दुष्कर्म'[1]–निकृष्टं कर्म, ' कृतम् '–विहितम् ॥ ७ ॥

मूलम्—यत्रापि गङ्गादिमहानदीभवं, जलं गतं तद्‌गतरूपि तद्रसं ।
निगोदकेषु व्यवहारराशितो, जीवा गतास्तेऽपि भवन्ति तत्समाः ॥ ८ ॥

टीका—उक्तविषयमेव स्पष्टयति–यत्रापीत्यादिना ' गंगादिमहानदीभवं '–गंगादीनां महानदीनां संबंधि, ' जलं '–वारि, अपि, ' यत्र '–यस्मिन् लवणोद इतिभावः, ' गतं '–प्राप्तं सन्, ' तद्‌गतरूपि '–लवणोदस्थितजलस्वरूपम्, 'तथा'

१. दुष्कर्म ।

' तद्रसं '-लवणोदजलरसयुक्तं भवति, एवम् ' व्यवहारराशितः '-व्यवहारराशिमतिक्रम्येतिभावः, ' निगोदकेषु '-निगोदेषु ' गताः '-प्राप्ताः, ' ये जीवाः '-जंतवः सन्ति तेऽपि, ' तत्समाः '-निगोदजीवसदृशाः, ' भवन्ति '-जायन्ते ॥ ८ ॥

मूलम्—तद्वारि मेघस्य मुखं समाप्य, पेयं भवेच्चाथ सुखीभवन्ति ।
एवं निगोदादपि निर्गता ये, संलभ्य जीवा व्यवहारराशिम् ॥ ९ ॥

टीका—तद्वारीत्यादि ' तद्वारि '-लवणोदस्य जलम्, यथा ' मेघस्य '-जलदस्य, ' मुखं '-संबंधं, ' समाप्य '-प्राप्य, ' पेयं भवेत् '-पातुं योग्यं जायते, ' चाथ ' शब्दौ चरणपूर्त्तौ, ' एवम् '-उक्तप्रकारेण, ' ये '-जीवाः-जंतवः, ' निगोदादपि '-निगोदतोऽपि, ' निर्गताः '-निष्क्रान्ता भवन्ति, ते ' व्यवहारराशिं '-व्यवहारनामकं राशिं, ' संलभ्य '-प्राप्य, ' सुखीभवंति '-सुखिनो जायन्ते ॥ ९ ॥

मूलम्—यद्वागमज्ञस्य नरस्य कस्यचित्, हृदन्तरोच्चाटनमन्त्रवर्णाः ।
तिष्ठन्ति तैः किं कृतमत्र दुःकृतं, यदीदृशं नाम निगद्यते जनैः ॥ १० ॥

टीका—दृष्टान्तरमाह-यद्वेत्यादिना ' यद्वा '-अथवा, 'आगमज्ञस्य'-मांत्रिकस्य, ' कस्यचित् '-कस्याऽपि, 'नरस्य'-जनस्य, ' हृदन्तरा '-हृदयमध्ये, 'उच्चाटनमंत्रवर्णाः '-उच्चाटनकारकमंत्रस्याक्षराणि, ' तिष्ठन्ति '-स्थितिं कुर्वन्ति, ' तैः '-उच्चाटनमंत्रवर्णैः, ' अत्र '-अस्मिन् संसारे, किं ' दुष्कृतं '-निकृष्टं कार्यम्, ' कृतं '-विहितमस्ति, ' यत् '-यस्मात्

१ लवणोदस्य वारि । २ मान्त्रिकस्य । ३. उच्चाटनेति दुर्नाम ।

कारणात्, 'जनैः'—नरैः, 'ईदृशं नाम'—इत्थंभूता संज्ञा उच्चाटनेति दुर्नामेत्यर्थः, 'निगद्यते'—कथ्यते ॥ १० ॥

मूलम्—तत्स्था हि वर्णा यदि केऽपि शस्त-मन्त्रस्थितास्ते गदिताः प्रशस्ताः ।
सन्मन्त्रगा येऽपि च मन्त्रवर्णा-स्ते स्युस्तथोच्चाटनदोषदुष्टाः ॥ ११ ॥

टीका—अतो विपर्यासमाह-तत्स्था इत्यादिना 'ही' ति निश्चये, 'यदि'—चेत्, ये 'केऽपि'—केचित्, 'शस्तमन्त्रस्थिताः'—प्रशंसनीयमंत्रसंबंधिनः, 'वर्णाः'—अक्षराणि, 'तत्स्थाः'—मांत्रिकहृदयस्थिता भवन्ति, तर्हि 'ते'—वर्णाः, 'प्रशस्ताः'—श्रेष्ठाः, 'गदिताः'—कथिताः, 'तथे' ति समुच्चये, येऽपि च 'सन्मंत्रगाः'—श्रेष्ठमंत्रसंबंधिनः, 'मंत्रवर्णाः'—मंत्राक्षराणि, भवन्ति, 'ते'—वर्णाः, 'उच्चाटनमंत्रगताः'—उच्चाटनदोषदुष्टाः, उच्चाटनरूपदोषेण युक्ताः, 'स्युः'—भवन्ति ॥११॥

मूलम्—क्षेत्रं निगोदस्य यथा तथेदं, दुर्मान्त्रिकस्याशुभवर्णभृद् हृद् ।
दुर्मन्त्रवर्णाभनिगोददेहिनः, सन्मन्त्रवर्णव्यवहारिजन्मिनः ॥ १२ ॥

टीका—दृष्टान्तदार्ष्टांतिकघटनामाह-क्षेत्रमित्यादिना 'यथा'—यत्प्रकारकं, 'निगोदस्य क्षेत्रमस्ति' 'तथा'—तत्प्रकारकम्, 'इदं'—पूर्वोक्तम्, 'दुर्मांत्रिकस्य'—दुष्टमंत्रज्ञस्य, 'अशुभवर्णभृत्'—निकृष्टाक्षरपूर्णं, 'हृद्'—हृदयमस्ति, 'दुर्मन्त्रवर्णाभनिगोददेहिनः'—दुष्टमंत्रवर्णतुल्या निगोदजीवाः सन्ति, तथा 'सन्मन्त्रवर्णव्यवहारिजन्मिनः'—श्रेष्ठमंत्राक्षरतुल्या व्यवहारराशिगतजीवाः सन्ति ॥ १२ ॥

---

१. शुभमन्त्रवर्णवत् व्यवहारराशिगतजीवाः ।

मूलम्—दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकतेयमात्मना, संयोजनीया समभावभाविना।
एवं च सूक्ष्मा गुरवश्च पण्डितै–र्दृश्यास्तु दृष्टान्तगणाः स्वबुद्धितः ॥ १३ ॥

टीका—फलितमाह–दृष्टान्तेत्यादिना 'समभावभाविना'–समत्वविचारकर्त्रा जनेन, 'इयं'–पूर्वोक्ता, 'दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकता'–दृष्टान्तदार्ष्टांतिकसंगतिः, 'आत्मना'–स्वयं, 'संयोजनीया'–विनियोज्या, 'एवं चे'ति–उक्तरीत्यैवेत्यर्थः, 'सूक्ष्माः'–अगुरवः, 'च'–पुनः, 'गुरवः'–महान्तः, 'दृष्टान्तगणाः'–दृष्टान्तसमूहाः, 'तु'–शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'पण्डितैः'–विद्वद्भिः, 'स्वबुद्धितः'–निजप्रज्ञयैव, 'दृश्याः'–ज्ञातव्याः, विचारणीया इतिभावः ॥ १३ ॥

निगोदजीवानां अदृष्टतां सप्तश्लोकैराह—

मूलम्—दक्षाः ! निगोदासुभृतः समस्तं, संव्याप्य लोकं सततं स्थिताश्चेत्।
ते केन नायान्ति दृशः पथं यके, घनीभवन्तोऽपि न बाधयन्ति ॥ १४ ॥

टीका—निगोदजीवदर्शनविषये प्रश्नमाह–दक्षा इत्यादिना 'हे दक्षाः !'–हे चतुराः !, 'चेत्'–यदि, 'निगोदासुभृतः'–निगोदजीवाः, 'सततं'–निरन्तरं, 'समस्तं लोकं'–सर्वसंसारं, 'संव्याप्य'–व्यापूर्य, 'स्थिताः'–तिष्ठन्ति, तर्हि, 'ते'–निगोदजीवाः, 'केन'–कारणेन, 'दृशः पथम्'–नेत्रस्य मार्गम्, असति समासे दृशः पथमिति चिन्त्यपदम्, 'नायांति'–नागच्छन्ति, 'केन'–कारणेन, न दृश्यंत इतिभावः, 'यके'–ये च, 'घनीभवन्तोऽपि'–घनीभावं प्राप्नुवन्तोऽपि, 'न बाधयन्ति'–न बाधन्ते, स्वार्थे णिच् प्रत्ययो बोध्यः ॥ १४ ॥

मूलम्—सत्यं निगोदा अतिसूक्ष्मनाम-कर्मोदयात्सूक्ष्मतरा भवन्ति ।
एकां तनुं तेऽधिगता अनन्ता-स्तथाऽप्यदृश्या ननु चर्मदृग्भिः ॥ १५ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह-सत्यमित्यादिना 'सत्यमि'ति-पूर्वोक्तं कथनं सत्यमस्तीत्यर्थः, निगोदजीवाः, 'अतिसूक्ष्मनाम-कर्मोदयात्'-अतिसूक्ष्मनामकस्य कर्मण उदयेन, 'सूक्ष्मतराः'-अतिसूक्ष्माः, 'भवन्ति'-जायन्ते, 'एकां तनुं'-एकं शरीरम्, 'अधिगताः'-प्राप्ताः, 'ते'-निगोदजीवाः, यद्यपि, 'अनन्ताः'-अनन्तसंख्या भवन्ति, 'तथाऽपि'-तदपि, 'नन्वि'ति निश्चयेन, 'चर्मदृग्भिः'-चर्मनेत्रैः, 'अदृश्याः'-द्रष्टुमयोग्या भवन्ति ॥ १५ ॥

मूलम्—यथोग्रगन्धामृतदेहिरामठा-दिकोत्थगन्धो बहुधा यथा मिथो ।
श्लिष्टोऽभितिष्ठेन्न तदन्यवस्तुनः, सङ्कीर्णता नापि नभोभुवस्तथा ॥ १६ ॥

टीका—घनीभावोऽपि नभसोऽसङ्कीर्णत्वविषये सदृष्टान्तमाह-यथोग्रेत्यादिना 'यथा'-येन प्रकारेण, 'उग्रगन्धा'-वचा, 'अमृतदेही'-अमृतो जीवः, 'रामठः'-हिंगुः, इत्यादिकैरेतत्प्रभृतिभिः, 'उत्थः'-उत्पन्नो यो गंधः, 'यथे'ति चरण-पूर्त्तौ, 'मिथः'-परस्परं, 'बहुधा'-अनेकप्रकारैः, 'श्लिष्टः'-मिलितः, 'अभितिष्ठेत्'-तिष्ठति, परन्तु, 'तदन्यवस्तुनः'-तस्मादभिन्नस्य पदार्थस्य, 'सङ्कीर्णता'-संकीर्णत्वं, न भवति, 'तथे'ति समुच्चये, 'नभोभुवः'-आकाशभूमेरपि न संकीर्णता भवति ॥ १६ ॥

१. वचा । २. कलेवर ।

मूलम्—एवं निगोदासुमतां परस्परा-श्लेषेऽस्ति तेषामतिबाधनं सदा ।
तथाऽपि चाऽन्यस्य न वस्तुनोऽस्ति, संकीर्णता नैव विहायसश्च ॥ १७ ॥

टीका—दृष्टान्तं दार्ष्टान्ते घटयति-एवमित्यादिना 'एवम्'-उक्तरीत्या, 'निगोदासुमतां'-निगोदजीवानां, 'परस्परा-श्लेषे'-मिथः संश्लेषे सति, यद्यपि, 'तेषां'-निगोदजीवानां, 'सदा'-सर्वदा, 'अतिबाधनम्'-अतिपीडनम्, 'अस्ति'-भवति, 'तथापि'-तदपि, 'च' शब्दश्चरणपूर्तौ, 'अन्यस्य वस्तुनः'-भिन्नस्य पदार्थस्य, निगोदजीवेभ्योऽन्यपदार्थस्येतिभावः, अतिबाधनम् 'नास्ति'-न भवति, 'च'-पुनः, 'विहायसः'-आकाशस्य, 'संकीर्णता'-संकीर्णत्वम् नैव भवति ॥१७॥

मूलम्—यथाऽत्र गन्धादिकवस्तुसत्ता, ज्ञेया नसा नैव दृशाऽभिदृश्या ।
एवं निगोदात्मभृतोऽपि जैन-वाक्याद्विबोध्या मनसा न वीक्ष्याः ॥ १८ ॥

टीका—निगोदजीवादर्शनविषय आह-यथाऽत्रेत्यादि 'यथा'-येन प्रकारेण, 'अत्र'-अस्मिन् संसारे, 'गन्धादिक-वस्तुसत्ता'-गन्धादिकपदार्थस्य भावः, 'नसा'-नासिकया, 'ज्ञेया'-ज्ञातुं योग्या भवति, किन्तु 'दृशा'-नेत्रेण, 'नैवाभिदृश्या'-न दर्शनीया अस्ति, 'एवम्'-उक्तप्रकारेण, 'निगोदात्मभृतोऽपि'-निगोदजीवा अपि, 'जैनवाक्यात्'-जिनवचनात्, 'मनसा'-मानसेन, 'विबोध्याः'-ज्ञेयाः सन्ति किन्तु 'वीक्ष्याः'-नेत्रेण दर्शनीया न सन्ति ॥ १८ ॥

मूलम्—ते केवलज्ञानवता हि दृश्याः, यथा हि सर्वत्र रजोऽतिसूक्ष्मम् ।
उड्डीयमानं न च दृश्यतेऽक्ष्णा, न चापि राशीभवनेऽपि बोध्यम् ॥ १९ ॥

परं यदाछन्नशुषीनरश्मि-समुत्थवंशीत्रसरेणुरूपम् ।
प्रकाशयोगादभिवीक्ष्यते तत्, दृश्यास्तथा दिव्यदृशा निगोदाः ॥ २० ॥

टीका—उक्तविषयमेव स्पष्टयति—ते केवलेत्यादिना 'ते'—निगोदजीवाः, 'ही'ति निश्चये, 'केवलज्ञानवता'—केवलज्ञानयुक्तेन, 'दृश्याः'—ज्ञेयाः, दर्शनीया वा सन्ति, अत्र दृष्टान्तमाह—यथेत्यादिना 'ही'ति निश्चये, 'यथा'—येन प्रकारेण, 'अतिसूक्ष्मम्'—अतिशयेन सूक्ष्मं, 'रजः'—धूलिः, 'सर्वत्र'—सर्वस्थलेषु, 'उड्डीयमानम्'—उड्डयनं कुर्वत्, 'अक्ष्णा'—नेत्रेण, 'न दृश्यते'—नाऽवलोक्यते, 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'च'—पुनः, 'राशीभवनेऽपि'—राशिभावं प्रापणेऽपि, 'एकोऽपि' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, तद्रजः 'न बोध्यं'—न ज्ञेयं भवति, 'परे'—परन्तु, 'यत्'—रजः, 'आछन्नशुषीनरश्मिसमुत्थवंशीत्रसरेणुरूपम्'—आच्छादितप्रदेशे जातं यत् छिद्रं तत्रागता ये इनरश्मयः—सूर्यकिरणास्तेभ्य उत्पन्ना ये वंशीकाराः—किरणप्रतिबिम्बास्तत्र यदुड्डीयमानं रजस्तत् त्रसरेणुरित्युच्यते तद्रूपमस्ति, 'तत्'—रजः, 'प्रकाशयोगात्'—प्रकाशस्य संयोगेन, 'अभिवीक्ष्यते'—दृश्यते, 'तथा'—तेनैव प्रकारेण, 'निगोदाः'—निगोदजीवाः, 'दिव्यदृशा'—दिव्यनेत्रेण, 'दृश्याः'—दर्शनीया भवन्ति ॥ १९–२० ॥

निगोदजीवानामाहारादिकरणेऽपि न गुरुत्वमिति चतुःश्लोकैराह—

---

१. आच्छादितप्रदेशे जात यत् छिद्रं तत्रागता ये इनरश्मयः—सूर्यकिरणास्तेभ्य उत्पन्ना ये वंशीकाराः—किरणप्रतिविम्बास्तत्र यदुड्डीयमानं रजस्तत् त्रसरेणुरित्युच्यते तस्य यद्रूप दर्शनम् ।

मूलम्—स्वामिन्निगोदाद्यसुमान् न्यदन्[1] सन्, न गौरवं केन लभेद् गुणेन च ।
यथा हि सूतो विविधांश्च धातू-नश्नन् भजत्येष गरिष्ठतां नो ॥ २१ ॥
वस्त्रं यथा चम्पकपुष्पवासितं, यथा च कृष्णागुरुधूपधूपितम् ।
न मौलभारान्ननु याति गौरवं, दृष्टान्त एकः पुनरत्र शास्त्रगः ॥ २२ ॥
सिद्धो यथा तोलकमानपारदः, स्विन्नः स हेम्नः शततोलकेन ।
न वर्धतेऽसौ निजतोलकाद् भरा-देवं न जीवेऽपि भरः कृताहृतौ[2] ॥ २३ ॥

टीका—निगोदजीवानाम् गुरुत्वविषये प्रश्नयति-स्वामिन्नित्यादिना 'हे स्वामिन्!'-हे प्रभो!, 'निगोदाद्यसुमान्'-निगोदादिजीवान्, 'न्यदन् सन्'-आहारं कुर्वन् सन्, 'केन'-गुणेन, 'गौरवं'-गुरुत्वं, 'न लभेत्'-न प्राप्नोति, परस्मैपदं चिन्त्यं, 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, अस्योत्तरमाह-यथेत्यादिना 'ही'ति निश्चये, 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'यथा'-येन प्रकारेण, 'सूतः'-पारदः, यद्यपि, 'विविधान् धातून्'-अनेकप्रकारान् सुवर्णादिधातून्, 'अश्नन्'-भक्षयन् भवति, तथाऽपि 'एषः'-सूतः, 'गरिष्ठतां नो भजति'-गुरुत्वं न प्राप्नोति, दृष्टान्तरमाह-वस्त्रमित्यादिना 'यथा'-येन प्रकारेण, 'चम्पकपुष्पवासितं'-चम्पककुसुमैर्वासनां नीतं, 'च'-पुनः, 'यथा'-येन प्रकारेण, 'कृष्णागुरुधूपधूपितं'-कृष्णं-श्यामं यदगुरु तस्य धूपस्तेन धूपितं-वासितं वस्त्रं, 'नन्वि'ति निश्चयेन, 'मौलभारात्'-स्वाभा·

१. आहरन् । २. कृताहारे ।

विकृभारापेक्षया, 'गौरवं'–गुरुत्वं, 'न याति'–न प्राप्नोति, गुरु न भवतीतिभावः, दृष्टान्तरमभिधातुकाम आह–दृष्टान्त इत्यादि 'अत्र'–अस्मिन् विषये, 'शास्त्रगः'–शास्त्रसंबंधी, शास्त्रोक्त इतिभावः, 'एकः'–दृष्टान्तः, पुनः कथ्यते तमेवाह–सिद्ध इत्यादिना 'यथा'–येन प्रकारेण, 'सिद्धः'–औषधादिभिः सिद्धिं नीतः, 'तोलकमानपारदः'–तोलकपरिमाणकः सूतः, यो भवति स पारदः, 'हेम्नः'–सुवर्णस्य, 'शततोलकेन'–शतसंख्याकतोलकैः, 'स्विन्नः'–पाकं नीतः, भवति 'यद्यपि'–तथाऽपि, 'असौ'–पारदः, 'निजतोलकाद्भरात्'–स्वस्य तोलकपरिमाणको भारस्तदपेक्षया, 'न वर्धते'–अधिकीं वृद्धिं न याति, दार्ष्टान्तविषय आह–एवमित्यादिना 'एवम्'–उक्तप्रकारेण, 'कृताहृतौ'–कृताहारे जीवेऽपि, 'भरः न'–भारो नैव भवति। उक्तरीत्या कृताहारेऽपि जीवे पूर्वापेक्षयाऽधिको भारो न भवतीत्यर्थः ॥ २१–२२–२३ ॥

मूलम्—यथा पुनर्मारुतपूर्णमध्या, दृतिः स्वभारादधिकी भवेन्नो।
तथैव जीवो विहिताशनोऽपि, स्वगौरवान्नाधिकगौरवश्रित् ॥ २४ ॥

टीका—अत्रैव दृष्टान्तरमाह–यथा पुनरित्यादिना पुनः 'यथा'–येन प्रकारेण, 'मारुतपूर्णमध्या'–मारुतेन–वायुना पूर्णं–भृतं मध्यं–मध्यभागो यस्याः सा, तथा पवनपूर्णेत्यर्थः, 'दृतिः'–चर्मपुटकः, 'स्वभारात्'–स्वभारापेक्षया, 'नो'–नैव, 'अधिकी भवेत्'–अधिकभारयुक्ता जायते, 'तथैव'–तेनैव प्रकारेण, 'विहिताशनोऽपि'–कृताहारोऽपि, 'जीवः'–जन्तुः, 'स्वगौरवात्'–स्वभारात्, स्वभारापेक्षयेति यावत्, 'अधिकगौरवश्रित्'–अधिकभारयुक्तो न भवति ॥ २४ ॥

निगोदजीवा अनन्तकालं यावत् दुःखिनो भवेयुस्तादृग् कर्मबन्धनं च कुर्वन्तीत्याह त्रयोदशश्लोकैः—

मूलम्—साधो ! निगोदाङ्गभृतोऽतिदुःखिताः, स्युः कर्मणा[1] केन निगद्यतामिदम् ।
इमं विना केवलिनं न कश्चि–द्विज्ञोऽपि विज्ञातुमलं विचारम् ॥ २५ ॥
तथापि च प्रत्ययहेतवेऽदः, निगद्यते किञ्चन कर्मजातम् ।
यद्यप्यमी अत्र निगोदजीवाः, स्थूलास्रवान्सेवितुमक्षमा हि ॥ २६ ॥
परन्त्वमी एकतनुं श्रिता य–त्तिष्ठन्त्यनन्ताः प्रतिजन्तुविद्धाः ।
पृथक्पृथग्देहगृहप्रमुक्ताः[2], परस्परद्वेषकरात्मसंस्थाः[3] ॥ २७ ॥
अत्यन्तसङ्कीर्णनिवासलाभा–दन्योन्यसम्बद्धनिकाच्यवैराः ।
प्रत्येकमप्येष्वभिवर्त्तमान–मनन्तजीवैस्तत[4] उग्रवैरम् ॥ २८ ॥

टीका—इदानीं निगोदजीवदुःखहेतुविषये प्रश्नयति साधो ! इत्यादिना ' हे साधो ! '–हे निर्ग्रंथ !, ' निगोदाङ्गभृतः '–निगोदजीवाः, ' केन कर्मणा '–केन कार्येण, ' अतिदुःखिताः '–अतिक्लेशयुक्ताः, ' स्युः '–भवन्ति, ' इदम् '–एतत्, ' निगद्यताम् '–कथ्यताम् भवता, अस्योत्तरमभिधातुकाम आह–इममित्यादि यद्यपि ' इमं '–पूर्वोक्तं, ' विचारं '–विमर्शं,

---

१. कर्मप्रकारम् । २. प्रत्येकत्वाभावात् भिन्नभिन्नशरीररूपगृहरहिता. । ३. परस्परद्वेषकारणात्मना तैजसकार्मणाख्येन संस्था संस्थितिर्येषां ते । ४. एकमेकं प्रत्यात्मनात्मानं संविध्य २ एकीभूय तिष्ठति ।

'केवलिनं विना'–केवलज्ञानिनमंतरेण, 'कश्चित्'–कोऽपि, 'विज्ञोऽपि'–विद्वानपि, 'विज्ञातुं'–ज्ञातुं, न पर्याप्तोऽस्ति, 'तथाऽपि'–तदपि, 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'प्रत्ययहेतवे'–ज्ञानकारणाय, ज्ञानार्थमिति यावत्, 'अदः'–वक्ष्यमाणं, 'किञ्चन'–किमपि, 'कर्मजातम्'–कर्मप्रकारं, 'निगद्यते'–कथ्यते मया, 'अत्र'–अस्मिन् संसारे, यद्यपि, 'अमी'–पूर्वोक्ताः, 'निगोदजीवाः'–निगोदजन्तवः, 'ही'ति निश्चये, 'स्थूलास्रवान्'–स्थूलानारंभान्, 'सेवितुम्'–भोक्तुम्, 'अक्षमाः'–असमर्थाः, सन्ति परन्तु, 'यत्'–यस्मात् कारणात्, 'अमी'–निगोदजीवाः, 'प्रतिजन्तुविद्धाः'–प्रत्येकप्राणिद्वारा वेधनं प्राप्ताः, 'एकतनुं श्रिता'–एकशरीरमाश्रिताः, 'अनन्ताः'–अंतरहिताः, 'तिष्ठन्ति'–वर्तन्ते, तथा, 'पृथक्पृथग्देहगृहप्रमुक्ताः'–पृथक्पृथक्शरीररूपगृहेण रहितास्तिष्ठन्ति, तथा 'परस्परद्वेषकरात्मसंस्थाः'–परस्परं द्वेषकारणात्मना–तैजसकार्मणाख्येन संस्था–संस्थितिर्येषां ते, तथा 'तिष्ठन्ति' तथा 'अत्यंतसंकीर्णनिवासलाभात्'–अत्यन्तमतीव संकीर्णः–संकीर्णत्वयुक्तो यो निवासः–निवसत्याश्रयस्तस्य लाभात्–प्राप्तेः, अत्यंतसंकीर्णवासस्थानप्राप्तेरितिभावः । 'अन्योन्यसंबद्धनिकाच्यवैराः'–अन्योन्यं–परस्परं संबंधं–बंधनं नीतं निकाच्यवैरं–निकाचितशत्रुत्वं यैस्ते, तथा तिष्ठन्ति 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'एषु'–निगोदजीवेषु, 'प्रत्येकमपि'–एकमेकं प्रत्यपि, एकैकस्यापीतिभावः, 'अनंतजीवैः'–अनन्तजन्तुभिः सह, 'उग्रवैरम्'–तीक्ष्णं शत्रुत्वम्, 'अभिवर्तमानम्'–स्थितिमत् भवति ॥ २५–२८ ॥

मूलम्—एकस्य जन्तोर्यदपीह वैर–मेकेन जीवेन तदप्यजेयम् ।
एकस्य जन्तोर्यदनन्तजीवै–र्वैरं भवेच्चेत्तदनन्तकालैः ॥ २९ ॥

कथं न भोग्यं पुनरेधमानं, तदेव तेनैव ततोऽप्यनन्तम् ।
एवं निगोदासुमतां न वैरं, सान्तं न दुष्कर्म च नाऽपि कालः ॥ ३० ॥

टीका—इदानीं दुःखहेतुं स्पष्टयति-एकस्येत्यादिना 'इह'-अस्मिन् संसारे, एकस्यापि, 'जंतोः'-जीवस्य, 'एकेन जीवेन'-एकेन जंतुना सह, यत् 'वैरं'-शत्रुत्वम् भवति, परन्तु, 'चेत्'-यदि, 'एकस्य जंतोः-' एकजीवस्य, 'अनंत-जीवैः'-अनंतजन्तुभिः सह, यत् 'वैरं'-शत्रुत्वम्, 'भवेत्'-स्यात्, तर्हि तद्वैरम् 'अनंतकालैः'-अनन्तसमयैः, 'कथं न भोग्यम्'-कुतो न भोगार्हमस्ति, 'पुनः'-पश्चात्, 'एधमानं'-वर्द्धमानम्, वृद्धिं प्राप्नुवदितिभावः, 'तद्'-वैरमेव, 'तेनैव'-कारणेन, ततोऽपि, 'अनन्तकालादपि'-अनन्तमनन्तकालयुक्तम् भवति, फलितमाह-एवमित्यादिना 'एवम्'-उक्तरीत्या, 'निगोदसुमताम्'-निगोदजीवानाम्, 'वैरं'-शत्रुत्वम्, 'सान्तम्'-अंतेन सह विनाशीतिभावो न भवति, 'दुष्कर्म'-निकृष्टं कर्म, न सान्तं भवति, 'च'-पुनः, 'कालः'-समयोऽपि न सांतो भवति ॥ २९-३० ॥

मूलम्—लोके यथा गुप्तिगृहाश्रिताना-मन्योन्यसंमर्दनिपीडितानाम् ।
प्रत्येकमाबद्धनिकामवैर-भाजां नराणां किल कर्मबन्धः ॥ ३१ ॥
भावस्त्वमीषामलमीदृशः स्या-द्यदेषु कश्चिन्म्रियतेऽपयानि वा ।
तदाहमासीय सुखेन भक्ष्य-मायाति किञ्चिद् घनमंशतश्च ॥ ३२ ॥

इत्यादिकं वैरमतुच्छमीदृक्, प्रवर्धमानं प्रतिबन्दि यत्स्यात् ।
तस्मादमीषामतिदुष्कृतं स्या-देवं निगोदाङ्गभृतामपीक्ष्यम् ॥ ३३ ॥

टीका—अत्र लौकिकोदाहरणमाह–लोक इत्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, ' लोके '–संसारे, ' किले 'ति निश्चये, ' नराणाम् '–मनुष्याणाम्, ' कर्मबंधः '–कर्मयोगो भवति, केषां नराणाम् ? इत्याह–' गुप्तिगृहाश्रितानाम् '–कारागृहस्थितानाम्, कथंभूतानाम् गुप्तिगृहाश्रितानाम् ? ' अन्योन्यसम्मर्दनिपीडितानाम् '–परस्परं विमर्दनेन दुःखितानाम्, पुनः कथंभूतानां ? ' प्रत्येकमाबद्धनिकामवैरभाजां '–एकैकं प्रति आबद्धं–बंधनं नीतं यन्निकामवैरं–निकाम्य शत्रुत्वं तद्भाजां–तद्युक्तानाम्, कर्मबंधत्वे हेतुमाह–भावस्त्वित्यादिना ' अमीषां '–गुप्तिगृहाश्रितानां नराणां, ' भावस्तु '–चित्ताशयस्तु, ' अलं '–पर्याप्तत्वेन, ' ईदृशः '–इत्थंभूतः, ' स्याद् '–भवति, ' यदेषु '–एषां मध्यात्, यदि, ' कश्चित् '–कोऽपि नरः, ' म्रियते '–मृत्युं प्राप्नुयात्, ' वा '–अथवा, ' याति '–नश्येत्, ' तदा '–तर्हि, अहं, ' सुखेन '–सुखपूर्वकम्, ' आसीयम् '–तिष्ठेयम्, ' च '–पुनः, ' भक्षं '–भक्षणीयं वस्तु, ' अंशतः '–विभागेन, ' किञ्चित् '–किमपि, ' घनम् '–अधिकम्, ' आयाति '–आगच्छेत्, पूर्वापेक्षया किञ्चिदधिकं भक्ष्यं लभ्येतेतिभावः, फलितमाह–इत्यादिकमित्यादिना ' यत् '–यस्मात् कारणात्, ' इत्यादिकम् '–एतत् प्रभृतिकम्, ' अतुच्छम् '–अस्वल्पम्, ' ईदृक् '–इत्थंभूतं, ' प्रवर्द्धमानं '–वृद्धिं गच्छत्, ' वैरं '–शत्रुत्वम्, ' प्रतिबन्दि '–बन्दिनं प्रति, एकैकबन्दिन इतिभावः, ' स्याद् '–भवेत्, ' तस्मात् '–कारणात्, ' अमीषां '–गुप्तिगृहाश्रितानां नराणाम्, ' अतिदुष्कृतम् '–अतिदुष्कर्मबंध, ' स्याद् '–भवेत्, ' एवम् '–उक्तरीत्या, ' निगोदांगभृता-

मपि '-निगोदजीवानामपि, 'ईक्ष्यं '-द्रष्टव्यम्, ज्ञातव्यमितिभावः ॥ ३१-३३ ॥

मूलम्—तथातिसङ्कीर्णकपञ्जरस्थिताः, विद्वेषभाजश्चटकादिपक्षिणः ।
जालादिगा वा तिमयो मिथोभव-द्विबाधनद्वेषचिताः सुदुःखिनः ॥ ३४ ॥

टीका—कर्मबंधत्वे दृष्टान्तरमभिधातुकाम आह-तथेत्यादिना 'तथा '-तेनैव प्रकारेण, 'अतिसंकीर्णकपञ्जरस्थिताः '-अत्यंतसंकीर्णतायुक्ते पञ्जरे स्थिताः, 'चटकादिपक्षिणः '-कलविंकादिविहंगमाः, 'विद्वेषभाजः '-वैरयुक्ता भवन्ति, 'वा '-अथवा, 'जालादिगा '-जालादिबंधनं प्राप्ताः, 'तिमयः '-मत्स्यविशेषाः, 'मिथोभवद्विबाधनद्वेषचिताः '-परस्परं भवद्विबाधनं-पीडनं तेन यो द्वेषः-वैरं तेन चितायुक्ताः, 'सुदुःखिनः '-अतिशयेन दुःखिता भवन्ति ॥ ३४ ॥

मूलम्—तथा पुनस्तस्करके निहन्य-माने च सत्यामनले विशन्त्याम् ।
कौतूहलार्थं परिपश्यतां नृणां, द्वेषं विनोत्तिष्ठति कर्मसञ्चयः ॥ ३५ ॥
बुधास्तमाहुः किल सामुदायिकं, भोगो यदीयो नियतोऽप्यनेकशः ।
एवं हि चेत्कौतुकतः कृतानां, स्वकर्मणामत्र सुदुर्विपाकः ॥ ३६ ॥
अन्योऽन्यबाधोत्थविरोधजन्मना-मनन्तजीवैः कृतकर्मणां तदा ।
भोगोऽप्यनन्तेऽपगते हि काले, निगोदजीवैर्न हि जातु पूर्यते ॥ ३७ ॥

१. वन्ध. ।

टीका—अत्रैव दृष्टान्तरमाह–तथेत्यादिना ' तथा '–तेनैव प्रकारेण, ' पुनः '–इति समुच्चये, ' तस्करके '–चौरे, ' निहन्यमाने '–मार्यमाणे सति, ' च '–पुनः, ' सत्यां '–पतिव्रतायाम्, ' अनले विशन्त्याम् '–अग्नौ प्रवेशं कुर्वन्त्याम्, ' कौतूहलार्थं '–कौतुकनिमित्तं, ' परिपश्यताम् '–वीक्ष्यमाणानाम्, ' नृणां '–मनुष्याणाम्, ' द्वेषं विना '–विना वैरमंतरेणैव, ' कर्मसञ्चयः '–' कर्मबंधः, ' उत्तिष्ठति '–उद्भवति, जायत इत्यर्थः, ' तं '–पूर्वोक्तम् कर्मसञ्चयम्, ' किले 'ति निश्चये, ' बुधाः '–विद्वांसः, ' सामुदायिकम् '–समुदायभवम्, ' आहुः '–कथयन्ति, ' यदीयः '–यस्य संबंधी, ' भोगोऽपि '–कलाऽनुभवोऽपि, ' अनेकशः '–अनेकप्रकारं, ' नियतः '–निश्चितोऽस्ति, फलितमाह–एवमित्यादिना ' ही 'ति चरणपूर्त्तौ, चेत् '–यदि, ' एवम् '–उक्तरीत्या, ' कौतुकतः '–कुतूहलवशात्, ' कृतानां '–विहितानाम्, ' स्वकर्मणां '–निजकार्याणाम्, ' अत्र '–अस्मिन् संसारे, ' सुदुर्विपाकः '–अतिशयेन निकृष्टम् फलम् भवति, ' तदा '–तर्हि, ' अनन्तजीवैः '–अनन्तजन्तुभिः सह, ' अन्योऽन्यबाधोत्थविरोधजन्मनां '–परस्परं बाधया–पीडयोत्थः–उत्पन्नो यो विरोधः–द्वेषस्तस्माज्जन्मोत्पत्तिर्येषां ते तथा तेषाम् एवंभूतानाम्, ' कृतकर्मणां '–विहितानां कर्मणां, ' भोगः '–फलानुभवः, ' ही 'ति निश्चये, ' अनन्ते '–अन्तरहितेऽपि, ' काले '–समये, ' अपगते '–व्यतीते सति, ' निगोदजीवैः '–निगोदजन्तुभिः, ' जातु '–कदाचित्, ' नहि पूर्यते '–नहि पूर्त्तिं नीयते ॥ ३५–३७ ॥

निगोदजीवानां मनो विनापि कर्मबन्धनं भवतीति चतुःश्लोकैराह—

मूलम्—पूज्याः ! निगोदासुमतां मनोऽस्ति नो, केनेदृशं तन्दुलमत्स्यवद् भृशम् ।
प्रजायते कर्म यतस्त्वनन्त–कालप्रमाणं परिपाक एवम् ॥ ३८ ॥

टीका—अनन्तकालस्थायि परिपाकविषये प्रश्नयति–पूज्या इत्यादिना ' हे पूज्याः ! '–हे माननीयाः !, ' निगोदासुमतां '–निगोदजीवानाम्, ' मनः '–चित्तं, ' नो अस्ति '–न विद्यते, तर्हि ' तंदुलमत्स्यवत् '–तंदुलनामकमत्स्यविशेषवत्, ' भृशं '–निरन्तरम्, ' ईदृशम् '–इत्थंभूतम्, कर्म, ' केन '–कारणेन, ' प्रजायते '–उत्पद्यते, ' यतः '–यस्मात् कर्मणस्तु, ' एवम् '–उक्तप्रकारकः, ' परिपाकः '–विपाकः, फलमिति यावत्, ' अनन्तकालप्रमाणम् '–अनन्तकालपर्यन्तम्, क्रियाविशेषत्वात् क्लीबत्वम् भवति ॥ ३८ ॥

मूलम्—सत्यं यदेतन्न मनोऽस्त्यमीषां, तथापि चान्योऽन्यविबाधनोत्थम्[1] ।
दुष्कर्म तूत्पद्यत एव यद्व[2]–द्विषं निहन्त्येव यथा तथाहृतम्[3] ॥ ३९ ॥

टीका—अस्योत्तरमभिधातुकाम आह–सत्यमित्यादिना यद्यपि ' एतत् '–पूर्वोक्तं कथनं सत्यमस्ति, यत्, ' अमीषां '–निगोदजीवानाम्, ' मनः '–चित्तं, ' नास्ति '–न विद्यते, ' तथापि '–तदपि, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' दुष्कर्म तु '–निकृष्टं कर्म तु, ' उत्पद्यत एव '–जायत एव, कथंभूतं दुष्कर्म ? ' अन्योऽन्यविबाधनोत्थं '–परस्परपीडनोत्पन्नम्, अत्र

---

१ पीडन । २. यथा । ३. विष ज्ञातमज्ञातं वा भक्षितं मारयति तत्र ज्ञाते तु स्वयमन्यो वा कश्चिदुपायमपि कृत्वा जीवेदपि परमज्ञातं तु मारयत्येवेति शेषः, अत एवैषां मनो विना समुत्पन्नं परस्परवैरमन्तकालेऽपि भुज्यमानं न पूर्णं स्यादिति तत्त्वम् ।

दृष्टान्तमाह–यद्वदित्यादिना ' यद्वदिति '–यथेत्यर्थः, यथा तथा ज्ञातदशायामज्ञातदशायां वा, ' आहृतम् '–युक्तं, ' विषं '–गरलं, निहंत्येव ॥ ३९ ॥

मूलम्—सञ्ज्ञाश्चतस्रोऽप्यथवैषु[1] मिथ्या[2], योगः[3] कषायोऽविरतिश्च सन्ति ।
इमानि सर्वाण्यपि कर्मबन्ध–बीजान्यनन्तैस्त्वधिको विरोधः ॥ ४० ॥

टीका—संज्ञातरेण कर्मबंधमाह–संज्ञा इत्यादिना ' अथवा '–यद्वा, ' एषु '–निगोदजीवेषु, ' मिथ्या '–मिथ्यात्वम्, ' योगः '–काययोगादिकः, ' कषायः '–क्रोधादिः, ' अविरतिः '–अविरमणम्, ' च ' शब्दः समुच्चये, ' चतस्रः '–चतुः संख्याका संज्ञाः, अपि, ' सन्ति '–विद्यन्ते, ' इमानि '–एतानि पूर्वोक्तानि, ' सर्वाण्यपि '–सकलान्यपि, सामान्ये क्लीबत्वप्रयोगः, संज्ञानि कृत्यानि इत्यस्य वा पदस्याध्याहारो विधेयः, ' कर्मबंधबीजानि '–कर्मबन्धस्य कारणानि, ' तु ' शब्दो भिन्नक्रमद्योतनार्थः, ' अनन्तैस्त्वधिको विरोधः '–अनन्तैः सह योऽधिको विरोधोऽस्ति तस्य तु किं वक्तव्यम् ? स त्वतिशयेन कर्मबंधहेतुरस्त्येतिभावः ॥ ४० ॥

मूलम्—एवं निगोदासुमतां निदर्शनैः, किञ्चित्स्वरूपं गदितं यथामति ।
यतस्त्विदं नो किल कोऽपि वक्तुं, शक्तो विना केवलिनं कुलीनाः ॥ ४१ ॥

टीका—पूर्वोक्तं विषयमुपसंहर्तुमाह–एवमित्यादिना ' हे कुलीनाः ! '–हे सत्कुलोद्भवाः !, ' एवम् '–अनया रीत्या,

१. निगोदेषु । २. मिथ्यात्वम् । ३. काययोगादिकः ।

' निदर्शनैः '–दृष्टान्तैः, दृष्टान्तकथनपूर्वकमिति यावत्, ' यथामति '–स्वमत्यनुसारेण, ' निगोदासुमतां '–निगोदजीवानाम्, ' किञ्चित् '–किमपि, ' स्वरूपम् '–लक्षणं, ' गदितं '–कथितं, यथामति किञ्चिदेव स्वरूपं गदितमित्यत्र हेतुमाह–यत इत्यादिना ' यतः '–यस्मात् कारणात्, ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' किले ' ति निश्चये, ' केवलिनं विना '–केवलज्ञानिन–मतिरिच्य, ' कोऽपि '–कश्चिदपि, ' इदं '–निगोदानां स्वरूपम्, ' वक्तुं '–कथयितुम्, ' न शक्तः '–न समर्थोऽस्ति ॥ ४१ ॥

निगोदजीवानां क्षेत्रस्थितिगमागमकर्मबन्धादि–निदर्शनोक्तिलेशो
दशमोऽधिकारः समाप्तः ॥

अथ एकादशोऽधिकारः

निगोदव्याप्ताऽखिलविश्वेऽपि तत्राऽन्यद्रव्यसमावेशावकाशयोरवस्थानमष्टश्लोकैराह—

मूलम्—स्वामिन्निदं विश्वमशेषमित्थं, पूर्णं निगोदैर्यदि तर्हि तत्र ।
कर्माण्यथो पुद्गलराशयोऽपि, धर्मास्तिकायादि कथं हि मान्ति ? ॥ १ ॥

टीका—निगोदैर्विश्वेऽस्मिन् व्याप्ते कथं तत्र कर्मादिसंस्थितिरित्याशंक्य प्रश्नयति–स्वामिन्नित्यादिना 'हे स्वामिन्!'–हे प्रभो!, 'यदि'–चेत्, 'इत्थम्'–उक्तप्रकारेण, 'इदं'–प्रसिद्धम्, 'अशेषं'–सर्वं, 'विश्वं'–जगत्, 'निगोदैः पूर्णं'–निगोदजीवैर्व्याप्तमस्ति, 'तर्हि'–तदा, 'तत्र'–तस्मिन् विश्वे, कर्माणि, 'अथे'ति समुच्चये, 'पुद्गलराशयोऽपि'–पुद्गलसमूहा अपि, तथा, 'धर्मास्तिकायादि'–धर्मास्तिकायप्रभृतिकम्, 'ही' ति चरणपूर्त्तौ, 'कथं मान्ति ?'–केन प्रकारेण समाविष्टानि भवन्ति ॥ १ ॥

मूलम्—सत्यं यथा गान्धिकहट्टमध्ये, कर्पूरगन्धः प्रसृतोऽस्ति तत्र ।
कस्तूरिकाजातिफलादिसर्व–वस्तूत्थगन्धो ननु माति किं न ? ॥ २ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–सत्यमित्यादिना 'सत्यमि'ति–पूर्वोक्तं कथनं सत्यमस्तीतिभावः, 'यथा'–येन प्रकारेण,

' गांधिकहट्टमध्ये '–गंधविक्रेतृक्रयविक्रयस्थाने, ' कर्पूरगन्धः '–घनसारस्य गन्धः, ' प्रसृतोऽस्ति '–प्रसरणं प्राप्तो भवति, ' तत्र '–तस्मिन् गांधिकहट्टमध्ये, ' कस्तूरिकाजातिफलादिसर्ववस्तूत्थगंधः '–कस्तूरिका–मृगमदः जातिफलं–जातिकोशमित्यादिभ्यः सर्वेभ्यो वस्तुभ्य उत्थः–उत्पन्नो गंधः, ' नन्विति '–वितर्के, ' किं न माति ? '–किं समावेशं न याति ? परिमात्येवेतिभावः ॥ २ ॥

मूलम्—तत्राऽस्ति मार्त्तण्डतपस्तथैव, धूपस्य धूमस्त्रसरेणवोऽपि ।
वायुश्च शब्दश्च सुमादिगन्धो, मातो यथा स्यादथ चाऽवकाशः ॥ ३ ॥

टीका—अत्रैव पुष्टिमाह–तत्राऽस्तीत्यादिना ' तत्र '–गांधिकहट्टमध्ये, ' मार्त्तंडतपः '–सूर्यस्याऽऽतपः, ' अस्ति '–विद्यते, ' तथैवेति '–समुच्चये, ' धूपस्य धूमः '–सुगंधिद्रव्यजन्यधूपस्य धूमः, ' त्रसरेणवोऽपि '–किरणप्रतिबिंबोड्डीयमानरजांस्यपि, ' च '–पुनः, ' वायुः '–पवनः, ' च '–पुनः शब्दः, तथा 'सुमादिगन्धः '–पुष्पादीनां गन्धः, ' यथा '–येन प्रकारेण, ' मातः स्यात् '–समाविष्टो भवेत्, ' अथ चे 'ति–तथापीत्यर्थः, ' अवकाशं '–अन्यगन्धादिवस्तुसमावेशनयोग्यत्वं भवति ॥ ३ ॥

मूलम्—पुनश्च कस्याऽपि विचक्षणस्य, वक्षोन्तराशास्त्रपुराणविद्याः ।
वेदाः स्मृतिर्मन्त्रकलाश्च यन्त्र–तन्त्राणि सर्वाण्यभिधानकोषाः ॥ ४ ॥

ज्योतिर्मतिर्व्याकरणादिविद्याः, रागा रसाशीर्विषयाः कषायाः ।
वार्त्ता विनोदा वनिताविलासाः, दानादयो मत्सरमोहमैत्र्यः ॥ ५ ॥
क्षान्तिर्धृतिर्दुःखसुखे गुणास्त्रयः, आम्नायशङ्काभयनिर्भयाधयः ।
ध्यानादयो मान्ति यथैव तद्वद्, द्रव्याणि लोकेऽपि वसन्ति नित्यम् ॥ ६ ॥

टीका—दृष्टान्तरमाह–पुनश्चेत्यादिना 'पुनः'–शब्दश्च समुच्चये, 'कस्यापि'–कस्यचिदऽपि, 'विचक्षणस्य'–विज्ञस्य, 'वक्षोन्तरा'–हृदयमध्ये, 'शास्त्रपुराणविद्याः'–शास्त्राणां पुराणानां च विद्याः, 'वेदाः'–श्रुतयः, 'स्मृतिः'–धर्मशास्त्रम्, 'च'–पुनः, 'मंत्रकलाः'–मंत्रकौशलानि मंत्रविद्या इतियावत्, 'सर्वाणि'–सकलानि, 'यंत्रतंत्राणि'–यंत्राणि तंत्राणि च, 'अभिधानकोषाः'–नाम्नां कोशः, 'ज्योतिः'–ज्योतिःशास्त्रम्, 'मतिः'–विज्ञानम्, 'व्याकरणादिविद्या'–व्याकरणादीनां विज्ञानम्, आदिशब्देन न्यायादिपरिग्रहः, 'रागाः'–ध्रुवपदादयः, 'रसाशीर्विषयाः'–शृंगारवीरादीनां रसानाम् आशिषां च विषयाः, 'कषायाः'–क्रोधादयः, 'वार्त्ता'–कथा, 'विनोदाः'–चित्तशैथिल्याय हरणजनका उपन्यासादिविषयाः, 'वनिताविलासाः'–रामानयनाद्यंगोत्पन्नहावविशेषाः, 'दानादयः'–प्रदानप्रभृतयः, 'आदि' शब्देन शीलादिपरिग्रहः, 'मत्सरमोहमैत्र्यः'–मत्सरोऽन्यशुभद्वेषः, मोहः–मूर्च्छा, मैत्री–मित्रत्वम्, 'क्षान्तिः'–क्षमा, तितिक्षेतियावत्, 'धृतिः'–धैर्यम्, 'दुःखसुखे'–क्लेशसौख्ये, 'गुणास्त्रयः'–सत्त्वरजस्तमोरूपाः, आम्नायेत्यादि 'आम्नायः'–संप्रदायः, 'शंका'–स्नेहः, 'भयं'–भीतिः, 'निर्भयम्'–भयराहित्यम्, 'आधयः'–मानसिकव्यथाः, 'ध्यानादयः'–ध्यानप्रभृतयः, 'यथैव'–

येन प्रकारेण, ' मान्ति '-संविष्टानि भवन्ति, ' तद्वत् '-तथैव, ' लोकेऽपि '-विश्वस्मिन्नपि, ' द्रव्याणि, '-जीवादीनि, ' नित्यं '-सततं, ' वसन्ति '-तिष्ठन्ति ॥ ४-६ ॥

मूलम्—लोके यथा वा वनखण्डमध्ये, रेणुस्तथामी त्रसरेणवोऽपि ।
सूर्यातपो वह्नितपः सुमानां, गन्धः समीरः पशुपक्षिशब्दः ॥ ७ ॥
वादित्रनाद[१]छदमर्मरादि, सर्वाणि मान्तीह तथाऽवकाशः ।
एवं च द्रव्यैर्निचितेऽपि लोके-वकाश एषोऽपि च तादृशोऽस्ति ॥ ८ ॥

टीका—दृष्टान्तमभिधातुकाम आह-लोक इत्यादि 'वा'-अथवा, 'लोके'-संसारे, 'यथा'-येन प्रकारेण, 'वनखण्डमध्ये'-अरण्यभागमध्ये ', ' रेणुः '-धूलिः, भवति, ' तथे 'ति समुच्चये, ' अमी '-प्रसिद्धाः, ' त्रसरेणवः '-किरणप्रतिबिंबेषूड्डीयमानरजांसि, ' अपि ' शब्दः समुच्चये भवति, तथा ' सूर्यातपः '-सवितुर्धर्मः, ' वह्नितपः '-अग्नेस्तापः, ' सुमानां '-पुष्पाणाम्, गंधः, ' समीरः '-वायुः, ' पशुपक्षिशब्दः '-पशूनां पक्षिणाम् च रवः, ' वादित्रनादः '-वाद्यानां घोषः, ' छदमर्मरादि '-पत्राणाम् मर्मरादिध्वनिः, 'सर्वाणि'-सकलानि, ' मान्ति '-समाविष्टानि भवन्ति, ' तथे 'ति तथाप्यर्थः, ' इह '-वनखण्डमध्ये, ' अवकाशः '-अन्यपदार्थसमावेशनयोग्यत्वम् भवति, दार्ष्टान्ते घटनामाह-एवमित्यादिना ' एवम् '-उक्तरीत्या, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' द्रव्यैर्निचितेऽपि '-द्रव्यैर्व्याप्तेऽपि, 'लोके'-संसारे, अपि शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' एषः '-पूर्वोक्तः,

'अवकाशः '–अन्यपदार्थसमावेशनयोग्यः, 'तादृशोऽस्ति '–तथाभूत एव विद्यते, बाह्यसमावेशे यादृगवकाश आसीत्तथैव तत्समावेशेऽपि विद्यत इतिभावः ॥ ७–८ ॥

जीवपुद्गलधर्मास्तिकायादिपूर्णेऽपि लोके तथैवावकाशोक्तिलेश एकादशोऽधिकारः

अथ द्वादशोऽधिकारः

जीवसुखदुःखादिकारणं कर्मैव, भाग्यस्वभावादिनाम्ना कर्मणैव प्रतिपादनं पञ्चश्लोकैराह—

मूलम्—पृच्छामि पूज्यान् प्रणयादिदानीं, जीवस्तु कर्माणि शुभाशुभानि ।
भुङ्क्ते सुखैषी किमु दुःखितः सं–स्तदाऽस्ति कश्चिन्ननु कर्मनोदकः ॥ १ ॥

टीका—सुखैषी जीवो दुःखकारणमशुभं कर्म स्वतः कथं भुङ्क्ते ? इत्याशङ्कां प्रश्नयति–पृच्छामीत्यादिना 'इदानीम्'–

१. जीवो हि स्वभावात्, सुखैषी दुःखद्वेषी, तेन सुखहेतुशुभकर्माणि स्वेच्छया भुङ्क्ताम्, परं दुःखकारणमशुभकर्म भोक्तुं स्वेच्छया न समीहते । तदाऽशुभकर्मभोगे तु कश्चित् प्रेरकोऽस्तु येनाऽयमात्माऽशुभकर्मबलात् दुःखं भोज्यते । स च प्रेरको लौकिकः कश्चिद् वक्ष्यमाणोऽस्तु इति पृच्छाकारः प्रेरकपूर्विका कर्मभुक्तिमाह। तदा कर्मवादी नैवमित्यादिवृत्तत्रयेणोत्तरमाह ।

अधुना, ‘ पूज्यान् ’–पूजार्हान् भवतः, ‘ प्रणयात् ’–विनयेन, ‘ पृच्छामि ’–पृच्छां करोमि, यत् ‘ जीवः ’–आत्मा, ‘ तु ’ शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ‘ शुभाशुभानि कर्माणि ’–शुभान्यशुभानि च कर्माणि, ‘ सुखैषी सन् ’–सुखाभिलाषी सन्, ‘ भुङ्क्ते ’–भोगे नयति, तर्हि ‘ किमु दुःखितः ’ इति दुःखितः कथं भवतीत्यर्थः, ‘ तदे ’ति सति दुःखिते तस्मिन्नित्यर्थः, ‘ नन्वि ’ति वितर्के ‘ कश्चित् ’–कोऽपि, ‘ कर्मनोदकः ’–कर्मप्रेरकः, ‘ अस्ति ’–विद्यते ॥ १ ॥

मूलम्—विधिर्ग्रहो वा परमेश्वरो वा, कर्त्ता यमो वा भगवानिहाऽस्तु ।
प्रणोदकः कर्मगणस्य येन, दुःखं सुखं वा परिभोज्यते जगत् ॥ २ ॥

टीका—कोऽसौ कर्मनोदको भवेदिति वदन्नाह–विधिरित्यादि ‘ इह ’–अस्मिन् संसारे, ‘ विधिः ’–विधाताऽथवा, ‘ ग्रहः ’–सूर्यादिः, ‘ वा ’–अथवा, ‘ परमेश्वरः ’–परमेशः, ‘ कर्त्ता ’–कारकः, जगद्रचयितेति यावत्, ‘ यमः ’–यमराजः, ‘ वा ’–अथवा, भगवान्, ‘ कर्मगणस्य ’–कर्मसमूहस्य, ‘ प्रणोदकः ’–प्रेरको भवेत्, ‘ येन ’–विध्यादिना, ‘ जगत् ’–संसारः, ‘ दुःखं सुखं वा ’–क्लेशं सौख्यं वा, ‘ परिभोज्यते ’–परिभोगं प्राप्यते, यो जगत् दुःखं सुखं वा भोजयतीतिभावः ॥ २ ॥

मूलम्—नैवं यदेतानि भवन्ति कर्म–नामानि शास्त्रे पठितानि तद्यथा ।
भाग्यं स्वभावो भगवानदृष्टं, कालो यमो दैवतदैवदिष्टम् ॥ ३ ॥

अहो ! विधानं परमेश्वरः क्रिया, पुराकृतं कर्म विधा विधिश्च ।
लोकः कृतान्तो नियतिश्च कर्त्ता, प्राक्कीर्णप्राचीनविधातृलेखाः ॥ ४ ॥
इत्यादि नामानि पुराकृतस्य, शास्त्रे प्रणीतानि तु कर्मतत्त्वगैः ।
तदात्मनो न स्वकर्मणो विना, सुखस्य दुःखस्य च कारको परः ॥ ५ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–नैवमित्यादिना 'नैव' मिति–एतत् कथनं सम्यग् नास्तीत्यर्थः, अत्र हेतुमाह–यदित्यादिना 'यत्'–यस्मात् कारणात्, 'एतानि'–वक्ष्यमाणानि, 'शास्त्रे पठितानि'–शास्त्रेऽधीतानि, 'कर्मनामानि भवन्ति'–कर्मणोऽभिधानानि सन्ति, तान्येव दर्शयितुमाह–तद्यथेत्यादि 'तद्यथे'ति तथा हीत्यर्थः, 'भाग्यम्'–स्वभावः, 'भगवान्'–अदृष्टम्, 'कालः'–यमः, 'दैवतदैवदिष्टमि'ति दैवम् दिष्टमित्यर्थः, 'अहो'–इति चरणपूर्त्तौ, 'विधानम् परमेश्वरः क्रिया' 'पुराकृतं'–पूर्वकृतं, 'कर्म विधा' 'च'–पुनः, 'विधिः लोकः कृतान्तः नियतिः' 'च'–पुनः, 'कर्त्ता'–प्राक्कीर्णेत्यादि प्राक्कीर्णलेखः, प्राचीनलेखः, विधातृलेखः, एतदेव स्पष्टयितुमाह–इत्यादीत्यादीनि, 'नामानि'–एतत्प्रभृतीनि नामधेयानि, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'पुराकृतस्य'–पूर्वकाले विहितस्य कर्मणः, 'कर्मतत्त्वगैः'–कर्मस्वभावज्ञातृभिः, 'शास्त्रे प्रणीतानि'–शास्त्रे प्रतिपादितानि, फलितमाह–तदित्यादिना 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'स्वकर्मणो विना'–स्वकृतकर्मान्तरेण, 'आत्मनः'–जीवस्य, 'सुखस्य'–सौख्यस्य, 'च'–पुनः, 'दुःखस्य'–क्लेशस्य, 'कारकः'–कर्त्ता, 'परः'–अन्यः, 'न'–नास्ति ॥३–५॥

---

१. कर्मस्वभावज्ञैः । २. जीवस्य ।

कस्यापि प्रेरणां विना जीवस्य स्वस्वरूपप्राप्तिकरणं, कर्मणः स्वभावम्, जगत्स्वरूपं च षड्भिः श्लोकैराह–

मूलम्—स्थाने त्वजीवानि पुनर्जडानि, कर्माणि[1] किं कर्त्तुमिह क्षमाणि ?।
कश्चित्तदेषां परिणोदकोऽस्तु, यच्छक्तितोऽमूनि सहीभवन्ति[2] ॥ ६ ॥

टीका—कर्मणो जडत्वात् सुखदुःखकर्तृत्वं न घटत इत्याशंकां प्रश्नयति–स्थाने त्वित्यादिना ' स्थाने ' इति–पूर्वोक्तं कथनं उचितमस्तीत्यर्थः, ' तु '–परन्तु, ' कर्माणि ' ' अजीवानि '–जीवरहितानि, ' पुन 'रिति समुच्चये, ' जडानि '–अचेतनानि, सन्ति तानि, ' इह '–अस्मिन् संसारे, ' किं कर्त्तुम् ? '–किं कार्यं विधातुम् ?, ' क्षमाणि '–समर्थानि सन्ति, जडानि कर्माणि किमपि कर्त्तुं न शक्तानीत्यर्थः, ' तत् '–तस्मात् कारणात्, ' एषाम् '–कर्मणाम्, ' परिणोदकः '–प्रेरकः, ' कश्चिदस्तु '–कोऽपि भवेत्, ' यच्छक्तितः '–यस्य शक्तेः, ' अमूनि '–कर्माणि, ' सहीभवन्ति '–समर्थानि भवेयुः ॥ ६ ॥

मूलम्—इदं तु सत्यं परमत्रकर्मणा–मेषां स्वभावोऽस्ति सदेदृगेव ।
विनेरकं यान्यखिलात्मनः स्वयं, स्वरूपतुल्यं फलमानयन्ति ॥ ७ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–इदं त्वित्यादिना ' इदं तु सत्य ' मिति–एतत् तव कथनं सत्यमस्तीत्यर्थः, ' परम् '–परन्तु, ' अत्र '–अस्मिन् संसारे, ' एषां '–पूर्वोक्तानां कर्मणां, ' सदा '–सर्वदा, ' इदृगेव '–इत्थंभूत एव, ' स्वभावः ' ' अस्ति '–विद्यते, ' यत् '–यानि कर्माणि, ' ईरकं विना '–प्रेरकमंतरेण, ' स्वयं '–स्वतः, ' अखिलात्मनः '–सर्वेषाम् जीवानां,

१. कर्माणि । २. समर्थीभवन्ति ।

र ॥

'स्वरूपतुल्यं'–स्वरूपानुरूपं फलम्, 'आनयन्ति'–प्रापयन्ति ॥ ७ ॥

मूलम्—यतोऽभिवर्त्तन्त इमेऽत्र जीवाः, अजीवसम्बन्धमधिश्रिताः सदा ।
जीवन्त्यजीवन्नथ जीवितार[1]–स्त्रैकालिकः सङ्गम एभिर[2]एषाम्[3] ॥ ८ ॥

टीका—उक्तविषये हेतुमाह–यत इत्यादिना 'यतः'–यस्मात् कारणात्, 'अत्र'–अस्मिन् संसारे, 'इमे'–प्रसिद्धाः, 'जीवाः'–आत्मानः, 'अभिवर्त्तन्ते'–विद्यन्ते, ते 'सदा'–सर्वदा, 'अजीवसंबन्धमधिश्रिताः'–जडस्य योगमाश्रिताः, जडशरीरसंबंधं प्राप्ता इतिभावः, 'जीवन्ति'–जीवनं धारयन्ति, 'अजीवन्'–प्राणान् धारयन्ति स्म, 'अथे'ति समुच्चये, 'जीवितारः'–जीविष्यन्ति, फलितमाह–त्रैकालिक इत्यादिना 'एषां'–जीवानाम्, 'एभिः'–कर्मभिः सह, 'त्रैकालिकः'–त्रिकालभावी, 'संगमः'–संबंधोऽस्ति ॥ ८ ॥

मूलम्—षड्द्रव्यमध्ये खलु द्रव्यपञ्चकं, निर्जीवमेवं समवायपञ्चकम् ।
एतैरजीवैरपि जीवसङ्कुलं, जगत्समस्तं ध्रियते निरन्तरम् ॥ ९ ॥

---

१. जीविष्यन्ति । २. कर्मभिः । ३. आत्मनाम् । ४. धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकायकाललक्षणानि षड्द्रव्याणि, तन्मध्ये जीवास्तिकायमेकं विमुच्य शेषाणि पञ्चद्रव्याणि अजीवानि, एवं कालस्वभावनियतिपुराकृतपुरुषकारलक्षणपञ्चसमवायोऽप्यजीवः, एभिर्दशभिरजीवैरशेषं जीवसंभृतं जगत् सन्ध्रियते । यथा धर्मास्तिकायेन चलति । अधर्मास्तिकायेन तिष्ठति । आकाशास्तिकायेनाऽवकाशं लभते । पुद्गलास्तिकायेनाऽऽहारविहारादि करोति । कर्माण्यत्राऽन्तर्भवन्ति । यैरजीवरूपैरयं जीव. सुखदुःखभाग् भवति

टीका—कर्मणः शक्तिं दर्शयितुमाह–षड्द्रव्येत्यादि 'खल्वि 'ति निश्चये, 'षड्द्रव्यमध्ये '–धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकायलक्षणानां षण्णाम् द्रव्याणाम् मध्ये, ' द्रव्यपञ्चकं '–पञ्च द्रव्याणि, जीवास्तिकायं विहाय शेषाणि पञ्चद्रव्याणीत्यर्थः, 'एव ' मिति समुच्चये, ' समवायपञ्चकम् '–कालस्वभावनियतिपुराकृतपुरुषकारलक्षणानां पञ्चानां समवायः, 'निर्जीवं'–जीवरहितमस्ति, ' एतैः '–पूर्वोक्तैर्धर्मास्तिकायादिभिः, ' अजीवैरपि '–जीवरहितैरपि, ' जीवसंकुलं '–जीवयुक्तं, ' समस्तं '–सर्वं, ' जगत् '–संसारः, ' निरन्तरं '–सततं, ' ध्रियते '–धार्यते ॥ ९ ॥

मूलम्—जीवास्त्विमे स्वोर्जितकर्मपुद्गलैः, सन्तः श्रिता दुःखसुखाश्रयीकृताः ।
द्रव्याणि षट् यत्समवायपञ्चक–मेतन्मयं ह्येव जगन्न चाऽपरम् ॥ १० ॥

टीका—उक्तविषयमेवाह–जीवास्त्विम इत्यादिना ' इमे '–प्रसिद्धास्तु, ' जीवाः '–आत्मानः, ' स्वोर्जितकर्मपुद्गलैः '–स्वस्योर्जितैः–संगृहीतैः कर्मपुद्गलैः, ' दुःखसुखाश्रयीकृताः '–दुःखसुखाधीनाः कृताः सन्ति, कथंभूता जीवाः ? ' षड्द्रव्याणि '–धर्मास्तिकायादीनि, तथा ' समवायपञ्चकं '–कालादीन् पंचकर्म, ' श्रिताः सन्तः '–आधीना भवन्तः, अत्र हेतुमाह–यदित्यादिना ' यत् '–यस्मात् कारणात्, ' ही 'ति निश्चये, ' जगत् '–संसारः, ' एतन्मयं एव '–धर्मास्तिकायादि षड्द्रव्यमयमेव, समवायपञ्चकमयं चैवाऽस्ति, ' न चापरमिति '–पूर्वोक्तस्वरूपादन्यरूपं जगन्नास्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

तानि कर्माणि जीवः कालादिपञ्चसमवायसामर्थ्यात् गृह्णाति धारयति भुङ्क्ते शमयतीति । एवं नवापि वस्तूनि अजीवानि जीवानाम् जीवनोपायाः । तत्र कालस्तूभयत्र वर्त्तमान आयुरादिसर्वप्रमाणवद्वस्तुप्रमाणकर इति ॥

मूलम्—ततः सचेतः प्रणिचेत चेतसा, जीवेभ्य एते सबला अजीवाः ।
यतो यथाऽजीवबलप्रणोदिता, जीवास्तथा स्युः सुखदुःखभाजः ॥ ११ ॥

टीका—फलितमाह–' ततः '–तस्मात् कारणात्, 'सचेतः'–चेतसा सह, यथा स्यात्तथा सावधानमितिभावः, 'चेतसा'–मानसेन, ' प्रणिचेत '–संजानीहि, यत् ' एते '–पूर्वोक्ताः, ' अजीवाः '–जीवरहिताः, धर्मास्तिकायादय इतिभावः, ' जीवेभ्यः '–जीवापेक्षया, ' सबलाः '–बलाः, बलवन्तः सन्ति, अत्र हेतुमाह–यत इत्यादिना ' यतः '–यस्मात् कारणात्, ' अजीवबलप्रणोदिताः '–अजीवा धर्मास्तिकायादयस्तेषां बलेन प्रणोदिताः–प्रेरिताः सन्तः, 'जीवाः'–आत्मानः, ' यथा '–यत्प्रकारका भवन्ति ' तथा '–तेनैव प्रकारेण, ते ' सुखदुःखभाजः स्युः '–सुखदुःखयुक्ता भवन्ति ॥ ११ ॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावाऽनिवार्यशक्तिप्रेरणया जडस्वरूपस्याऽपि कर्मणः प्राकट्यमेकोनत्रिंशत्श्लोकैराह—

मूलम्—स्वभाव एषोऽस्ति यतस्तु जीवाः, गृह्णन्ति कर्माणि शुभाशुभानि ।
स्वकालसीमानमवाप्य कर्मा–ण्यमूनि चैषां सुखदुःखदानि ॥ १२ ॥

टीका—अत्र हेतुमाह–स्वभाव इत्यादिना ' यतः '–यस्मात् कारणात्, ' एषः '–पूर्वोक्तः, ' स्वभावस्त्वस्ति'–स्वभाव एव विद्यते, ' तु ' शब्द एवकारार्थः, यत् ' जीवाः '–आत्मानः, ' शुभाशुभानि '–शुभान्यशुभानि च

१ अजीवा धर्माधर्माकाशपुद्गलकालस्वभावनियतिपूर्वकृतपुरुषकारद्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणास्तेषां यद् बलं तेन प्रेरिता व्यापारिताः सन्तो जीवाः सुखदुःखभाजो भवन्ति । पुद्गलेष्वेव कर्माण्यन्तर्भविष्यन्तीतिभाव ।

कर्माणि, ' स्वकालसीमानमवाप्य '–स्वकालमर्यादां प्राप्य, ' एषां '–जीवानाम्, ' सुखदुःखदानि'–सौख्यक्लेशप्रदायकानि भवन्ति ॥ १२ ॥

मूलम्—चेदित्थमेवेति तदायमात्मा, गृह्णाति कर्माणि शुभाशुभानि ।
आत्माऽपि दुःखानि न भोक्तुकामः, यदेष दुष्कर्म पुरस्करोति ॥ १३ ॥
तदीह कर्माणि कियन्तमुच्चै-र्विलम्ब्य कालं निजकारमात्मकम् ।
सुखं तथा दुःखमिमं नयन्ति, कुतो विना प्रेरकमेतदेष्यम् ॥ १४ ॥

टीका—अत्र वादी शंकते–चेदित्थमित्यादिना ' इति '–पूर्वोक्तं, ' चेत् '–यदि, ' इत्थमेव '–एतादृशमेव,–भवत्कथनानुरूपमेवेतिभावोऽस्ति, ' तदा '–तर्हि, ' अयं '–पूर्वोक्तः, ' आत्मा '–जीवः, ' शुभाशुभानि '–शुभान्यशुभानि च कर्माणि, ' गृह्णाति '–आदत्ते, परन्तु ' आत्माऽपि '–जीवस्तु, ' अपि ' शब्दस्तु शब्दार्थः, ' दुःखानि '–क्लेशान्, ' भोक्तुकामः '–भोक्तुमिच्छुः, नास्ति, ' यत् '–यस्मात् कारणात्, ' एषः '–आत्मा, ' दुष्कर्म पुरस्करोति '–निकृष्टानि कर्माणि अग्रीकरोति, ' तत् '–तस्मात् कारणात्, ' इह '–अस्मिन् संसारे, ' तदीहे 'ति चिन्त्यम् पदम्, ' कर्माणि '–कर्तृपदम्, ' कियन्तम् '–किंचित्परिमाणकम्, ' उच्चैः कालं विलंब्य '–दीर्घकालपर्यन्तम् विलम्बं कृत्वा, ' निजकारम् '–स्वस्य कर्त्तारम्, ' इमं '–पूर्वोक्तं, ' आत्मकं '–आत्मानं, ' सुखं '–सौख्यम्, ' तथे 'ति समुच्चये, ' दुःखं '–क्लेशं, ' नयन्ति '–प्रापयन्ति,

१. वाञ्छनीयं ।

'एतत्'--पूर्वोक्तं वृत्तं, 'प्रेरकं विना'--प्रेरणकर्त्तारमंतरेण, 'कुतः'--कस्मात् कारणात्, 'एष्यम्'--वांछनीयमस्ति ॥ १३-१४ ॥

मूलम्—सत्यं तु कर्माणि जडानि सन्ति, नाभोगकालं निजकं विदन्ति ।
आत्माऽपि दुःखानि न भोक्तुकाम--स्तथापि दुःखान्ययमाश्रयेत ॥ १५ ॥
द्रव्यादिसामर्थ्यतथाऽनिवार्य--शक्त्यैव कर्माणि तु तादृशान्यपि ।
स्फुटानि भूत्वा स्वककर्तृकं बला--दात्मानमेनं ननु दुःखयन्ति ॥ १६ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह—सत्यमित्यादिना यद्यपि 'सत्यमि'ति--एतत्तव कथनं सत्यमस्तीतिभावः, 'तु'--यत्, कर्माणि, 'जडानि सन्ति'--अचेतनानि विद्यन्ते तानि, 'निजकम्'--आत्मीयम्, 'आभोगकालं'--भोगसमयं, 'न विदन्ति'--नैव जानन्ति, 'आत्मा'--जीवोऽपि, 'दुःखानि'--क्लेशान्, 'भोक्तुकामः'--भोक्तुमिच्छुः, नास्ति, तथापि 'अयम्'--आत्मा, 'दुःखानि आश्रयेत'--क्लेशाश्रयणं करोति, अत्र हेतुमाह—द्रव्यादीत्यादिना 'द्रव्यादिसामर्थ्यतथाऽनिवार्यशक्त्यैव'--द्रव्या-

---

१. द्रव्यमादौ येषां तानि द्रव्यादीनि द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपाणि समग्रवस्तूत्पत्तिस्थितिनाशहेतुभूतानि तेषां सामर्थ्यं सामग्रीसमवायस्तस्य तथेति तादृशी अनन्यरूपा सा चाऽसौ अनिवार्याऽप्रतिहता बलवती वा सा चाऽसौ शक्तिश्च तया प्रेरकभूतया तादृशान्यपि जडान्यजीवानि च कर्माणि द्रव्यादिसामग्र्यां सत्यां प्रकटीभूय स्वेषामात्मीयानां कारकं कर्त्तारं बलादेनमात्मानं दुःखद्वेषिणमपि दुःखयन्ति दुःखिनं कुर्वन्ति, अत एव कर्त्रादिप्रेरकं विनैव द्रव्यक्षेत्रकालभावसामर्थ्या प्रेरकभूतया जडान्यपि कर्माणि कञ्चित् कालमात्मनि स्थित्वापि तत प्रकटीभूयाऽऽत्मानं दुःखयंति सुखयंति वा न तु कर्त्रादिप्रेरकप्रेरितानि इतिभावः ॥

दीनां द्रव्यक्षेत्रकालभावानाम् सामग्र्यम् सामग्रीसमवायस्तस्य तथा तादृशी अनन्यरूपेति यावत् याऽनिवार्याऽप्रतिहता शक्तिः--सामर्थ्यं तथैव तया-प्रेरकभूतयेतिभावः, 'तादृशान्यपि'-तादृग्भूतान्यपि, जडान्यजीवानि चापीति यावत् कर्माणि, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'स्फुटानि'-व्यक्तानि, भूत्वा, 'स्वकर्तृकं-स्वस्य कर्त्तारम्, 'एनं'-पूर्वोक्तम्, 'आत्मानं'-जीवम्, 'बलात्'-बलपूर्वकम्, 'नन्वि'ति निश्चये, 'दुःखयन्ति'-क्लेशयन्ति, क्लेशे नयन्तीतिभावः ॥ १५-१६ ॥

मूलम्—यथोष्णकालादिकृतौ समेते, कश्चिज्जनः शीतलवस्तुसेवी ।
मृष्टादिकाम्लादिकरम्भभोजी, स्यात्तस्य तद्योगसमुत्थवातः ॥ १७ ॥
वर्षाऋतुं प्राप्य पुरुं[1] प्रकुप्यति, प्रायो वपुःस्थः स समीर उग्रः ।
लब्ध्वा च कालं शरदाख्यमेष, प्रायेण संशाम्यति पित्तभावात् ॥ १८ ॥
एवं हि वातादिकवस्तुनस्तू[2]त्पत्तिस्थितिप्रान्त[3]दशात्रयेऽपि ।
आत्माश्रितस्याऽस्य न कश्चिदन्यः, विनैव कालादिकमत्र हेतुः ॥ १९ ॥

टीका—अत्र दृष्टान्तमाह-यथेत्यादिना 'यथा'-येन प्रकारेण, 'उष्णकालादिकृतौ'-निदाघादावृत्तौ, 'समेते'-उपस्थिते सति, 'कश्चित्'-कोऽपि, 'जनः'-मनुष्यः, 'शीतलवस्तुसेवी'-शीतलपदार्थसेवनकर्त्ता, तथा 'मृष्टादिकाम्लादि-

१. भूरि । २. उत्पत्तेः । ३. नाश ।

करम्भभोजी स्यात् '–मिष्टान्नादिकस्याऽम्लादिकस्य दधिशक्तूनां च भोजको भवेत्, 'तस्य'–पुरुषस्य, 'तद्योगसमुत्थवातः'–शीतलवस्तुमृष्टादिकयोगोत्पन्नः, 'वर्षाऋतुं प्राप्य'–प्रावृषं लब्ध्वा, 'पुरु प्रकुप्यति'–भूरि प्रकोपं याति, अत्र हेतुमाह–प्राय इत्यादिना यतः 'प्रायः'–बहुधा, 'वपुःस्थः'–शरीरे स्थितः, 'सः'–विवक्षितः, 'समीरः'–पवनः, 'उग्रः'–तीक्ष्णो भवति, मिथ्याहारविहारादिना शरीरस्थो वायुर्दोषेषु प्रधानत्वात् सद्य एव कुप्यतीतिभावः, 'एषः'–शरीरस्थः पवनश्च, 'शरदाख्यम् कालं'–शरन्नामकं कालं, शरदर्तुमितिभावः, 'लब्ध्वा'–प्राप्य, 'प्रायेण'–बहुधा, 'पित्तभावात्'–पित्तस्योत्पत्तेः, 'संशाम्यति'–शमनं याति, फलितमाह–एवमित्यादिना 'एवम्'–अनया रीत्या, 'ही'ति चरणपूर्त्तौ निश्चये वा, 'अत्र'–अस्मिन् संसारे, 'वातादिकवस्तुनस्तु'–पवनादिद्रव्यस्येव, 'तु' शब्द इवार्थः, 'आत्माश्रितस्य'–आत्माधीनस्य, 'अस्य'–कर्मणः, 'उत्पत्तिस्थितिप्रान्तदशात्रयेऽपि'–उत्पादस्थितिनाशरूपासु तिसृष्वपि दशासु, 'कालादिकं विना'–कालप्रभृतिकमंतरेण, कालस्वभावादिकं विनेतिभावः, 'एव' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'कश्चित्'–कोऽपि, 'अन्यः'–अपरः, 'हेतुः'–कारणं नास्ति, यथा वातादिवस्तूत्पत्तिस्थितिविनाशरूपदशात्रये कालादिकमतिरिच्याऽन्यः कश्चिद्धेतुर्नास्ति तथैवात्माश्रितस्य कर्मणः कालादिकं विना कश्चिदन्यो हेतुर्नास्तीतिभावः ॥ १७–१९ ॥

मूलम्—कर्मग्रहः स्वेप्सितभुक्तिवत्स्यात्, द्वयोस्तु शान्तिस्थितिकार्यनेहा[1] ।
समस्तदात्मार्जितकर्मणां हि, भुक्तिश्च शान्तिः किल कालद्रव्यैः[2] ॥ २० ॥

१. कर्मवातयोः । २. कालः ।

टीका—दृष्टान्तदार्ष्टांतिकघटनामाह–कर्मग्रह इत्यादिना ' कर्मग्रहः '–कर्मादानं, ' स्वेप्सितभुक्तिवत्स्यात् '–स्वाभीष्टभोजनतुल्योऽस्ति, ' द्वयोस्तु '–द्वयोरेव, द्वयोः कर्मवातयोरेवेतिभावः, ' तु ' शब्द एवशब्दार्थः, ' शान्तिस्थितिकारी '–प्रशमनस्थित्योः कारकः, ' अनेहा '–कालः, ' समः '–समानोऽस्ति, ' तत् '–तस्मात् कारणात्, ' आत्मार्जितकर्मणां '–जीवोपार्जितकर्मणाम्, ' ही ' ति–चरणपूर्त्तौ, ' भुक्तिः '–भोगः, ' च '–पुनः, ' शान्तिः '–प्रशमनम्, ' किले 'ति निश्चये, ' कालद्रव्यैः '–कालस्वभावादिभिर्भवति ॥ २० ॥

मूलम्—एवं तु कालो गदितोऽस्ति कर्मणो, वातादिवस्तुत्रितयस्य चाऽपि ।
परं यदा कश्चन शान्त्युपायः, उग्रो भवेत्तर्ह्यपि याति चान्तरात् ॥ २१ ॥
किञ्चित्कदाचित्स्वदनं यदात्मनः, वातादिकृत्तत्क्षणतोऽपि जायते ।
कर्माणि कानीह तथात्मनोऽस्यो–ग्राणि क्षणात्तत्फलदान्यनीरकम् ॥ २२ ॥

टीका—फलितमाह–एवं त्वित्यादिना ' एवम् '–अनया रीत्या, ' तु ' 'वातादिवस्तुत्रितयस्य '–वातपित्तकफरूपपदार्थत्रयस्य, ' च ' शब्द इवार्थः, ' कर्मणोऽपि ' ' कालः '–समयः, ' गदितोऽस्ति '–कथितो भवति, प्रमाणभूततया विनिश्चितोऽस्तीतिभावः, यथा वातादित्रयस्योत्पत्त्यादिषु कालः कारणं तथैव कर्मणोऽप्युत्पादिषु काल एव कारणमितिभावः, 'परं'–

१. अर्थात् प्रमाणभूततया । २. वातपित्तश्लेष्मरूपवस्तुत्रयस्य । ३. सुखदुःखादिरूप । ४. नास्ति ईरकः प्रेरको यत्र फलादिदानकर्मणि तदनीरकम् तत्क्रियाविशेषणमेतत् ।

परन्तु, ' यदा '—यस्मिन् काले, ' कश्चन '—कोऽपि, ' उग्रः '—तीक्ष्णः, ' शान्त्युपायो भवेत् '—प्रशमनस्योपायः स्यात्, ' तर्हि '—तदा, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' अन्तरादपि याति '—पूर्वमेवापगच्छति, अतो व्यतिरेकमाह—किञ्चिदित्यादिना पुनः ' यत् '—यथा, ' किञ्चित् '—किमपि, ' स्वदनं '—भोज्यं वस्तु, ' कदाचित् '—कस्मिंश्चित्समये, ' आत्मनः '—जीवस्य, 'तत्क्षणतोऽपि '—तत्क्षणादेव, ' अपि ' शब्द एवशब्दार्थः, ' वातादिकृज्जायते '—वातादिदोषोत्पादकं भवति, ' तथा '—तेनैव प्रकारेण, ' इह '—अस्मिन् संसारे, ' उग्राणि '—तीक्ष्णानि, ' कानि '—कानिचित् कर्माणि, ' अस्य '—प्रसिद्धस्य, ' आत्मनः '—जीवस्य, ' अनीरकम् '—प्रेरकरहितम्, क्रियाविशेषणमेतत्, ' क्षणात् '—क्षणेन, सद्य एवेतिभावः, ' तत्फलदानि '—स्वफलप्रदानि, स्वफलरूपसुखदुःखादि प्रदायिनीतिभावो भवन्ति ॥ २१–२२ ॥

मूलम्—यदा पुनः स्त्री पुरुषं भजन्ती, यदृच्छया स्वार्थपरा विनेरकम् ।
विपाककाले परिपूर्णतां गते, प्रसूयमाना सुखिताथ दुःखिता ॥ २३ ॥
एवं तु कर्माण्यपि दुष्टशिष्टा—न्यनीरकाण्येव निजात्मगानि ।
स्वं कालमाप्य प्रकटीभवन्ति यद्, दुःखं सुखं वाऽभिनयन्ति देहिनम् ॥ २४ ॥

टीका—अत्र दृष्टान्तमाह—यदा पुनरित्यादिना ' पुनरि 'ति समुच्चये, ' यदा '—यस्मिन् काले, ' स्वार्थपरा '—स्वप्रयोजने तत्परा सती, ' स्त्री '—अबला, ' ईरकं विना '—प्रेरकमंतरेण, ' यदृच्छया '—स्वेच्छया, ' पुरुषं भजंती '—नरं सेवमाना, पुरुषसंयोगं कुर्वन्तीतिभावो भवति, तर्हि सा ' विपाककाले '—परिणामसमये, ' परिपूर्णतां गते '—पूर्णत्वं प्राप्ते सति, ' प्रसूय-

माना '–असवं कुर्वन्ती सती, 'सुखिता '–सुखयुक्ता, 'अथे 'ति समुच्चये, 'दुःखिता '–दुःखयुक्ता भवति, दृष्टांते योजनामाह–एवमित्यादिना 'एवम् '–अनया रीत्या, 'तु '–शब्दश्चरणपूर्त्तौ, कर्माण्यपि, 'यदि 'ति निश्चये, अव्ययानामनेकार्थत्वात्–'देहिनम् '–आत्मानं, 'दुःखं '–क्लेशं, 'वा '–अथवा, 'सुखं '–सौख्यं, 'अभिनयन्ति '–प्रापयन्ति, कथंभूतानि कर्माणि ? 'दुष्टशिष्टानि '–शुभाशुभानि, पुनः कथंभूतानि ? 'अनीरकाण्येव '–प्रेरकरहितान्येव, पुनः कथंभूतानि ? 'निजात्मगानि '–स्वात्मनि स्थितानि, पुनश्च कथंभूतानि ? 'स्वं कालमाप्य प्रकटीभवन्ति '–स्वं समयं प्राप्य प्रादुर्भावं प्राप्नुवन्ति सन्ति ॥ २३–२४ ॥

मूलम्—यद्वातुरः कोऽप्यगदान् किलाऽऽहरन्, जानाति नासावहितान् हितानथ ।
तदीयपाकस्य गते तु काले, सुखं तथा दुःखमयं लभेत ॥ २५ ॥
कर्माण्यपीत्थं पुनरेष आत्मा, गृह्णन् न जानाति शुभाशुभानि ।
यदा तु तेषां परिपाककाल–स्तदा सुखी दुःखयुतोऽथवा स्वयम् ॥ २६ ॥

टीका—दृष्टान्तरमभिधातुकाम आह–यद्वेत्यादि 'यद्वा '–अथवा, 'कोऽपि '–कश्चित्, 'आतुरः '–रोगी, 'किले 'ति निश्चये, 'अगदान् आहरन् '–औषधानि सेवमानो भवति, तत् 'असौ '–आतुरः, 'अहितान् '–अहितकारकान्, 'अथे 'ति समुच्चये, 'हितान् '–हितकारकान्, 'न जानाति '–न वेत्ति, 'तदीयविपाकस्य तु काले गते '–तद्विपाकस्य तु समये

१. औषधानि । २. जनः । ३ आहारको जनः कश्चित् ।

समुपस्थिते सति, ' अयम् '–आहारको जनः, ' सुखं '–सौख्यं, ' तथे 'ति समुच्चये, ' दुःखं '–क्लेशं, ' लभेत '–प्राप्नोति, दृष्टान्ते घटनामाह–कर्माणीत्यादिना ' इत्थं '–पुनरनेनैव प्रकारेण, पुनः शब्द एवकारार्थः, कर्माण्यपि, ' गृह्णन् '–आददानः सन्, ' एषः '–पूर्वोक्तः, ' आत्मा '–जीवः, ' शुभाशुभानि '–शुभान्यशुभानि च, ' न जानाति '–न वेत्ति, ' तु ' परंतु, ' यदा '–यस्मिन् काले, ' तेषां '–गृहीतानां कर्मणां, ' परिपाककालः '–परिणामसमयो भवति, ' तदा '–तस्मिन् काले, आत्मा, ' स्वयं '–स्वत एव, प्रेरकमंतरेणैवेतिभावः, ' सुखी '–सुखयुक्तोऽथवा ' दुःखयुतः '–दुःखी भवति ॥ २५–२६ ॥

मूलम्—विषं तथा कृत्रिममीदृशं स्या–त्तत्कालनाशाय तथैकमासात्।
द्विमासषण्मासकवर्षकाल–द्विवर्षवर्षत्रयतोऽपि नाशकृत् ॥ २७ ॥
इत्थं च कर्माण्यपि भूरिभेद–भिन्नस्थितीनीह भवन्ति कर्त्तुः[2]।
निजे निजे काल उपागते तु, तादृक्[3] फलं तानि वितन्वते स्वतः ॥ २८ ॥

टीका—कर्मफलविषये सदृष्टान्तमाह–विषमित्यादि ' तथे 'ति समुच्चये, ' कृत्रिमं '–परिकर्मितं[1], ' विषं '–गरलं, ' ईदृश स्यात् '–इत्थम् प्रकारं भवति, वक्ष्यमाणप्रकारं भवतीतिभावः, ' तत्कालनाशाय '–तत्क्षण एव विनाशाय भवति, ' तथे 'ति समुच्चये, ' एकमासात् '–एकमासाभ्यन्तरे, ' द्विमासषण्मासवर्षकालद्विवर्षवर्षत्रयोऽपी 'ति–द्विमासाभ्यन्तरे

१ परिकर्मितम्। २. कर्मणां कारणस्य। ३ यादृशं कर्म स्याद्यदि शुभं कर्म तदा शुभ फलं यद्यशुभं कर्माऽशुभं फलं कुर्वन्तीतिभावः।

षण्मासाभ्यन्तरे वर्षकालाभ्यन्तरे द्विवर्षाभ्यन्तरे तथा त्रिवर्षाभ्यंतरेऽपीतिभावः, ' नाशकृत् '—नाशकारि भवति, दार्ष्टान्तिकविषयमाह—इत्थमित्यादिना ' इत्थं च '—इत्थमेव, ' च ' शब्द एवकारार्थः, ' इह '—अस्मिन् संसारे, ' कर्माण्यपि भूरिभेदभिन्नस्थितीनि भवन्ति '—अनेकभेदैर्भिन्ना स्थितिर्येषां तानि तथा सन्ति तानि कर्माणि, ' निजे निजे काल उपागते तु '—स्वस्वकाले समुपस्थित एव, ' तु ' शब्द एवकारार्थः, ' कर्तुः '—कर्मणां कारकस्य, ' स्वतः '—स्वयमेव, प्रेरकमंतरेणैवेत्यर्थः, ' तादृक् '—तथाप्रकारकम्, शुभाशुभं वेतिभावः ' फलं '—विपाकं, ' वितन्वते '—कुर्वन्ति ॥ २७–२८ ॥

मूलम्—सिद्धो रसो[1] वैष भवेदसिद्धः, सर्वो[2] गृहीतोऽभ्यमितेन[3] केनचित् ।
समागते तत्परिणाम[4]काले, दुःखं सुखं वा भजते तदाशकः[5] ॥ २९ ॥
तथात्मगा दुःपिटिका[6] च वालको, दुर्वातशीताङ्गकसन्निपाताः ।
स्वयं त्वमी कालबलं समेत्य, तद्वन्तमात्मानमतिव्यथन्ते[7] ॥ ३० ॥
अमी तथैते ऋतवोऽपि सर्वे, स्वं स्वं च कालं समवाप्य सद्यः ।
मनुष्यलोकाङ्गभृतो[8] नयन्ति, सुखं तथा दुःखमिमान् स्वभावतः ॥ ३१ ॥

१ पक्वः। २ पारदः। ३. रोगितेन। ४. परिपाक। ५. सिद्धस्याऽसिद्धस्य वा पारदस्य भक्षकः। ६ दुष्टा स्फोटिका दुःपिटिका निर्नामिकाद्येत्यर्थः। ७. पीडयन्ति। ८. मनुष्यलोकमध्यवर्तिप्राणिनः प्रति।

एवं हि कर्माणि निजात्मगानि, स्वकं स्वकं कालमवाप्य सत्वरम् ।
विना परप्रेरणमेतमात्मकं, नयन्ति दुःखं सुखमप्यथो स्वयम् ॥ ३२ ॥

टीका—दृष्टान्तराण्याह–सिद्ध इत्यादिना यदा 'केनचित्'–केनाऽपि, 'अभ्यमितेन'–रोगिणा, 'सिद्धः'–औषधैः पाकं नीतः, 'वा'–अथवा, 'असिद्धः'–अपक्वः, 'सर्वः'–सर्वप्रकारकः, 'गृहीतः'–आत्तः, 'एषः'–प्रसिद्धः, 'रसो भवेत्'–पारदः स्यात्, तदा 'तत्परिणामकाले'–तद्विपाककाले–समये, 'समागते'–समुपस्थिते सति, 'तदाशकः'–पारदभक्षकः, 'दुःखं'–क्लेशं, 'वा'–अथवा, 'सुखं'–सौख्यं, 'भजते'–प्राप्नोति, 'तथे'ति समुच्चये, 'आत्मगाः'–शरीरे स्थिताः, 'दुःपिटिकाः'–दुष्टा स्फोटिका निर्नामिकादीत्यर्थः, 'च'–पुनः, 'बालकः'–बालानामको रोगविशेषः, तथा 'दुर्वातशीताङ्गकसन्निपाताः'–दुष्टवात–शीतांगक–सन्निपातनामानो रोगा भवन्ति, 'अमी'–दुःपिटिकादयो ये रोगाः, 'स्वयं तु'–स्वत एव, प्रेरकमंतरेणैवेतिभावः, 'तु' शब्द एवकारार्थः, 'कालबलं समेत्य'–समयशक्तिं प्राप्य, 'तद्वन्तम्'–आत्मानम्, दुःपिटिकादिरोगयुक्तं जीवम्, 'अतिव्यथन्ते'–अत्यन्तं पीडयन्ति, 'तथे'ति समुच्चये, 'अमी'–प्रसिद्धाः, 'सर्वे'–सकलाः, 'ऋतवः'–हेमन्तादयः, 'एते'–ऋतवः 'स्वं स्वं कालं समवाप्य'–स्वं स्वं समयं प्राप्य, 'च' शब्दश्चरणपूर्तौ, 'सद्यः'–शीघ्रमेव, 'स्वभावतः'–स्वभावेनैव, प्रेरकमंतरेणैवेतिभावः, 'इमान्'–प्रसिद्धान्, 'मनुष्यलोकाङ्गभृतः'–मनुष्यलोकमध्यवर्तिप्राणिनः, 'सुखं'–सौख्यं, 'तथे'ति समुच्चये, 'दुःखं'–क्लेशं, 'नयन्ति'–प्रापयन्ति, दार्ष्टान्ते घटनामाह–एवमित्यादिना 'एवम्'–अनया रीत्या, 'ही'ति निश्चये, 'निजा-

त्मगानि '–स्वात्मस्थितानि कर्माणि, ' स्वकं स्वकं कालमवाप्य '–स्वं स्वं समयं प्राप्य, ' सत्वरम् '–शीघ्रमेव, ' परप्रेरणं विना '–अन्यस्य प्रेरणमंतरेण, ' स्वयं '–स्वतः, अज्ञबोधनार्थत्वात् नाऽत्र पुनरुक्तिदोषः, ' एतं '–प्रसिद्धम्, ' आत्मकम् '–आत्मानं, ' दुःखं '–क्लेशं, ' अथो अपि ' शब्दौ समुच्चये, ' सुखं '–सौख्यं, ' नयन्ति '–प्रापयन्ति ॥ २९–३२ ॥

मूलम्—तथा पुनः शीतलिकादिबाला–मयोद्भवा तप्तिरधिश्रयेत्तनुम् ।
षण्मासमात्मानमिमं तथैव, श्रयन्ति कर्माणि समेत्य यत्स्वयम् ॥ ३३ ॥

टीका—परिपाककालविषये सदृष्टान्तमाह–तथा पुनरित्यादि ' तथा ' शब्दः ' पुनः ' शब्दश्च समुच्चये, ' शीतलिकादिबालामयोद्भवा '–शीतलादयो ये बालामया–बालरोगास्तेभ्य उद्भवः–उत्पत्तिर्यस्याः सा, तथा ' तप्तिः '–उष्णता, ' षण्मासं '–षण्मासपर्यन्तं, ' तनुं '–शरीरम्, ' अधिश्रयेत् '–आश्रयति, ' तथैव '–तेनैव प्रकारेण, ' यदि 'ति निश्चये, ' कर्माणि ' ' समेत्य '–प्राप्य, ' स्वयं '–स्वत एव, प्रेरकमंतरेणैवेतिभावः, ' इमं '–पूर्वोक्तमात्मानं जीवं, ' श्रयन्ति '–आश्रयन्ति ॥३३॥

मूलम्—यक्ष्माक्षिबिन्दूद्धतपक्षघाता, अर्धाङ्गशीताङ्गमुखामया ये ।
सहस्रघस्रैः परिपाकमेषां, वदन्ति वैद्या विदितागमा विदा ॥ ३४ ॥
इत्थं हि केषामिह कर्मणां परी–पाकं स्वकालं समवाप्य यत्स्वयम् ।
विना परप्रेरणमत्र पण्डिताः, पठन्ति सैद्धान्तिकसिन्धुरा ये ॥ ३५ ॥

---

१. आदिशब्दात् बोदरिकाऽच्छपिटकादयः । २. क्षयरोग । ३. रोगाः । ४. ज्ञानेन ।

टीका—अत्रैव दृष्टान्तैः पुष्टिमाह–यक्ष्माक्षीत्यादिना 'यक्ष्मा'–क्षयरोगः, 'अक्षिबिन्दुः'–नेत्रस्य रोगविशेषः, 'उद्धतपक्षघातः'–उग्रः पक्षाघातनामको रोगः, तथा अर्धाङ्गेत्यादि 'अर्धाङ्गः'–वायुजन्यो रोगविशेषः, 'शीताङ्गः'–शीताङ्गनामा रोगो यस्मिन्नंगस्य शीतीभावः सञ्जायते, इत्यादयः, 'आमयाः'–रोगाः, ये सन्ति, 'वैद्याः'–चिकित्सकाः, 'विदा'–ज्ञानेन, 'सहस्रघस्रैः'–सहस्रदिवसैः, 'एषां'–यक्ष्माद्यामयानाम्, 'परिपाकं'–विपाकम्, परिणाममिति यावत्, 'वदन्ति'–कथयन्ति, कथंभूता वैद्याः ? 'विदितागमाः'–ज्ञातशास्त्राः, शास्त्रज्ञाता इतिभावः, दार्ष्टान्ते योजनामाह–इत्थमित्यादिना 'इत्थम्'–अनेन प्रकारेण, 'ही'ति चरणपूर्त्तौ, 'इह'–अस्मिन् संसारे, 'अत्र'–कर्मणां विपाकसमये, 'यदि'ति निश्चये, अव्ययानामनेकार्थत्वात्, 'स्वयं'–स्वत एव, परप्रेरणं विना, अन्यस्य प्रेरणमंतरेणैव परावबोधनार्थत्वात्, कथनावव्यक्तायां नाऽत्र पुनरुक्तिदोषशंकावकाशः, 'स्वकालं समवाप्य'–स्वसमयं प्राप्य, केषांचित् कर्मणाम्, 'परिपाकं'–विपाकम्, ते 'पण्डिताः'–विद्वांसः, 'पठन्ति'–अधीयते, कथयन्तीतिभावः, के पण्डिता इत्याह–सैद्धान्तिकेत्यादिना ये 'सैद्धान्तिकसिंधुराः'–सैद्धान्तिकेषु हस्तिन इव, सिद्धान्तवेत्तृषु धुरंधरा इतिभावोऽस्ति ॥३४–३५॥

मूलम्—तापो यथा पित्तभवो दशाहं, सश्लेष्मिको द्वादशरात्रमात्रम् ।
सवातिकस्तिष्ठति सप्तरात्रं, त्रैदोषिकः पञ्चदशाहमानम् ॥ ३६ ॥

१-२-३. तापः ।

एवं ज्वराणां परिपाककालः, स्वकः स्वकोऽयं पृथगेष उक्तः ।
यथा तथैषां कृतकर्मणामपि, पृथक् स्वकीयः स्थितिकाल एष्यः ॥ ३७ ॥

टीका—अत्रैव दृष्टान्तरमाह–ताप इत्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, ' पित्तभवः '–पित्तादुत्पन्नः, पित्तप्रकोपाज्जात इतिभावः, ' तापः '–ज्वरः, ' दशाहं '–दशवासरपर्यन्तं, ' तिष्ठति '–स्थितिं करोति, 'सश्लेष्मिकः'–श्लेष्मणा–कफेन सहितः, श्लेष्मकोपाज्जात इतिभावः, ' द्वादशरात्रमात्रम् '–केवलं द्वादशवासरपर्यन्तम् तिष्ठति, ' सवातिकः '–वातेन सहितः, वातकोपाज्जात इतिभावः, ' सप्तरात्रम् '–सप्तवासरपर्यन्तम् तिष्ठति, तथा ' त्रिदोषिकः '–वात–पित्त–कफरूपत्रिदोषेण जातः सान्निपातक इतिभावः, ' पञ्चदशाहमानं '–पंचदशवासरपर्यन्तम् तिष्ठति, फलितमाह–एवमित्यादिना ' एवम् '–अनया रीत्या, ' ज्वराणाम् '–तापानाम्, ' एषः '–पूर्वोक्तः, ' स्वकः स्वकः '–स्वकीयः स्वकीयः, ' परिपाककालः '–परिपचनसमयोऽस्ति, दार्ष्टान्ते घटनामाह–यथेत्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, ' अयम् '–ज्वराणां परिपाकः, ' पृथगुक्तः '–पृथक् पृथक् कथितोऽस्ति, ' तथा '–तेनैव प्रकारेण, ' एषां '–पूर्वोक्तानाम्, ' कृतकर्मणामपि '–विहितानां कर्मणामपि, ' स्वकीयः '–आत्मीयः, ' स्थितिकालः '–स्थितिसमयः, ' पृथग् '–विभिन्नः, ' एष्यः '–वाञ्छनीयः, मन्तव्य इतिभावः ॥ ३६–३७ ॥

१. वाञ्छनीयः ।

मूलम्—यथा यथा वा चरितं पुरात्मना, फलं ग्रहाणामिह भुज्यते तथा ।
यावत्स्वसीमां सहजाद्दशान्त-र्दशादियुक्तं परिणोदकं विना ॥ ३८ ॥
कर्माणि कर्मान्तरितानि चैवं, यथात्मनानेन ननु क्रियन्ते ।
स्वकालमेषां परिपाकयुक्तं, भुङ्क्ते तथात्मा फलमीरकं विना ॥ ३९ ॥

टीका—अत्रैव श्लोकद्वयेन फलितमाह–यथेत्यादिना 'वे' ति निश्चये, 'पुरा'–पूर्वकाले, 'आत्मना'–जीवेन, 'यथा यथा चरितं'–यादृशं यादृशं कर्म कृतं, 'तथा'–तेनैव प्रकारेण, 'इह'–अस्मिन् संसारे, 'स्वसीमां यावत्'–स्वमर्यादापर्यन्तम्, 'परिणोदकं विना'–प्रेरकमंतरेणैव, 'सहजात्'–स्वभावात्, 'ग्रहाणाम्'–सूर्यादीनाम्, 'फलं भुज्यते'–भोगं नीयते, कथंभूतं फलं ? 'दशान्तर्दशादियुक्तम्'–मुख्यदशा चान्तर्दशादिभिर्युक्तम्, फलितमाह–कर्माणीत्यादिना 'एवम्'–अनया रीत्या, 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'नन्वि'ति निश्चये, 'अनेन'–पूर्वोक्तेन, 'आत्मना'–जीवेन, 'यथा'–येन प्रकारेण यादृशीतिभावः, 'कर्मान्तरितानि'–अन्यकर्मभिर्व्यवहितानि कर्माणि स्वसमयानुकूलं, 'एषां'–कृतकर्मणां, 'परिपाकयुक्तं'–विपाकमिश्रितं फलं, 'आत्मा'–जीवः, 'भुंक्ते'–भोगं नयति ॥ ३८–३९ ॥

१. प्रेरकम् ।

मूलम्—कर्मेदमाहुः कतिधा बुधाः सुधा-किरा[1] गिरा[2] त्वं शृणु दक्षिण ! क्षणम् ।

भङ्गीचतुष्केन[3] चतुर्विधं त-त्तत्राऽऽद्यं[4] मत्राऽऽचरितं[5] त्विहोदयेत्[6] ॥ ४० ॥

कर्मण उदये आगमनभेदान् एकादशश्लोकैराह—

शस्तं तथाऽशस्तमहो यथा भुवि, सिद्धाय[7] वा साधुजनाय भूभृते[8] ।

श्रिया[9] इह स्वल्पमपि प्रदत्तं, चौर्याद्यशस्तं पुनरत्र नाशकृत् ॥ ४१ ॥

टीका—इदानीम् कर्मभेदान् दर्शयितुमाह–कर्मेदमित्यादि 'बुधाः'–विद्वांसः, 'सुधाकिरा'–अमृतस्राविण्या, 'गिरा'–वाण्या, 'इदम्'–प्रसिद्धम् कर्म, 'कतिधा'–कतिप्रकारम्, 'आहुः'–कथयन्ति, अस्योत्तरमाह–त्वमित्यादिना 'हे दक्षिण !'–हे चतुर !, त्वं 'क्षणं'–क्षणकालम्, 'शृणु'–आकर्णय, 'तत्'–कर्म, 'भङ्गीचतुष्केन'–भंगीनां चतुष्टयेन, चतुर्विधस्वरूपभेदैरित्यर्थः, 'चतुर्विधं'–चतुःप्रकारमस्ति, तेषु प्रथमं दर्शयितुमाह–तत्राऽऽद्यमित्यादि 'तत्र'–तेषु, 'आद्यं'–प्रथमं, 'शस्तं'–शुभम्, 'तथे' ति समुच्चये, 'अशस्तम्'–अशुभम् कर्म, 'अत्र'–अस्मिन् संसारे, 'आचरितम्'–कृतम्, 'तु'

---

१. अमृतस्राविण्या । २. वाण्या । ३. इदं कर्मसिद्धान्ते चतुर्धोक्तं । यथा इह लोए कडा कम्मा इह लोए वेज्जन्ते, इह लोए कडा कम्मा परलोए वेज्जन्ते, परलोए कडा कम्मा इह लोए वेज्जन्ते, परलोए कडा कम्मा परलोए वेज्जन्ते इति चतुर्भङ्गी उक्ता साऽत्र यथा संवाच्या । ४ कर्म । ५. कृतम् । ६. अत्रैवोदयं यायात् । ७. सिद्धपुरुषाय रससिद्धादिमहापुरुषाय । ८ राज्ञे । ९ लक्ष्म्यै ।

शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' इह '—अस्मिन्नेव संसारे, ' उदयेत् '—उदयं गच्छेत्, उत्पूर्वस्यायतेः कदाचित्परस्मैपदत्वमपि भवति, अस्यैवोदाहरणमाह—अहो इत्यादिना ' अहो ' इति विस्मये, चरणपूर्त्तौ वा, ' यथा '—येन प्रकारेण, ' इह भुवि '—अस्मिन् संसारे, ' सिद्धाय '—सिद्धपुरुषाय, ' साधुजनाय '—सत्पुरुषाय, ' वा '—अथवा, ' भूभृते '—राज्ञे, ' स्वल्पमपि '—स्तोकमपि, ' प्रदत्तं '—वितीर्णम्, वस्तु, ' श्रियै '—लक्ष्म्यै, सम्पत्कारणाय भवतीतिभावः, पुनरिति व्यतिरेकदर्शने ' चौर्यादि '—स्तेयादिकम्, ' अशस्तम् '—अशुभं कर्म, ' अत्र '—अस्मिन्संसारे, ' नाशकृत् '—नाशकारकम् भवति ॥ ४०–४१ ॥

मूलम्—भेदो द्वितीयोऽत्रकृतं परत्र, कर्मोदयेदत्र यथा प्रशस्यम्।
तपोव्रताद्याचरितं सुरत्वा-दिदं तदन्यन्नरकादिदायि ॥ ४२ ॥

टीका—कर्मणो द्वितीयं भेदं दर्शयितुमाह—भेद इत्यादि ' द्वितीयो भेदः '—द्वितीयोऽयं भेदोऽस्तीत्यर्थः, यत्, ' अत्र '—अस्मिन् संसारे, ' कृतं '—विहितं कर्म, ' परत्र '—परलोके, ' उदयेत् '—उदयं गच्छेत्, परस्मैपदभावे हेतुः पूर्वश्लोके निगदितः, अस्योदाहरणमाह—अत्रेत्यादिना ' यथा '—येन प्रकारेण, ' अत्र '—अस्मिन् संसारे, ' आचरितं '—कृतं, ' तपोव्रतादि '—तपश्चर्याव्रतादिकं, ' प्रशस्यं '—शुभं कर्म, ' सुरत्वादिदं '—देवत्वादिप्रदायकं भवति, ' तदन्यत् '—तस्माद् भिन्नं, तपोव्रतादिप्रशस्यकर्मणो भिन्नमशुभं कर्मेत्यर्थः, ' नरकादिदायि '—नरकादिप्रदायकम् भवति ॥ ४२ ॥

१–२. कर्म।

मूलम्—सत्या यथा सत्त्वमिहाश्रितं पुनः, शूरेण शौर्यं परजन्मभोगदम् ।
तृतीयभेदस्तु परत्र कर्म, निर्मातमत्रासुखसौख्यदायि ॥ ४३ ॥

टीका—द्वितीयभेदस्यैव दृष्टान्तरमाह–सत्या इत्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, ' इह '–अस्मिन् संसारे, ' सत्या '–पतिव्रतया, ' आश्रितम् '–अवलंबितम्, आचरितमितिभावः, ' सत्त्वं '–पातिव्रत्यम्, ' पुनरि 'ति समुच्चये, ' शूरेण '–वीरपुरुषेण, आश्रितम्, ' शौर्यं '–वीरत्वम्, ' परजन्मभोगदं '–परलोके फलदायकम् भवति, तृतीयं भेदं दर्शयितुमाह–तृतीयभेदस्त्वित्यादि ' तृतीयभेदस्त्वि 'ति–तृतीयो भेदस्त्वेष विद्यत इत्यर्थः, यत् ' परत्र '–परलोके, ' निर्मातं '–कृतम्, कर्म, ' अत्र '–अस्मिन् भवे, ' असुखसौख्यदायि '–दुःखसुखदायकम् भवति ॥ ४३ ॥

मूलम्—एकत्र पुत्रे तु तथा प्रसूते, दारिद्र्यमात्रादिवियोगयोगः ।
अस्य ग्रहा अप्यथ जन्मकुण्डली–मध्ये न शस्ताः कृतकर्मयोगात् ॥ ४४ ॥
अन्यत्र पुत्रे तु तथा प्रजाते, सम्पत्तिमातादिसुखं प्रभुत्वम् ।
अपि ग्रहा अस्य तु जन्मपत्रिका–मध्ये विशिष्टाः पतिताः सुकर्मतः ॥ ४५ ॥

टीका—अत्रैव दृष्टान्तद्वारा पुष्टिमाह–एकत्रेत्यादिना 'तथे'ति–तद्यथेत्यर्थः, 'एकत्र'–एकस्मिन्, 'पुत्रे'–तनये, 'प्रसूते'–जाते सति, ' तु ' शब्दो वक्ष्यमाणवाक्यविश्लेषद्योतकः, ' कृतकर्मयोगात् '–विहितस्य कर्मणः संबंधेन, ' दारिद्र्यमात्रादि-

१. एकस्मिन्। २. प्राप्तिः।

वियोगयोगः '–दारिद्र्यम्–निर्धनता मात्रादीनां वियोगः–जनन्यादीनां विरहस्तयोर्योगः–प्राप्तिर्भवति, ' अथे 'ति–अनन्तरे, ' जन्मकुण्डलीमध्ये '–जन्मपत्रिकायाम्, ' अस्य '–पूर्वोक्तस्य पुत्रस्य, ' ग्रहाः '–सूर्यादयोऽपि, ' न शस्ताः '–न प्रशंसनीया भवन्ति, अतो व्यतिरेकमाह–अन्यत्रेत्यादिना ' तथे 'ति समुच्चये, ' तु ' शब्दो व्यतिरेकप्रदर्शनार्थः, ' अन्यत्र '–अन्यस्मिन् पुत्रे, ' प्रजाते '–उत्पन्ने सति, ' सुकर्मतः '–शोभनकर्मणः, पूर्वकृतशुभकर्मवशादितिभावः, ' सम्पत्तिमात्रादिसुखं '–ऐश्वर्यं जनन्यादीनां च सौख्यम्, तथा ' प्रभुत्वं '–स्वामित्वम् भवति, ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' अस्य '–पूर्वोक्तस्य, ' अन्यस्य '–पुत्रस्य, ' जन्मपत्रिकामध्ये '–जन्मकुंडल्यां, ' ग्रहाः '–सूर्यादयोऽपि, ' विशिष्टाः '–उत्कृष्टाः, प्रशस्ता इतिभावः, ' पतिताः '–वर्तमाना भवंति ॥ ४४–४५ ॥

मूलम्—चतुर्थभेदस्तु परत्र कर्म, कृतं परत्रैव फलप्रदं भवेत् ।
यदत्र जन्मे[1] विहितं तृतीय–भवे विधत्ते फलमात्मगामुकम् ॥ ४६ ॥

टीका—चतुर्थभेदं दर्शयितुमाह–चतुर्थभेदस्त्वित्यादि चतुर्थभेदस्त्वयमस्तीतिभावः, यत् ' परत्र '–परलोके, ' कृतं '–विहितम्, कर्म, ' परत्रैव '–परलोक एव, ' फलप्रदं भवेत् '–फलदायकं स्यात्, यत् ' अत्र '–अस्मिन्, ' जन्मे '–भवे, जन्मशब्दोऽदंतोऽपि कैश्चिन्मतः, ' विहितम् '–कृतं कर्म, ' तृतीयभवे '–तृतीये जन्मनि, ' आत्मगामुकम् '–आत्मभावि फलं, ' विधत्ते '–करोति ॥ ४६ ॥

१ जन्मशब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति ।

मूलम्—येनाऽत्र जन्मे व्रतमुग्रमाश्रितं, प्रागेव तस्मात्प्रतियद्धमायुः ।
नृदेवपश्वादिभवोत्थमल्पं, तदा ततोऽन्यत्र भवेद्भवेऽस्य तत् ॥ ४७ ॥
दीर्घायुषा भोज्यमहो महत्फलं, द्रव्यादिसामग्र्यतथोदयाच्च ।
यथाऽत्र केनाऽपि च वस्तु किञ्चि–त्त्रातं प्रगे मे भवितेत्यवेत्य ॥ ४८ ॥
द्रव्यादिकालादितथाविधौजसा–त्यर्थं तु तद्वस्तु न तेन तत्र ।
दिने प्रभुक्तं हि ततोऽन्यदा त–द्भोक्तव्यमेताहृगिदं तु कर्म ॥ ४९ ॥

टीका—चतुर्थभेदस्योदाहरणमभिधातुकाम आह–येनाऽत्रेत्यादि 'येन'–जनेन, 'अत्र जन्मे'–अस्मिन् भवे, 'उग्रं'–तीक्ष्णं, 'व्रतम्' 'आश्रितम्'–अवलम्बितम्, कृतमिति यावत्, 'तस्मात्'–उग्रव्रताश्रयणात्, 'प्रागेव'–पूर्वमेव, 'नृदेवपश्वादिभवोत्थम्'–मनुष्यदेवतिर्यग्जन्मोत्पन्नम्, 'प्रतिबद्धम्'–बंधनं नीतम्, 'अल्पं'–स्तोकम्, 'आयुः'–जीवनकालः, 'अस्य'–कृतोग्रव्रतस्य, 'तत्'–तस्मात्, 'अन्यत्रभवे'–अन्यस्मिन् जन्मनि, भवति, 'तदा'–तस्मिन् काले, अन्यत्र भव इत्यर्थः, 'अहो!'–इति विस्मये, 'तत्'–तस्मात् कारणात्, कृतोग्रव्रतप्रभावादित्यर्थः, 'च'–पुनः, 'द्रव्यादिसामग्र्यतथोदयात्'–द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपसामग्रीसमवायस्य तथाविधोदयवशात्, 'दीर्घायुषा'–महता जीवनकालेन सह, 'महत् फलं'–बृहत्फलं, 'भोज्यम्'–भोगार्हम् भवति, एतदेवोदाहरणेन स्पष्टयति–यथात्रेत्यादिना 'यथा'–येन प्रकारेण,

१. परत्र कृतं कर्म परत्र यद्वेद्यते तत् सर्वमिदमुक्तम् ।

'अत्र'–अस्मिन् संसारे, 'प्रगे मे भविता'–प्रातःकाले मम भविष्यति, प्रातरिदं मम कार्ये समायास्यतीतिभावः, 'इति'–
एतद्, 'अवेत्य'–ज्ञात्वा, 'केनाऽपि'–केनचिज्जनेन, 'च'–शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'किंचित्'–किमपि वस्तु, 'त्रातं'–
रक्षितम्, वस्तुरक्षणे हेतुमाह–द्रव्यादीत्यादिना 'द्रव्यादीनां'–द्रव्य–क्षेत्र–काल–भावानाम्, 'कालादीनाम्'–काल–
स्वभाव–नियति–पूर्वकृत–पुरुषकाराणां, 'तथाविधेन'–तादृशा, 'ओजसा'–शक्त्या, 'अत्यर्थम्'–अतिशयेन, 'तु'
शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'तेन'–वस्तुरक्षित्रा जनेन, 'तत्र दिने'–तस्मिन्नहनि, यस्मिन्नहनि, तद् वस्तु रक्षितम् तस्मिन् दिन
इति, 'तत्'–पूर्वोक्तम् वस्तु, 'न प्रभुक्तं'–न भोगमानीतम्, 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'ही'ति निश्चये, 'तत्'–
पूर्वोक्तम् वस्तु, 'अन्यदा'–अन्यस्मिन् काले, अन्यदिन इतिभावः, 'भोक्तव्यं'–भोगार्हम् भवति, दार्ष्टान्तविषयमाह–
एतादृगित्यादिना 'इदं'–पूर्वोक्तम् कर्म, अपि, 'एतादृक् तु'–एतादृशमेव, 'तु' शब्द एवकारार्थोऽस्ति ॥ ४७–४९ ॥

मूलम्—एवं चतुर्भङ्गिकया स्वकर्म, भोग्यं भवेदाप्तवचःप्रमाणात् ।
कर्मस्वरूपं प्रतिवेदितुं नो, क्षमं विना केवलिनो यथार्थम् ॥ ५० ॥

टीका—उक्तविषयमुपसंहर्तुमाह–एवमित्यादि 'एवम्'–अन्या रीत्या, 'आप्तवचःप्रमाणात्'–यथार्थवक्तृवाच्यरूप-
प्रमाणेन, 'चतुर्भङ्गिकया'–चतुर्विधस्वरूपभेदेन, 'स्वकर्म'–आत्मकृतं कर्म, 'भोग्यं भवेत्'–भोगार्हम् भवति, किमि-
त्याप्तवचः ? प्रमाणादेवेत्याह–कर्मस्वरूपमित्यादि 'केवलिनो विना'–केवलज्ञानिनोऽन्तरेण, 'यथार्थम्'–सत्यम्, 'कर्म-
स्वरूपम्'–कर्मलक्षणम्, 'प्रतिवेदितुं'–प्रज्ञापयितुं, 'नो क्षमम्'–न योग्यमस्ति, केवलिनोऽतिरिच्य नाऽन्यः कश्चित्

कर्मस्वरूपं ज्ञापयितुम् शक्त इतिभावः ॥ ५० ॥

मूलम्—ईदृग्विधं कर्म कियद्विधं स्या–त्त्रिधेति तत्किं शृणु भण्यमानम् ।[1]
भुक्तं च भोग्यं परिभुज्यमानं, शुभाशुभं सर्वमिदं सदृक्षम् ॥ ५१ ॥[2]

टीका—चतुर्भङ्गिकया भोक्तव्यं कर्म कतिविधमिति प्रश्नयति–वचनद्वारेण दर्शयितुमाह–ईदृग्विधमित्यादि 'ईदृग्विधम्'–चतुर्भङ्गिकया भोक्तव्यं, 'कर्म कियद्विधं स्यात्' इति कतिप्रकारमस्तीत्यर्थः, अस्योत्तरमाह–त्रिधेतीति पूर्वोक्तं कर्म त्रिप्रकारमस्तीतिभावः, प्रकारान् ज्ञातुमाह–तत्किमिति 'तत्'–त्रिप्रकारकत्वं, किमस्तीतिभावः, अस्योत्तरमाह–शृण्वित्यादिना 'मया' 'भण्यमानं'–कथ्यमानं, 'शृणु'–आकर्णय त्वम्, 'इदं'–पूर्वोक्तम्, 'सर्वं'–सकलं, 'शुभाशुभं'–शुभमशुभं च कर्म, 'सदृक्षं'–समानत्वेन, 'भुक्तं'–भोगमानीतं, 'भोग्यं'–भोक्तुमर्हम्, 'च'–पुनः, 'परिभुज्यमानं'–भोगं नीयमानं भवति, सर्वमपि शुभाशुभं कर्म भुक्त–भोग्य–परिभुज्यमानभेदैस्त्रिप्रकारकमस्तीतिभावः ॥ ५१ ॥

कर्मणो भुक्तभोक्ष्यमाणभुज्यमानामवस्थां नवभिः श्लोकैराह–

मूलम्—किंवद्यथा वारिदबिन्दुवृन्दं, वसुन्धरायां पतितं प्रशुष्कम् ।
तद्भुक्तवत्तत्र च भोग्यवत्किं, यावत्पतिष्यत्परिशोष्यमस्ति ॥ ५२ ॥

---

१. यच्चतुर्भङ्ग्या भोक्तव्यं कर्म तत्कतिप्रकारं स्यादित्याह । २. सर्वं शुभं वाऽशुभं वा कर्म त्रिधा स्यात् भुक्तं भोग्यं भुज्यमानं चेति ।

निपत्यमानं परिशुष्यमाणं, यावद्यदेतत्परिभुज्यमानवत् ।
ग्राह्यो गृहीतः परिगृह्यमाणो, यथा गुडो वा किल कर्म तद्वत् ॥ ५३ ॥

टीका—स्वरूपं ज्ञापयितुम् पूर्वक्रमेणाऽऽह—किंवदित्यादि 'किंवदि'ति किमिव तत्कर्म भवतीतिभावः, अस्योत्तरमाह—यथेत्यादिना 'यथा'—येन प्रकारेण, 'वसुंधरायां'—पृथिव्यां, 'पतितं'—पतनं प्राप्तं सत्, 'वारिदबिंदुवृंदं'—मेघबिंदुसमूहः, 'प्रशुष्कम्'—शोषं प्राप्तं भवति, 'तत्'—वारिदबिन्दुवृंदं, 'भुक्तवत्'—भुक्तकर्मतुल्यमस्ति, भोग्यस्वरूपं ज्ञातुमाह—तत्रेत्यादि 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'तत्र'—उक्तदृष्टान्ते, 'भोग्यवत् किमि'ति—भोग्यकर्मतुल्यं किमस्तीतिभावः, अस्योत्तरमाह—'यावत्'—यथा, वसुन्धरायाम्, 'पतिष्यत्'—पतनं प्राप्स्यत्, 'वारिदबिंदुवृंदम्' 'परिशोष्यमस्ति'—परिशोषणार्हं भवति, तद्भोग्यवदस्ति, परिभुज्यमानस्वरूपं ज्ञापयितुमाह—निपत्यमानमित्यादि 'यावत्'—यथा, वसुन्धरायाम्, 'निपत्यमानम्'—पतनं प्राप्यमाणं, 'यत्'—वारिदबिंदुवृंदं, 'परिशुष्यमाणं'—परिशोषणं नीयमानं भवति, 'एतत्'—इत्थं प्रकारकम्, वारिदबिंदुवृंदं 'परिभुज्यमानवत्'—परिभुज्यमानकर्मवत् भवति, पृथिव्यां पतितं प्रशुष्कं वारिदबिंदुवृंदमिव भुक्तं कर्माऽस्ति, पृथिव्यां पतिष्यत् परिशोष्यं वारिदबिंदुवृंदमिव भोग्यं कर्माऽस्ति, पृथिव्यां निपत्यमानं परिशुष्यमाणं वारिदबिंदुवृंदमिव च परिभुज्यमानं कर्माऽस्तीतिभावः, अत्रैव दृष्टान्तरमाह—ग्राह्य इत्यादिना 'वा'—अथवा, 'यथा'—येन प्रकारेण, 'किले'ति

१. यथा मुखान्तर्गतः कवलः चर्वितः स भुक्तकर्मवत्, चर्व्यमाणकवलस्तु भुज्यमानकर्मवत्, यश्च चर्विष्यते कवलः स भोग्यकर्मवत्, इति कर्मणां कवलदृष्टान्तयोजनेति ।

स्ववार्त्तायाम्, 'ग्राह्यः'[1]—ग्रहीतुं योग्यः, 'ग्रहीतः'—ग्रहणं नीतः, तथा 'परिगृह्यमाणः'—ग्रहणं नीयमानः, 'गुडः'—कवलः, भवति, 'तद्वत्'—उक्तप्रकारकगुडवत् कर्म, अपि क्रमेण 'भोग्यं'—भुक्तं परिभुज्यमानं च भवति, 'चर्वितकवलवद् भुक्तं कर्म'—चर्व्यमाणकवलवद् भुज्यमानं कर्म यश्चर्विष्यते तत्कवलवच्च भोग्यं कर्म भवतीतिभावः ॥ ५२–५३ ॥

मूलम्—संसारिजीवा व्रतिनोऽव्रता वा, तेषां तु कर्मत्रयमेतदस्ति ।
वसुन्धराया घनबिन्दुवृन्दवत्, भुक्तं च भोग्यं परिभुज्यमानकम् ॥ ५४ ॥
कैवल्यभाजस्तु यके महान्तं—स्तेषां तु कर्माणि शिलाग्रवृष्टिवत् ।
अल्पस्थितीन्येव तथापि तद्दशा—त्रयं तु तत्राऽपि गवेषणीयम् ॥ ५५ ॥

टीका—केषां किम्प्रकारकं कर्मेति दर्शयितुमाह—संसारिजीवा इत्यादि 'व्रतिनः'—व्रतयुक्ताः, 'वा'—अथवा, 'अव्रताः'—अव्रतिनः—व्रतरहिताः, 'ये' 'संसारिजीवाः'—सांसारिकजन्तवः, संति, 'तेषां'—पूर्वोक्तानाम् जीवानाम्, 'तु' शब्दश्रवणपूर्तौ, 'एतत्'—पूर्वोक्तं भुक्तं भोग्यं च पुनः परिभुज्यमानकं उक्तार्थं, 'कर्मत्रयं'—त्रिप्रकारकं कर्म, 'वसुन्धरायाः'—

---

१. योगिनः। २. सा च भुक्तादिका या दशा अवस्था तद्दशा तस्यास्त्रयं तद्दशात्रयं भोग्यभुक्तभुज्यमानकर्मलक्षणत्रयं। ३. केवलिसत्ककर्मसत्तायां। तत्र केवली हि केवलोत्पत्त्यनन्तरं स्वायुषोऽन्तसमयद्वयं यावत् प्रतिसमयं भुक्तभोग्यभुज्यमानकर्मा भवति, आयुषोऽन्तसमयादनन्तरपूर्वसमये भुक्तभुज्यमानकर्मा स्यात्, अन्तसमये तु भुक्तकर्मा न भुज्यमानकर्मा सर्वकर्मणामन्तसमये क्षयकरणात् सिद्धत्वप्राप्तेश्चाऽत एवाग्रेऽनन्तरं वक्ष्यति सिद्धात्मनामिति ।

पृथिव्याः, ' घनबिंदुवृन्दवदस्ति '—मेघबिन्दुसमूह इव भवति, चिरस्थायि भवतीतिभावः, ' तु '—परन्तु, ' यके '—ये, ' कैवल्य-भाजः '—केवलस्य भावः, कैवल्यं तद् भाजस्तेन युक्तः केवलज्ञानिन इतिभावः, ' महान्तः '—महात्मनः, योगिन इति यावत् भवन्ति, ' तेषाम् '—पूर्वोक्तानाम् महात्मनाम्, ' तु ' शब्दो विशेषार्थः, कर्माणि यद्यपि, ' शिलाग्रवृष्टिवत् '—पाषाणाऽग्रभागपतितवृष्टिरिव, ' अल्पस्थितीन्येव '—अल्पकालस्थायीन्येव भवन्ति, 'तथाऽपि'—तदपि, ' तत्राऽपि '—केवलिसत्ककर्म-सत्तायामपि, ' तत् '—पूर्वोक्तं, ' दशात्रयं '—तिस्रोऽवस्थाः, भुक्त—भोग्य—भुज्यमानरूपास्तिस्रो दशा इतिभावः, ' तु ' शब्दो निश्चये, ' गवेषणीयं '—अन्वेषणीयम् ज्ञातव्यमितिभावः ॥ ५४—५५ ॥

मूलम्—सर्वत्र कर्त्रादिपरप्रणोदनां, विनैव द्रव्यादिचतुष्टयस्य ।
ताद्दक्स्वभावादिह कर्मणां त्रयी, भुक्तादिकाऽसौ भविमुक्तजीवगा ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तविषयमेव स्पष्टयितुमाह—सर्वत्रेत्यादि ' कर्त्रादिपरप्रणोदनां विनैव '—कर्त्रादेरन्यस्य प्रेरणामंतरेणैव, ' द्रव्यादिचतुष्टयस्य '—द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावानां, ' ताद्दक्स्वभावात् '—तथाविधस्वभाववशात्, ' इह '—अत्र, ' सर्वत्र '—सर्वजीवेषु, ' भविमुक्तजीवगा '—संसारिकेवलिजीवसंबंधिनी, ' असौ '—पूर्वोक्ता, ' भुक्तादिका '—भुक्त—भोग्य—भुज्यमानरूपा, ' कर्मणां त्रयी '—कर्मत्रिविधता भवति ॥ ५६ ॥

---

१ द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपस्य । २. संसारिकेवलिजीवसम्बन्धिनी ।

मूलम्—सिद्धात्मनां सिद्धतया दशात्रयी, न कर्मणां तत्कृतपूर्वनाशतः।
भुक्ताऽप्यवस्था भवदेषु केवलि–भवावसानं न तदत्र काऽपि सा ॥ ५७ ॥

टीका—अत्र विशेषमाह–सिद्धात्मनामित्यादिना 'सिद्धतया'–सिद्धभावेन, सिद्धिंगतत्वेनेति यावत् 'सिद्धात्मनां'–सिद्धजीवानां, 'कर्मणां' 'दशात्रयी'–तिस्रोऽवस्था न भवति, कुतः? इत्याह–तत्कृतेत्यादि 'तत्कृतपूर्वनाशतः'–स्वकृतपूर्वनाशात्, तर्हि भुक्तावस्था सर्वदा तेषु स्यादित्यपि परिहर्त्तुमाह–भुक्ताऽपीत्यादि 'भवदेषु'–भवं घ्नंति खण्डयंतीति भवदास्तेषु, सिद्धेष्वित्यर्थः, 'भुक्ताऽप्यवस्था'–भुक्तदशापि, 'केवलिभवावसानं'–केवलज्ञानप्राप्तिभावपर्यन्तम् भवति, 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'अत्र'–सिद्धेषु, 'सा'–भुक्तावस्था, 'काऽपि'–काचित् न भवति ॥ ५७ ॥

मूलम्—मया विचारोऽयमवाचि कर्मणा–मजानता लोकगतैर्निदर्शनैः।
सामान्यलोकप्रतिबोधनाय, ज्ञेयः प्रवीणैस्तु पुराणयुक्तिभिः ॥ ५८ ॥

टीका—उक्तविषयमुपसंहर्तुमाह–मयेत्यादि 'सामान्यलोकप्रतिबोधनाय'–साधारणज्ञानाय, 'लोकगतैर्निदर्शनैः'–लोकप्रसिद्धैर्दृष्टान्तैः, 'अजानता'–विज्ञानरहितेन, 'मया' 'अयं'–पूर्वोक्तः, कर्मणाम् 'विचारः'–विमर्शः, 'अवाचि'–उक्तः, 'प्रवीणैः'–दक्षैः पुरुषैः, 'तु' शब्दो विशेषार्थः, 'पुराणयुक्तिभिः'–प्राचीनाभियुक्तिभिः, 'अयं'–कर्मणां विचारः, 'ज्ञेयः'–अवबोध्यः, निश्चेतव्य इतिभावः ॥ ५८ ॥

---

१. लोकप्रसिद्धैः।

मूलम्—इत्थं विना प्रेरकमत्र कर्मणां, भुक्ताविहोदाहरणान्यनेकशः ।
विचारितान्येव विचारचञ्चुरै–स्तद्वाक्प्रमाणं किल पारमेश्वरी ॥ ५९ ॥

टीका—फलितपूर्वकं निगमनमाह–'इत्थम्'–अनया रीत्या, 'प्रेरकं विना'–प्रेरणकर्तारमंतरेणैव, कर्मणां, 'भुक्तौ'–भोगे, 'विचारचञ्चुरैः'–विचारदक्षैः, विद्वद्भिः, 'अनेकशः'–अनेकानि, 'उदाहरणानि'–दृष्टान्तकथनानि, 'विचारितान्येव'–विमर्शं नीतान्येव, सन्ति, 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'किले'ति निश्चये, 'पारमेश्वरी वाक्'–परमेश्वरसंबंधिनी वाणी, 'प्रमाणं'–प्रमाणभूताऽस्ति ॥ ५९ ॥

परप्रेरणारहितकर्मभोगोक्तिलेशो द्वादशोऽधिकारः

अथ त्रयोदशोऽधिकारः

इन्द्रियमात्रप्रत्यक्षतास्वीकरणे दोषान् पञ्चविंशतिश्लोकैराह—

मूलम्—मुनीश ! केचिद् भुवि नास्तिका ये, न पुण्यपापे नरकं न मोक्षम् ।
स्वर्गं न च प्रेत्यभवं वदन्ति, को नाम तर्कः खलु तैः श्रितोऽस्ति ? ॥ १ ॥

टीका—इदानीं नास्तिकमतं प्रदर्श्य तत्परिहर्तुकाम आह–मुनीशेत्यादि 'हे मुनीश !'–मुनिराज !, 'भुवि'–पृथिव्याम्, संसार इति यावत्, 'ये केचित्'–केऽपि पुरुषाः, नास्तिकाः सन्ति ते, 'पुण्यपापे'–धर्माऽधर्मौ, 'न वदन्ति'–न कथयन्ति, न मन्यन्त इतिभावः, एवमग्रेऽपि बोध्यं, नरकं न वदन्ति, 'मोक्षम्'–मुक्तिं न वदन्ति, 'स्वर्गं'–स्वर्गलोकं न वदन्ति, 'च'–पुनः, 'प्रेत्यभवं'–पुनर्जन्म न वदन्ति, 'खल्वि'ति निश्चये, 'नामे'ति प्रसिद्धौ वितर्के वा, 'तैः'–नास्तिकैः, 'तर्कः'–ऊहः, अपूर्वोत्प्रेक्षणमितिभावः, 'श्रितोऽस्ति'–मतो भवति ॥ १ ॥

मूलम्—ते नास्तिका दृश्यपदार्थसक्ता, नोइन्द्रियादेयविचारमुक्ताः ।
प्रत्यक्षमेकं वृणुते प्रमाणं, पञ्चेन्द्रियाणां विषयोऽस्ति यत्र ॥ २ ॥

---

१. प्रत्यक्षे ।

टीका—तेषां मंतव्यमाह-त इत्यादिना ' ते '-पूर्वोक्ता नास्तिकाः, ' यत्र '-यस्मिन्, ' पञ्चेन्द्रियाणां विषयोऽस्ति '-श्रोत्रादीनां विषयो विद्यते तत्, ' एकम् '-अद्वितीयम्, ' प्रत्यक्षं प्रमाणं '-प्रत्यक्षनामकं प्रमाणं, ' वृणुते '-स्वीकुर्वन्ति, कथंभूता नास्तिकाः ? ' दृश्यपदार्थसक्ताः, '-दर्शनीयपदार्थेषु तत्पराः, दर्शनीयपदार्थसत्त्वमंतार इतिभावः, पुनश्च कथंभूताः ? ' नोइन्द्रियविचारमुक्ताः '-नोइन्द्रियं-मनस्तेनाऽऽदेयाः-ग्रहीतुं योग्या ये पदार्थास्तेषां विचारेण मुक्ताः-रहिताः, मनोग्राह्यवस्तुविचाराक्षमा इतिभावः ॥ २ ॥

मूलम्—पृच्छाऽस्ति तैः सार्धमसौ मुनीनां, चेन्नास्तिकैरिन्द्रियगोचरः श्रितः ।
सद्वस्तु दृश्यं यदि तर्हि वस्तु किं, यन्नेन्द्रियाणां विषयः समेषाम् ॥ ३ ॥

टीका—परिहारमाह-पृच्छाऽस्तीत्यादिना ' मुनीनाम् '-मननशीलानाम्, आस्तिकानामितिभावः, ' तैः सार्धं '-नास्तिकैः सह, नास्तिकान् प्रतीत्यर्थः, ' असौ '-वक्ष्यमाणा, ' पृच्छाऽस्ति '-प्रश्नो विद्यते, ' चेत् '-यदि, ' नास्तिकैः ' ' इन्द्रियगोचरः '-इन्द्रियाणां विषयः, ' श्रितः '-अवलम्बितः, मत इत्यर्थः, अस्ति तथा मते यदि ' दृश्यं '-दर्शनीयम् वस्तु, ' सत् '-विद्यमानमस्ति, ' तर्हि '-तदा, ' तत् '-किं वस्तु अस्ति ' यत् '-वस्तु, ' समेषाम् '-सर्वेषाम्, ' इन्द्रियाणां '-श्रोत्रादीनां, ' विषयः '-गोचरः, नास्ति ॥ ३ ॥

१. आस्तिकानाम् । २ विषयः । ३. यदेव दृश्यं इन्द्रियग्रहणीयं तदेव सत् नास्तिकानां नाऽन्यत् । तत्र पञ्चानामपीन्द्रियाणां कस्मिन् वस्तुनि नास्तिकानां विषयोऽस्ति तद् वस्तु ते उद्गृणन्तु तत्राहुर्नास्तिका रामादिके ।

मूलम्—रामादिके वस्तुनि सर्वश्रोतसां[1], किं गोचरो नेति यदाह नास्तिकः ।
रात्रावतद्वस्तुनि शब्दरूप–समेऽपि तद्वस्तुभ्रमो[2] न किं स्यात् ? ॥ ४ ॥

टीका—मतं विघटयितुमाह–रामादिक इत्यादि 'रामादिके'–स्त्र्यादिके, 'वस्तुनि'–पदार्थे, 'सर्वश्रोतसाम्'–सर्वेषाम् इन्द्रियाणाम्, किं 'गोचरः'–विषयः, न भवति, रामादिके वस्तुनि सर्वेषामिन्द्रियाणां विषयो भवत्येवेत्यर्थः, 'इति'–एतत्, यत् नास्तिकः 'आह'–ब्रूते, तत्रैतद्विचार्यं यत् 'रात्रौ'–रात्रिसमये, 'अतद्वस्तुनि'–रामादिभिन्नपदार्थे, 'शब्दरूपसमेऽपि'–शब्दरूपे समे–तुल्ये यत्र, 'तत्'–तथा, तस्मिन्नपि शब्दरूपयोः साम्येऽपीतिभावः, 'तद्वस्तुभ्रमः'–रामादिवस्तुभ्रान्तिः, नास्तिकस्य 'न किं स्यात्'–किं न भवति, अपि तु भवत्येवेतिभावः, रात्र्यादौ कदाचिद् धृतरामावेषे पुरुषेऽपि नास्तिकानामपि रामाभ्रान्तिर्भवत्येवेति हृदयम् ॥ ४ ॥

मूलम्—सत्यं[3] हि रात्रौ सकलेन्द्रियाणि, प्रायेण मुह्यन्त्यवबोध[4]हान्याः ।
तस्मादतद्वस्तुनि[5] तद्ग्रहः[6] स्यात्, तच्छ्रोतसां[7] चिन्न सदैव सत्या ॥ ५ ॥

---

१. इन्द्रियाणाम् । २. न विद्यते तत् प्रागुक्तं वस्तु रामादिकं यत्र तद्वस्तुभ्रमो रामादिवस्तुभ्रमो मोहः किं न स्याद् अपि तु स्यादेवात एव रात्र्यादौ कचित्काले पुरुषेऽपि धृतरामावेषे रामाभ्रमो नास्तिकेन्द्रियाणां न भवति किन्तु भवत्येव तदा पुरुषे स्त्रीत्वज्ञानात् अथवाऽन्यस्याम् स्त्रियां स्वदृष्टस्त्रिया नास्तिकस्येन्द्रियज्ञानं कथं प्रमाणं स्यादित्युक्तं । ३. नास्तिक प्राह सत्यं इति । ४. ज्ञान । ५ पुरुषादिके । ६. रामाभ्रम । ७. आस्तिक. प्राह ।

टीका—नास्तिक आह–सत्यमित्यादि 'ही 'ति चरणपूर्त्तौ, 'सत्य 'मिति–एतत् पूर्वोक्तं वृत्तं सत्यमस्तीत्यर्थः, यत् 'अवबोधहान्याः '–ज्ञानहानिवशात्, 'रात्रौ '–रात्रिसमये, 'सकलेन्द्रियाणि '–सर्वाणि श्रोत्रादीनि, 'प्रायेण '–बहुधा, 'मुह्यन्ति '–मोहं प्राप्नुवन्ति, ज्ञानरहितानि भवंतीतिभावः, 'तस्मात् '–कारणात्, 'अतद्वस्तुनि '–रामादिभिन्नपदार्थे, 'तद्ग्रहः '–रामादिग्रहणम्, रामादिभ्रान्तिरितिभावः, 'स्यात् '–भवति, परिहारमाह–तदित्यादिना 'तत् '–तर्हि, 'श्रोतसाम् '–इन्द्रियाणाम्, 'चित् '–ज्ञानं, 'सदैव '–सर्वदैव, 'सत्या '–यथार्था, नास्ति ॥ ५ ॥

मूलम्—पुनर्यथा पश्य जनेन नीरुजा, शङ्खः सितोऽस्तीति निरीक्ष्य गृह्यते ।
पुनश्च तेनैव रुजार्दितेन, स गृह्यते किं न बहूत्थवर्णः ॥ ६ ॥

टीका—विमोहदृष्टान्तरमाह–पुनर्यथेत्यादि 'पुनरि 'ति समुच्चये, 'पश्य '–अवलोकय, त्वम्, 'यथा '–येन प्रकारेण, 'नीरुजा जनेन '–रोगरहितेन मनुष्येन, शंखः 'सितोऽस्ति '–श्वेतो विद्यते, इति निरीक्ष्य एतत् सम्यक्तया निश्चित्य 'गृह्यते '–आदीयते, 'पुनश्चे 'ति–कालान्तर इत्यर्थः, 'रुजार्दितेन '–काचकामलीरोगपीडितेन, 'तेनैव '–पूर्वोक्तेनैव जनेन, शंखः, 'किं बहूत्थवर्णः '–अनेकवर्णयुक्तः, 'न गृह्यते '–नादीयते, रोगार्दितेन तेनैव जनेन शंखो बहुवर्णो लक्ष्यत एवेतिभावः ॥ ६ ॥

१. काचकामलीरोगपीडितेन ॥

मूलम्—यथा पुनः स्वस्थमनाः स्वबन्धून्, जानाति नैवं मधुमत्त एषः।
सन्त्येषु तान्येव किलेन्द्रियाणि, कथं विपर्यास इयानभिष्यात्? ॥ ७ ॥

टीका—अत्रैव दृष्टांतरमाह–यथेत्यादिना 'पुनरि'ति समुच्चये, 'स्वस्थमनाः'–शान्तचित्तः पुरुषः, 'यथा'–येन प्रकारेण, 'स्वबन्धून् जानाति'–आत्मनो बांधवान् वेत्ति, 'एवम्'–अनया रीत्या, तथेतिभावः, 'मधुमत्तः'–मद्येनोन्मत्तः, 'एषः'–पूर्वोक्तो जनः, न स्वबंधून् जानाति, पुष्टिमाह–सन्तीत्यादिना 'एषु'–अक्षीक्षीदर्शककाचकामलीरोगपीडितमधुमत्तेषु 'किले'ति निश्चये, 'इन्द्रियाणि'–श्रोत्रादीनि, 'तान्येव सन्ति'–पूर्ववद् वर्तन्ते, तर्हि 'इयान्'–एतावान्, 'विपर्यासः'–विपर्ययः, 'कथम् अभिष्यात्'–केन प्रकारेण भवति? ॥ ७ ॥

मूलम्—पुरातनं ज्ञानमथेन्द्रियाणां, सत्यं तथा चाऽऽधुनिकं प्रमाणम्।
नेदं वरं किन्तु पुरातनं सत्, तान्येव खानीह तु को विशेषः? ॥ ८ ॥

---

१. एषु अक्षीक्षीदर्शक–काचकामलीरोगपीडित–मत्तेषु तान्येव स्वकीयसम्बन्धान्येव तादृशाकाराण्येव स्वस्थानस्थान्येव सन्ति तर्हि कथं भ्रमो भवति?। नास्तिकस्य तु रात्रिरोगमत्ततादयो न वाच्याः स्युर्गृहीतैकप्रत्यक्षप्रमाणस्य नास्तिकस्य रात्र्यादीनां पदार्थानामाकारवर्णगन्धरसस्पर्शादिशून्यानां करतलामलकवत् दर्शयितुमशक्यत्वात्। ततो नास्तिकस्य तेषामेवेन्द्रियाणामप्रमाणता कथं स्यादित्येतदेवाह। २. स्यात्। ३. नास्तिकः पृच्छयते हे नास्तिक! त्वं ब्रूहि, पुरातनं प्राचीनं ज्ञानं यदिन्द्रियाणामभूत् स्त्रियां स्त्रीज्ञानं सितं ज्ञान समीक्ष्य शङ्खग्रहणलक्षणं अमत्तस्य मात्रादिषु तज्ज्ञानं इत्येतत्पुरातनं ज्ञानं सत्यं किंवाऽऽधुनिकं

टीका—नास्तिकं प्रति प्रश्नयति—पुरातनमित्यादिना 'अथे 'ति वितर्के, 'इंद्रियाणां '—श्रोत्रादीनां, 'पुरातनम् '—प्राचीनम् ज्ञानम्, स्त्रियां स्त्रीज्ञानम्, शंखे सितज्ञानम्, बंधुषु बंधुज्ञानम्, इति रूपं ज्ञानमितिभावः, 'सत्यं '—यथार्थम्, तथा 'प्रमाणं '—प्रमाणरूपमस्ति, 'तथा वे 'ति यद्वेत्यर्थः, 'आधुनिकं '—सांप्रतिकम् पुरुषे स्त्रीगृहणरूपम्, शंखेऽनेकवर्णग्रहणरूपम्, बंधुष्वबांधवत्वग्रहणरूपमित्यर्थः, किन्तु 'पुरातनम् '—प्राचीनम् ज्ञानम्, 'सत् '—सुंदरमस्तीत्युक्ते आस्तिक आह—तान्येवेत्यादि 'इह '—उदाहृतपुरुषे, 'खानि '—इन्द्रियाणि, 'तान्येव '—पूर्वाण्येव, सन्ति, 'तु '—तर्हि, 'को विशेषः ?' इति विशेषः कथं भवतीतिभावः ॥ ८ ॥

मूलम्—पूर्वं मनोऽभूदविकारि यस्मात्, तत्साम्प्रतं यद्विकृतं बभूव ।
अतो मिथो भेद इयान् स कस्य, भेदोऽस्त्ययं मानसिकस्तदत्र ॥ ९ ॥
दृश्यं मनो नास्ति न वर्णतो वा, कीदृग् निवेद्यं भवतीति भण्यताम् ।
न दृश्यते चेन्नहि वर्तते तत्, खान्येव तानीह कथं विकारः ? ॥ १० ॥

साम्प्रतिकं पुरुषे स्त्रीग्रहणं पीतत्वप्राप्तशाङ्खशाङ्खत्वेन ग्रहणं, मत्तस्य मात्रादिषु स्वैरिन्द्रियैरेव भार्यात्वेन ग्रहणमेव स्वामिनि सेवकत्वेन ग्रहणमित्यादि मिथ्यारूपं तत्सत्यं इति पृष्टे नास्तिकः प्राह—नेदं वरं आधुनिकं ज्ञान यदुक्तं तत्सत्यं न, किन्तु पुरातनमेव तेषां तद्वस्तुनि तद्ग्रहणलक्षण ज्ञाने तदेव सत्य अथैषां इन्द्रियाणाम् सत्यासत्यज्ञानाङ्गीकारः कथं क्रियते इति पृष्टो नास्तिकः प्राह पूर्वमिति ॥

टीका—नास्तिकः प्राह-पूर्वमित्यादि 'यस्मात्'-कारणात्, 'पूर्वं'-पुरा, 'मनः'-चित्तम्, 'अविकार्यभूत्'-विकाररहितमासीत्, 'तत्'-मनः, 'सांप्रतम्'-अधुना, 'यत्'-यस्मात् कारणात्, 'विकृतं बभूव'-विकारयुक्तं जातम्, 'अतः'-अस्मात् कारणात्, 'मिथः'-परस्परम्, पूर्वो परस्मिन्निति भावः, 'इयान्'-एतावान्, 'भेदः'-भिन्नत्वम् भवति, आस्तिक आह-स कस्येत्यादि 'सः'-पूर्वोक्तः, कस्य, 'भेदोऽस्ति'-भिन्नता भवति, नास्तिक आह-अयं मानसिक इति 'अयं'-मनःसंबंधी भेदोऽस्तीतिभावः, अत्राऽस्ति को दूषणमाह-तदत्रेत्यादिना 'तत्'-तर्हि, 'अत्र'-अस्मिन् संसारे, 'मनः'-चित्तं, 'दृश्यं'-दर्शनीयम्, द्रष्टुमर्हतीतिभावः. 'नास्ति'-न विद्यते, 'वा'-अथवा, 'वर्णतः'-वर्णद्वारा, न दृश्यमस्ति तर्हि 'कीदृग्'-कीदृशं, 'निवेद्यं भवति'-निवेदनीयमस्ति, निवेदनं कर्तुमर्हन्तीतिभावः 'इति'-अस्मिन् विषये, 'भण्यताम्'-कथ्यताम्, त्वया, नास्तिकमते दूषणमाह-न दृश्यत इत्यादिना 'चेत्'-यदि, यत् 'न दृश्यते'-नाऽवलोक्यते, तत् 'नहि वर्त्तते'-नास्ति, तर्हि 'इह'-उदाहृतपुरुषेषु, 'खानि'-इंद्रियाणि, 'तान्येव'-पूर्वाण्येव सन्ति, तत्तेषु 'विकारः'-विकृतिः, 'कथं'-केन प्रकारेण भवति ॥ ९-१० ॥

मूलम्—अयं विकारस्तु बभूव साक्षाद्, यं सर्व एते निगदन्ति तज्ज्ञाः ।
त्वं पश्य चेद्दृष्टपदार्थकेष्वपि, मोहो भवेदित्थमिहैव खानां ॥ ११ ॥
तर्हीन्द्रिज्ञानमिदं हि केन, सत्यं सता सर्वमितीव वाच्यम् ।
तदेव सत्यं यदिहोपकारिण, उपादिशन् दिव्यदृशो गतस्पृहाः ॥ १२ ॥

टीका—विकारभावे पुष्टिमाह–अयमित्यादिना ‘ अयं ’–पूर्वोक्तः, ‘ विकारः ’–विकृतिः, तु, ‘ साक्षाद् बभूव ’–प्रत्यक्षत्वेनाऽजायत, ‘ यं ’–पूर्वोक्तम् विकारम्, ‘ एते ’–प्रसिद्धाः, ‘सर्वे’–सकलाः, ‘तज्ज्ञाः’–तत्त्वज्ञानिनः, ‘ निगदन्ति ’–कथयन्ति, अत्रैव पुष्टिमाह–त्वमित्यादिना ‘ त्वं पश्ये ’ति–त्वं विचारयेत्यर्थः, यतः ‘ चेत् ’–यदि, ‘ दृष्टपदार्थकेष्वपि ’–अवलोकितवस्तुष्वपि, अदृष्टेषु तु का कथेत्यपि शब्दभावः, ‘ इहैव ’–अस्मिन्नेव भवे, परजन्मनि तु किं कथनीयमित्येवशब्दभावः, ‘ इत्थं ’–उक्तरीत्या, ‘ खानाम् ’–इंद्रियाणाम्, ‘ मोहो भवेत् ’–अज्ञानं स्यात्, भ्रान्तिः संजायत इतिभावः, ‘ तर्हि ’–तदा, ‘ ही ’ ति निश्चयेन, ‘ इदं ’–पूर्वोक्तम्, ‘ सर्वम् ’–कृत्स्नम्, ‘ इन्द्रियज्ञानम् ’–श्रोत्रादिज्ञानम्, केन ‘ सता ’–सत्पुरुषेण, ‘ सत्यं ’–यथार्थम्, अस्ति, ‘ इतीववाच्यम् ’–इत्येतद् वक्तुं योग्यम् अस्ति, तर्हि किं ज्ञानं सत्यमिति दर्शयितुमाह–तदेवेत्यादि किन्तु ‘ तत् ’–ज्ञानम्, ‘ सत्यं एव ’–याथार्थमस्ति, ‘ यत् ’–ज्ञानम्, ‘ इह ’–अस्मिन् संसारे, ‘ दिव्यदृशः ’–दिव्यदृष्टयः–दिव्यज्ञानयुक्ता इतिभावः, ‘ उपादिशन् ’–उपदिष्टवन्ताः, कथंभूता दिव्यदृशः ? ‘ उपकारिणः ’–उपकारकर्त्तारः, जगद्धितकारका इतिभावः, पुनश्च कथंभूताः ? ‘ गतस्पृहाः ’–इच्छारहिताः, संसारस्थपदार्थवांछाविहीना इतिभावः ॥ ११–१२ ॥

मूलम्—स्वस्थं मनस्त्वं बुध ! सन्निधाय, विचारमेतं कुरु तत्त्वदृष्ट्या ।
शब्दा इमे ज्ञानवतोपदिष्टा–स्तेऽमी यथार्था भवताऽपि वाच्याः ॥ १३ ॥

---

१. नास्तिक ! । २. अपिसमुच्चयार्थस्तेन मया वाच्या एव पुनर्भवता त्वयाप्येते मद्वद्वाच्या इति ।

टीका—उक्तविषय एव पुष्टिमाह—स्वस्थमित्यादिना 'हे बुध !'—चतुर !, नास्तिकं प्रति संबोधनम्, त्वम् 'मनः'—चित्तम्, 'स्वस्थं सन्निधाय'—सावधानं कृत्वा, 'तत्त्वदृष्ट्या'—तत्त्वदृशा, पक्षपातविहीनयथार्थदृष्ट्येतिभावः, 'एतं'—पूर्वोक्तं, 'विचारं कुरु'—विमर्शं विधेहि, यत्, 'ज्ञानवता'—ज्ञानिना, 'उपदिष्टाः'—कथिताः, 'इमे'—प्रसिद्धाः, शब्दाः सन्ति 'ते'—पूर्वोक्ताः, 'अमी'—वक्ष्यमाणशब्दाः, भवताऽपि 'अपि' समुच्चयार्थस्तेन मया वाच्या एव पुनर्भवताऽपि भवद्वाच्या इत्यर्थः, 'यथार्थाः'—सत्याः, 'वाच्याः'—वक्तव्याः ॥ १३ ॥

मूलम्—आनन्दशोकव्यवहारविद्या, आज्ञाकलाज्ञानमनोविनोदाः ।
न्यायानयौ चौर्यकजारकर्मणी, वर्णाश्च चत्वार इमे तथाश्रमाः ॥ १४ ॥
आचारसत्कारसमीरसेवा, मैत्रीयशोभाग्यबलं महत्त्वम् ।
शब्दस्तथार्थोदयभङ्गभक्ति-द्रोहाश्च मोहो मदशक्तिशिक्षाः ॥ १५ ॥
परोपकारो गुणखेलना क्षमा, आलोचसङ्कोचविकोचलोचाः ।
रागो रतिर्दुःखसुखे विवेक-ज्ञातिप्रियाः प्रेमदिशश्च देशाः ॥ १६ ॥

---

१. अर्थोऽभिधेयः शब्दोऽयमयं चार्थ इति च क उच्यते किं शब्दार्थयोः कश्चिदाकारादिरस्ति । २. अयं मे प्रियोऽयं चाऽप्रियश्चेति यदा दृश्यते तदा तद्वस्तु एव दृश्यते परं येन कृत्वा प्रियशब्दः प्रवर्तते सगुणस्तु दर्शयितुं न शक्य एवमन्यत्राऽपि ।

ग्रामः पुरं यौवनवार्धकास्था, नामानि सिद्ध्यास्तिकनास्तिकाश्च ।
कषायमोषौ विषयाः पराङ्मुखा-श्चातुर्यगाम्भीर्यविषादकैतवम् ॥ १७ ॥
च्चिन्ताकलङ्कश्रमगालिलज्जा-सन्देहसंङ्ग्रामसमाधिबुद्धि ।
दीक्षापरीक्षादमसंयमाश्च, माहात्म्यमध्यात्मकुशीलशीलम् ॥ १८ ॥
क्षुधापिपासार्घमुहूर्त्तपर्व-सुकालदुःकालकरालकल्यम् ।
दारिद्र्यराज्यातिशयप्रतीति-प्रस्तावहानिस्मृतिवृद्धिगृद्धिः ॥ १९ ॥
प्रसाददैन्यव्यसनान्यसूया-शोभाप्रभावप्रभुताभियोगाः ।
नियोगयोगाचरणाकुलानि, भावाभिधा प्रत्यययुक्तशब्दाः ॥ २० ॥

टीका—ते के शब्दाः सन्तीति दर्शयति-आनन्देत्यादिना 'आनन्दः'-मोदः, 'शोकः'-उद्वेगः, 'व्यवहारः'-आचारः, 'विद्याआज्ञाकलाज्ञानम्' 'मनः'-चित्तम्, 'विनोदः'-प्रवृत्तिः, 'न्यायः'-नीतिः, 'अनयः'-अनीतिः,

---

१. अर्घः मूल्यम् । २. आरोग्यम् । ३. भावः शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं तस्याभिधाभिधानं कथनं वचनमिति यावत् तदर्थे ये प्रत्ययाः तत्वयणूइमनणादयस्तैर्युक्ता शब्दास्ते तथा यथा विष्णोर्भावः विष्णुता विष्णुत्व वैष्णवं दार्ढ्यम् द्रढिमा इत्यादिभावप्रत्ययान्तैः सर्वैरपि लोकमध्यस्थशब्दैर्योऽर्थे भवति स नास्तिकेन न वाच्यः स्यात् तस्य पञ्चभिरिन्द्रियैर्ग्रहीतुमशक्यत्वादिति यथासम्भव वाच्यम् यद्यपि चौर्यमाहात्म्यदारिद्र्यशब्दा अत्रैवाऽन्तर्भूतास्तथाऽप्यतीवप्रसिद्धत्वादिहोपात्ता इति न पौनरुक्त्यदोषः ।

'चौर्यकजारकर्मणी 'ति चौर्यकर्मजारकर्म चेतिभावः, 'च'-पुनः, 'इमे'-प्रसिद्धाः, 'चत्वारः' 'वर्णाः'-जातयः, ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा इतिभावः, 'तथे'ति समुच्चये, 'इमे'-चत्वारः, 'आश्रमाः'-ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाः, 'आचारः'-आचरणम्, 'सत्कारः'-आदरः, 'समीरः'-वायुः, 'सेवा'-सेवनम्, 'मैत्री'-मित्रभावः, 'यशः'-कीर्तिः, 'भाग्यम्'-दृष्टम्, 'बलं'-शक्तिः, 'महत्त्वम्'-महिमाशब्दः, 'तथे'ति समुच्चये, 'अर्थः'-वाच्यम्, 'उदयः' 'भंगः'-नाशः, 'भक्तिः'-भजनम्, 'द्रोहः'-वैरं, 'च'-पुनः, 'मोहः'-अज्ञानम्, 'मदः'-अहंकारः, 'शक्तिः'-बलम्, 'शिक्षा'-शिक्षणम्, उपदेश इतिभावः, 'परोपकारः'-परस्योपकृतिः, 'गुणाः'-रूपादयः, 'खेलना'-क्रीडा, 'क्षमा'-क्षान्तिः, 'आलोचः'-आलोचनम्, निरीक्षणमितिभावः, 'संकोचः'-लज्जा, या क्रियात्वं ह्रासः, 'विकोचः'-गमनादिकम्, 'लोचः'-दर्शनादिकं, 'रागः'-अनुरक्तिः, 'रतिः'-रमणम्, 'दुःखम् सुखम्' 'विवेकः'-सत्याऽसत्यनिर्धारणम्, 'ज्ञातिः'-जातिः, 'प्रियः'-प्रेमास्पदम्, 'प्रेम'-स्नेहः, 'दिशः'-पूर्वादयः, 'च'-पुनः, 'देशा ग्रामः' 'पुरं'-नगरम्, 'यौवनवार्धकास्थे'-ति युवावस्थावृद्धावस्था चेतिभावः, 'नामानि'-संज्ञाः, 'सिद्धिः आस्तिकः नास्तिकः' 'च'-पुनः, 'कषायः'-क्रोधादिः, 'मोषः'-मोषणम्, स्तेयद्रव्यमिति यावत्, 'विषयाः'-शब्दादयः, 'पराङ्मुखाः'-विमुखाः, 'चातुर्यं'-कौशलम्, 'गांभीर्यं'-गंभीरता, 'विषादः'-दुःखम्, 'कैतवं'-गृह्यचिन्ता, 'कलङ्कः'-दोषः, 'श्रमः'-श्रान्तिः, 'गालिः'-अपशब्दः, 'लज्जा' 'संदेहः'-संकासं, 'सङ्ग्रामः'-रणः, 'समाधिः'-समाधानम्, चित्तैकाग्र्यमिति यावत्, 'बुद्धिः'-ज्ञानम्, 'दीक्षा'-दक्षिणम्, परिव्रज्येति यावत्, 'परीक्षा'-परीक्षणम् 'दमः'-बाह्यवृत्तीनां निग्रहः, 'संयमः'-

विजितात्मत्वं, 'च'–पुनः, 'माहात्म्यम्'–महत्त्वम्, 'अध्यात्मः'–आत्मविषयः, 'कुशील'–दुःस्वभावः, 'शीलम्'–भूतेष्व-
नुग्रहादिः, 'क्षुधा'–बुभुक्षा, 'पिपासा'–पातुमिच्छा, 'अर्घः'–मूल्यम्, 'मुहूर्त्तपर्व' 'सुकल्पः'–सुभिक्षम्, 'दुःका-
लम्'–दुर्भिक्षम्, 'करालः'–भयावहः, 'कल्प्यम्'–आरोग्यम्, 'दारिद्र्यं'–निर्धनता, 'राज्यम्,' 'अतिशय'–
आधिक्यम्, 'प्रतीतिः'–विश्वासः, 'प्रस्तावः'–प्रसंगः, 'हानिः' 'स्मृतिः'–स्मरणम्, 'वृद्धिः'–उन्नतिः, 'गृद्धिः'–
अभिकांक्षा, 'प्रसादः'–प्रसन्नता, 'दैन्यं'–दीनत्वम्, 'व्यसनम्'–दुःखम्, अभ्यासो वा, 'असूया'–गुणेषु दोषारोपणम्,
'शोभा'–शोभनम्, 'प्रभावः'–प्रभुता, स्वामित्वम्, 'अभियोगः'–अभियुक्तिः, 'नियोगः'–अधिकारादिकं, 'योगः'–
चित्तवृत्तिनिरोधः, 'आचरणं'–व्यवहारः, 'कुलम्' भावेत्यादिभावः शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं तस्य 'अभिधा'–अभि-
धानम् कथनमिति यावत्, तदर्थं ते प्रत्ययाः त्वादयस्तैर्युक्ताः शब्दो यथाविष्णुत्वादयः ॥ १४–२० ॥

मूलम्—इत्यादिशब्दा बहवो भवन्ति ये, जिह्वादिवत्तेन हि शब्दवन्तः ।
स्वर्णादिवन्नो इह रूपवन्तः, पुष्पादिवन्नोऽत्र च गन्धवन्धुराः ॥ २१ ॥

सितादिवन्नो रसवन्त एवं, न स्पर्शवन्तः पवनादिवच्च ।
किन्त्वेककर्णेन्द्रियरूपग्राह्या–स्ताल्वोष्ठजिह्वादिपदप्रवाच्याः ॥ २२ ॥

स्वस्वोत्थचेष्टादिविशेषगम्याः, स्वाभ्याससम्प्राप्तफलानुमेयाः ।
स्वनामयाथार्थ्यैकथानिधायिनः, स्वीयप्रतिद्वन्द्विविनाशकारिणः ॥ २३ ॥

[3]सद्यो विरोध्युत्थनिजाह्वयान्ताः, इतीदृशाः सर्वजनप्रसिद्धाः ।
शब्दाः स्वकीयोत्थगुणप्रधाना, वाच्या नरैरास्तिकनास्तिकैश्च ॥ २४ ॥

टीका—उक्तविषयमेव फलद्वारा स्पष्टयति–इत्यादीत्यादिना 'इत्यादिशब्दाः'–एतत्प्रभृतिकाः शब्दाः, 'ये बहवो भवन्ति'–अनेके सन्ति, 'ते'–पूर्वोक्ताः शब्दाः, 'ही'ति निश्चयेन, 'इह'–अस्मिन्संसारे, 'जिह्वादिवत्'–जिह्वादितुल्यं, 'शब्दवन्तः'–शब्दयुक्ता न सन्ति, 'स्वर्णादिवत्'–स्वर्णादितुल्यं, 'रूपवन्तः'–रूपेण युक्ताः, 'नो'–नैव सन्ति, 'च'–पुनः, अस्मिन् संसारे, 'पुष्पादिवत्'–कुसुमादितुल्यं, 'गंधबंधुराः'–गंधयुक्ताः, 'नो'–नैव सन्ति, 'एव'मिति

---

१. यथा नन्दनमानन्दः शोचनं शोक इत्यादिकथनधारिणः। २ आनन्दप्रतिद्वन्द्वी अनानन्दः शोकादिः तेनानन्देनानानन्दस्य विनाशः क्रियते एकस्य नाशोऽपरस्योपपत्तौ वस्तुनां भावाभावौ सिद्धौ एतौ तु तदा स्यातां यदा किञ्चिद्वस्तु स्यात् तत् सद्भावस्तु न साक्षात् स्वर्णादिवद्दृश्यते सर्वत्र चेष्टयैव एषां सत्ता उपदिश्यते एवं नञ्समासादिमतामेषामभावरूपेण विनाशो लक्ष्यते । ३. सद्यः शीघ्रं आनन्दादीनां विरोधिनः शोकादयः तेभ्यः शोकादिभ्य उत्थ उत्पन्नो निजाह्वयस्य आनन्दादीनां स्वनाम्नः आनन्देति शब्दस्याऽन्तोऽवसानमनुच्चारो येषां ते तथा अतएव यस्मिन् क्षणे यन्निमित्तानन्दोत्पत्तिस्तस्मिन् क्षणे तन्निमित्तमेव शोकाद्युत्पत्तेरभावात् शोकादीनामनुच्चार एवं सर्वशब्देष्वप्ययमेव धर्मोऽवसेयः ।

समुच्चये, ' सितादिवत् '–शर्करादितुल्यं, ' रसवन्तः '–रसयुक्ताः, ' नो '–नैव सन्ति, ' च '–पुनः, ' पवनादिवत् '–वाय्वादितुल्यं, ' स्पर्शवंतः '–स्पर्शयुक्ता न सन्ति, तर्हि कीदृशाः संतीत्यादिना ' किंत्विति '–अपि त्वित्यर्थः, ' एककर्णेन्द्रियरूपग्राह्याः '–केवलं श्रोत्रेंद्रियेणाऽऽदेयाः सन्ति, तथा ' ताल्वोष्ठेत्यादि '–ताल्वोंष्ठजिह्वादिस्थानभभिधेयाः सन्ति, तथा ' स्वस्वोत्थेत्यादि '–' स्वस्मादुत्थाः–उत्पन्ना ये चेष्टादिविशेषास्तैर्गम्याः–ज्ञेयाः, आत्मीयात्मीयविभिन्नोत्पन्नचेष्टाविशेषबोध्या इतिभावः, सन्ति तथा ' स्वाभ्यासेत्यादि '–स्वाभ्यासे–निजाभ्यासे, ' संप्राप्तम् '–उपस्थितं यत्फलं तेनाऽनुमेयाः–अनुमातुं योग्याः, स्वकीयाभ्यासोत्पन्नफलानुमेया इतिभावः, सन्ति तथा ' स्वनामेत्यादि '–स्वनाम्नां, स्वकीयसंज्ञानाम्, यत् ' याथार्थ्यम् '–सत्यत्वं, तस्य ' कथा '–कथनं, तस्याः ' निधायिनः '–धारिणः, ' नन्दनम् '–आनंदः, ' शौचनम् '–शोकः, इत्यादिकथनधारिण इतिभावः सन्ति, तथा स्वीयेत्यादि ' स्वीयः '–स्वकीयः, ' यः ' ' प्रतिद्वन्द्वी '–शत्रुः, तस्य ' विनाशकारिणः '–नाशकाः, सन्ति तथा सद्य इत्यादि ' सद्यः '–शीघ्रमेव, ' विरोधिभ्यः '–वैरिभ्यः, ' उत्थः '–उत्पन्नः, ' निजाह्वस्य '–स्वनाम्नः, ' अंतः '–अवसानं, येषां ते तथा विरोध्युत्पत्तौ सद्य एव स्वनामनाशका इतिभावोऽस्ति, फलितमाह–इतीदृशा इत्यादि ' इतीदृशाः '–इत्थं प्रकाराः शब्दाः, ' आस्तिकनास्तिकैरि 'ति–आस्तिकैर्नास्तिकैश्चेत्यर्थः, ' नरैः '–जनैः, ' च '–शब्दश्रवणपूर्त्तौ, ' वाच्याः '–वक्तव्याः सन्ति, कथंभूताः शब्दाः ? ' सर्वजनप्रसिद्धाः '–सर्वलोकेषु प्रख्याताः, पुनश्च कथंभूता ? ' स्वकार्योत्थगुणप्रधानाः '–स्वकीये–स्वस्मिन् उत्थाः–उत्पन्ना ये गुणाः–माधुर्यादयः तत्प्रधानाः स्वोच्चारणकालोत्पन्नगुणविशिष्टा भावः ॥ २१–२४ ॥

मूलम्—यदीदृशा अप्ययि सिद्धशब्दाः, येषां न साक्षात्कृतिरिन्द्रियैः स्वैः ।
तत्पुण्यपापादिकवस्तुनीहा-प्रत्यक्षके कस्य[1] च खस्य[2] वृत्तिः ॥ २५ ॥

टीका—फलकथनपूर्वकं दृढयति–यदीदृशा इत्यादिना 'अयी'ति संबोधने, 'इह'–अस्मिन् संसारे, 'यदि'–चेत्, 'इदृशा अपि'–पूर्वोक्तप्रकारा अपि, 'सिद्धशब्दाः'–सिद्धिं प्राप्ताः शब्दाः सन्ति तेषाम्, 'साक्षात्कृतिः'–साक्षात्कारः, 'स्वैरिन्द्रियैः'–निजश्रोत्रादिभिरिंद्रियैः, 'येषाम्'–नास्तिकादिजनानाम्, न भवति, 'तत्'–तर्हि, 'च'–शब्दश्रवणपूर्त्तौ, 'अप्रत्यक्षके'–प्रत्यक्षागम्ये, 'पुण्यपापादिकवस्तुनि'–धर्माधर्मादिपदार्थे, 'कस्य'–पुंसः, 'खस्य'–इन्द्रियस्य, 'वृत्तिः'–प्रवर्त्तनं भवति ॥ २५ ॥

श्रीजैनतत्त्वसारे नास्तिकस्याऽप्याऽऽनन्दादिशब्दवत् पुण्यपापादिशब्दसत्तोक्तिलेशः
त्रयोदशोऽधिकारः ॥

१. पुंसः । २. इन्द्रियस्य ।

न-
सार
२ ॥

अथ चतुर्दशोऽधिकारः।



परोक्षप्रमाणमपि मन्तव्यमष्टादशश्लोकैः कथयति—

मूलम्—अतो य एतन्मनुते वदावदः, प्रत्यक्षमेकं हि मम प्रमाणम्।
तच्चिन्त्यमानं न विवेकचक्षुषाम्, शक्तं भवेत्सर्वपदार्थसिद्ध्यै ॥ १ ॥

टीका—पूर्वोक्तनास्तिकमतविषय एवाऽवशिष्टमाह–अतो य इत्यादिना 'अतः'–अस्मात् कारणात्, 'यः' 'वदावदः'–वाचालः, नास्तिक इत्यर्थः, 'एतत्'–वक्ष्यमाणं, 'मनुते'–मन्यते, सिद्धान्तत्वेनोरीकरोतीत्यर्थः, यत् 'ही'ति चरणपूर्त्तौ, निश्चये वा, मम मते 'एकम्'–अद्वितीयं, 'प्रत्यक्ष प्रमाणम्'–प्रत्यक्षनामकं प्रमाणमस्ति, 'तत्'–पूर्वोक्तं कथनं, 'विवेकचक्षुषां'–विवेकदृष्टीनाम्, तत्त्वदृशामितिभावः, 'चिन्त्यमानं'–विचार्यमाणं सत्, 'सर्वपदार्थसिद्ध्यै'–सकलवस्तुसिद्धये, 'शक्तं न भवेत्'–समर्थं भवितुम् न शक्नोति ॥ १ ॥

मूलम्—किं तर्हि सत्यं निजगाद नास्तिक–स्तदुत्तरं यच्छतु शुद्धमास्तिकः।
यदेकशब्देन निगद्यमानं, तत्सत्पदं प्राहुरिति प्रवीणाः ॥ २ ॥

तद्विद्यते यन्ननु सत्पदेन, वाच्यं भवेद् वस्तु तदत्र किं स्यात् ? ।
यच्छब्दजातं गदितं पुरैव, तथा पुनः किंचिदनुच्यतेऽत्र ॥ ३ ॥

टीका—किं तर्हीत्यादि नास्तिकः 'निजगाद'–उवाच, उक्तकथने सति नास्तिको ब्रूत इत्यर्थः, कथं किं ब्रूत ? इत्याह–किं तर्हीत्यादिना यत् 'तर्हि'–तदा, 'किं' 'सत्यम्'–यथार्थमस्ति, यदि ममोक्तं सत्यं नास्ति तर्हि किं सत्यमस्तीतिभावः, 'आस्तिकः' 'शुद्धम्'–विगतदोषम्, शुद्धभावेनेत्यर्थः, 'तदुत्तरं'–ममोक्तकथनस्योत्तरं, 'यच्छतु'–ददातु, अस्योत्तरमाह–यदेकेत्यादिना 'एकशब्देने'ति–एकपदेनेत्यर्थः, 'निगद्यमानम्'–कथ्यमानम्, वाच्यमितिभावः, यत् अस्ति तत् 'प्रवीणाः'–चतुराः, 'सत्पदमिति प्राहुरिति'–सत्पदेतिनाम्ना कथयन्तीत्यर्थः, 'नन्वि'ति निश्चयेन, 'यत्'–वस्तु, 'सत्पदेन वाच्यं भवेदिति'–सत्पदेन कथनीयमस्तीत्यर्थः, 'तत्'–वस्तु, 'विद्यते'–वर्त्तत एव, नास्तिक आह–'तदत्र किं स्यादिति'–सत्पदवाच्यं वस्त्वत्र किं विद्यत इत्यर्थः, आस्तिकः प्राह–यच्छब्देत्यादि 'यच्छब्दजातं'–यः शब्दसमूहः, 'पुरैव'–पूर्वमेव, 'गदितं'–कथितं मया, तत्सत्पदवाच्यमस्ति, 'तथा पुनरि'ति–अन्यच्चेत्यर्थः, 'किंचित्'–किमपि, सत्पदवाच्यम्, 'अत्र'–अस्मिन्स्थले, 'अनुच्यते'–पुनः कथ्यते ॥ २–३ ॥

मूलम्—कालः स्वभावो नियतिः पुराकृतं, तथोद्यमः प्राणमनोऽसुमन्तः ।
आकाशसंसारविचारधर्मा,–धर्माधिमोक्षा नरकोर्ध्वलोकौ ॥ ४ ॥

विधिर्निषेधः परमाणुपुद्गलः, कर्माणि सिद्धाः परमेश्वरस्तथा ।
इत्यादिशब्देषु न चेष्टयाऽपि, केचित्सुधीभिः प्रतिपादनीयाः ॥ ५ ॥
किन्त्वेकतः सत्पदतः प्ररूप्याः, तथैककर्णेन्द्रियग्राह्यवर्णाः ।
स्वस्वस्वभावोत्थिततत्तथाविध–फलानुमेयाः किल केवलीक्ष्याः ॥ ६ ॥

टीका—सत्पदवाच्यमन्यद् वक्तुकाम आह–काल इत्यादि 'कालः'–समयः, 'स्वभावः'–आत्मीया सत्ता, 'नियतिः'–नियमः, 'पुराकृतं'–पूर्वं विहितं कर्म, 'तथे'ति समुच्चये, 'उद्यमः'–पुरुषकारः, 'प्राणः'–हृदयस्थो वायुः, शक्तिः, गंधो रसो वा यद्वा प्राणाः–असवः, 'मनः'–चित्तम्, 'असुमन्तः'–आत्मानः, 'आकाशं'–नभः, 'संसारः'–लोकः, तनुचेतनात्मकं जगदिति यावत्, 'विचारः'–परामर्शः, 'धर्मः'–पुण्यम्, 'अधर्मः'–पापम्, 'आधिः'–मानसी व्यथा, 'मोक्षः'–मुक्तिः, 'नरकं'–श्वभ्रम्, 'ऊर्ध्वलोकः'–ऊर्ध्वस्थायी लोकः, 'विधिः'–शास्त्रोक्तविधानम्, 'निषेधः'–निवर्त्तनम्, 'परमाणुपुद्गल इति'–अणवः शरीरं चेत्यर्थः, 'कर्माणि'–कार्याणि, 'सिद्धाः'–सिद्धिं गताः, 'तथे'ति समुच्चये, 'परमेश्वरः'–ईश्वरः, 'इत्यादिशब्देषु'–एतत्प्रभृतिषु शब्देषु, 'केचित्'–केऽपि शब्दाः, 'सुधीभिः'–पण्डितैः, 'चेष्टयाऽपि'–चेष्टाद्वाराऽपि, 'न प्रतिपादनीयाः'–न कथनीयाः सन्ति, तर्हि कुतः प्ररूप्यास्ते ? इत्याह–किंत्वेकत इत्यादिना किंतु 'एकतः'–सत्पदत इति, एकेन सत्पदेनेत्यर्थः, 'प्ररूप्याः'–प्ररूपयितुं योग्याः, ते शब्दाः सन्ति, पुनः कथंभूताः ? सन्तीत्याह–तथेत्यादिना 'तथे'ति समुच्चये, 'एककर्णेन्द्रियग्राह्यवर्णाः'–एकेन–केवलेन कर्णेन्द्रियेण–श्रोत्रे-

द्रियेण ग्राह्याः-ग्रहीतुं योग्याः, वर्णाः-अक्षराणि येषां ते तथा सन्ति, पुनः कथंभूताः ? सन्तीत्याह-स्वस्वेत्यादिना 'स्वस्वस्वभावेन'-स्वकीयस्वकीयस्वभावद्वारा, 'उपस्थितम्'-उत्पन्नम्, यत् 'तथाविधं फलं'-तत्प्रकारं फलं, तेन 'अनुमेयाः'-अनुमातुं योग्याः, निजनिजस्वभावोत्पन्नविविधप्रकारकफलज्ञेया इतिभावः, सन्ति, पुनश्च कथंभूताः ? सन्तीत्याह-किलेत्यादिना 'किले'ति निश्चयेन, 'केवलीक्ष्याः'-केवलज्ञानिना दर्शनीयाः सन्ति ॥ ४-६ ॥

मूलम्—ये सन्ति शब्दास्तु पदद्वयादिना, संयोगजास्ते भुवि सन्ति वा नो ।
यथा हि वन्ध्याऽस्ति सुतोऽपि चाऽस्ति, वन्ध्यासुतश्चेति न युक्तशब्दः ॥ ७ ॥

टीका—अत्र विशेषमाह-ये सन्तीत्यादिना 'तु' शब्दो व्यवच्छेदार्थः, 'ये'-शब्दाः, 'पदद्वयादिना संयोगजाः सन्ति'-द्विपदप्रभृतिसंयोगजन्या वर्त्तन्ते, द्विपदत्रिपदादिसंयोगोत्पन्ना सन्तीतिभावः, ते पदद्वयादिसंयोगजाः शब्दाः पदद्वयादिसंयोगजन्यशब्दवाच्याः पदार्था इतिभावः, 'भुवि'-पृथिव्यां, संसार इत्यर्थः, 'सन्ति'-विद्यन्ते, 'वा'-अथवा, 'नो'-नैव सन्ति, अस्योदाहरणमाह-यथा हीत्यादिना 'ही'ति निश्चये, चरणपूर्त्तौ वा, 'यथा'-येन प्रकारेण, 'वन्ध्याऽस्ती'ति-वंध्याशब्दवाच्यः पदार्थोऽस्तीत्यर्थः, 'च'-पुनः, 'सुतोऽप्यस्ती'ति-सुतशब्दवाच्यः पदार्थोऽप्यस्तीतिभावः, परन्तु 'च'कारश्चरणपूर्त्तौ, 'वन्ध्यासुत इति युक्तशब्दो ने'ति-वन्ध्यासुतरूपपदद्वयसंयोगजन्यशब्द-वाच्यः पदार्थो नास्तीतिभावः ॥ ७ ॥

मूलम्—एवं नभःपुष्पमरीचिकाम्भः–खरीविषाणप्रमुखा अनेके ।
एतादृशा ये किल सन्ति शब्दाः, संयोगजास्ते किल नैव युक्ताः ॥ ८ ॥

टीका—संयुक्तशब्दोदाहरणांतराण्यभिधातुकाम आह–एवमित्यादि 'एवम्'–अनया रीत्या, 'नभ इत्यादि'–नभःपुष्पम्–आकाशकुसुमम्, मरीचिकाम्भः–मृगतृष्णाजलम्, खरीविषाणं–गर्दभीशृंगम्, एतत् प्रमुखाः–एतद् आद्या ये, 'अनेके'–बहवः, 'एतादृशाः'–इत्थंप्रकाराः, 'किले'ति निश्चये, 'संयोगजाः'–पदसंयोगजन्याः, 'शब्दाः' 'सन्ति'–वर्त्तन्ते, ते शब्दाः 'किले'ति स्ववार्त्तायाम्, 'युक्ता नैव'–योग्या नैव सन्ति, वाच्यार्थाभिधानसमर्था न सन्तीतिभावः ॥ ८ ॥

मूलम्—कर्णेन्द्रियग्राह्यतयापि नैषां, सत्ताऽस्ति तन्नेन्द्रियगोचरः सन्[1] ।
केचित्तु संयोगभवा हि शब्दाः, सन्त्येव ते तद्विरहो न प्रायः ॥ ९ ॥
यथाहि गोशृङ्गनरेन्द्रकञ्जा–वनीरुहागोपतिभूधराद्याः ।
संयोगजाः सन्ति वियोगतश्च, शब्दा अनेके विबुधैर्विवेच्याः ॥ १० ॥

टीका—उक्तशब्दायोग्यत्वमेव दृढयति–कर्णेन्द्रियेत्यादिना 'एषां'–पूर्वोक्तानाम्, वंध्यासुतादिसंयुक्तशब्दानाम्, 'कर्णेन्द्रियग्राह्यतयाऽपि'–श्रोत्रेंद्रियग्राह्यभावेनापि, श्रोत्रेंद्रियेण ग्रहणे सत्यपीतिभावः, 'सत्ता नास्ति'–भावो न विद्यते, फलितमाह–तदित्यादिना 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'इन्द्रियगोचरः'–श्रोत्रादिविषयः, 'सन्'–सत्यः, नास्ति, अतो व्यतिरेकमाह–

१. सत्यः ।

केचिच्चित्यादिना ' तु ' शब्दो व्यतिरेकप्रदर्शनार्थः, ' ही 'ति चरणपूर्त्तौ, निश्चये वा, ये ' केचित् '—केऽपि, 'संयोगभवाः'—संयोगजन्याः, परसंयोगजाता इतिभावः, 'शब्दा भवन्ति'—ते शब्दाः सन्त्येव, वर्त्तन्त एव, ' केषांचित् '—संयोगजानामपि, शब्दानां वाच्यः पदार्थो विद्यते एवेतिभावः, तेन किं भवतीत्याह—तद्विरह इत्यादिना ' प्रायः '—बहुधा, ' तद्विरहः '—तेषां शब्दानां वियोगः, तद्वाच्यवस्तूनां वियोग इत्यर्थः, न भवति एतदुदाहरणान्याह—यथा हीत्यादिना ' ही 'ति चरणपूर्त्तौ, ' यथा '—येन प्रकारेण, ' गोशृंगेत्यादि '—गोशृंगं—गोर्विषाणं, नरेन्द्रकञ्जः—नृपतिकेशः, अवनीरुहः—वृक्षः, गोपतिः—गोपालः, भूधरः—पर्वतः, ' इत्याद्याः '—एतत्प्रभृतिकाः शब्दा भवन्ति, ' च '—पुनः, ' अनेके '—बहवः शब्दाः, संयोगजन्याः, तथा ' वियोगतः'—वियोगेन, पदवियुक्तिजन्या इतिभावः, 'सन्ति'—वर्त्तन्ते, ते ' विबुधैः'—विपश्चिद्भिः, ' विवेच्याः '—विवेचनीयाः, स्वयमूह्या इत्यर्थः ॥ ९–१० ॥

मूलम्—श्रोत्राक्षिमुख्येन्द्रियरूपग्राह्ये,[1] परन्त्वतन्नामनि[2] तस्य[3] नाम्नि ।

अर्थे तथाऽन्याश्रितरूपवेषके, ज्ञानं न नेत्रश्रवसोस्तदर्थकृत् ॥ ११ ॥

टीका—ऐंद्रियज्ञानस्य न सर्वथाऽर्थपरिच्छेदकत्वमिति वक्तुकाम आह—श्रोत्राक्षीत्यादि ' श्रोत्राक्षिमुख्येंद्रियरूपग्राह्ये '—कर्णनेत्रादींद्रियग्रहणीये कर्पूरादिवस्तुनि, ' परन्तु ' ' अतन्नाम्नि '—तद्भिन्ननाम्नि, लवणादिखण्ड इत्यर्थः, ' तस्य नाम्नि '—कर्पूरादिनामके पदार्थे, 'तथे'ति समुच्चये, ' अन्याश्रितरूपवेषकेऽर्थे '—अन्यस्य—द्वितीयस्याश्रितौ रूपवेषौ येन सः, ' तथा '—

१. वस्तुनि । २. लवणादिखण्डे । ३. कर्पूरादेर्नामनि पदार्थे इत्यर्थः ।

तस्मिन् पदार्थे, 'नेत्रश्रवसोः'–नयनकर्णयोः, 'ज्ञानं' 'तदर्थकृत्'–तदर्थकारिः, तत् पदार्थप्रयोजनग्राहयितुं न भवति ॥११॥

मूलम्—यथा सिताभ्रादिसुगन्धिवस्तुषु, श्रोत्राक्षिनासारसनासमुत्थं ।
ज्ञानं यदप्यस्ति तथापि केषुचि–त्तेषु प्रमाणं रसनावबोधनम् ॥ १२ ॥

टीका—उक्तविषयस्योदाहरणमाह–यथेत्यादिना 'यथा'–येन प्रकारेण, 'सिताभ्रादिसुगन्धिवस्तुषु'–कर्पूरादिःसुगंधयुक्तपदार्थेषु, 'यदपि'–यद्यपि, 'श्रोत्रादिनासारसनासमुत्थं ज्ञानमस्ति'–कर्णनेत्रघ्राणजिह्वोत्पन्नं ज्ञानं विद्यते, 'तथापि'–तदपि, 'तेषु'–तेषां मध्ये, 'केषुचित्'–केष्वपि पदार्थेषु, 'रसनावबोधनम्'–जिह्वेंद्रियज्ञानं, 'प्रमाणं'–प्रमाणरूपम् भवति ॥ १२ ॥

मूलम्—स्वर्णादिके वस्तुनि कर्णनेत्र–ज्ञानं स्फुरत्येव तथापि तत्र ।
निर्घर्षणादिप्रभवोऽवबोध–स्तदर्थसत्याय न केवलाक्षम् ॥ १३ ॥

टीका—उदाहरणांतरमाह–स्वर्णादिक इत्यादिना 'स्वर्णादिके वस्तुनि'–सुवर्णादिपदार्थे, यद्यपि, 'कर्णनेत्रज्ञानं'–श्रोत्रचक्षुर्ज्ञानं, 'स्फुरत्येव'–निश्चयेन प्रस्फुरणं गच्छति, तथापि 'तत्र'–स्वर्णादिके वस्तुनि, 'निर्घर्षणादिप्रभवोऽवबोधः'–

---

१. सत्स्वपीन्द्रियेषु इन्द्रियज्ञानात् निर्घर्षणच्छेदनतापताडनोत्थपरीक्षाभवं यत् ज्ञानं तदेव स्वर्णादिसत्यतासम्पादकं स्यात् न हि स्वर्णशब्दे श्रुते चक्षुर्भ्यां स्वर्णवर्णे च दृष्टे स्वर्णं सत्यमिति वक्तु शक्यते किन्तु निर्घर्षणादिभवेन तच्च कषपट्टलोहाग्न्यादिहेतुजं तत्संयोगानन्तरमेव तत्रेन्द्रियगोचरप्रवृत्तिर्नस्वतस्तत्प्रत्येवेति विचार्यम् ।

निर्घर्षणच्छेदनतापताडनोत्पन्नं ज्ञानं, 'तदर्थसत्याय'—स्वर्णादिपदार्थसत्यत्वविनिश्चयाय, भवति, 'न केवलाक्षमिति'—केवलं नेत्रोत्पन्नं ज्ञानं स्वर्णादिवस्तुसत्यत्वविनिश्चयाय न भवतीतिभावः ॥ १३ ॥

मूलम्—माणिक्यमुख्येषु पदार्थराशिषु, समाक्षविद्रत्नपरीक्षिकातः ।
तथापि तेषामधिकोनवक्रयो, निगद्यते रत्नपरीक्षकैः किम् ? ॥ १४ ॥
सर्वेषु सर्वाणि समानि खानि, तदा कथं भिन्नविभिन्नवक्रयः ।
परन्तु कश्चित्प्रतिभाविशेषो, येनोच्यते तद्गतमूल्यनिश्चयः ॥ १५ ॥

टीका—उदाहरणांतरमाह–माणिक्येत्यादिना 'माणिक्यमुख्येषु'—माणिक्यादिषु, 'पदार्थराशिषु'—वस्तुसमूहेषु, यद्यपि 'समाक्षवित्'—समानमिन्द्रियज्ञानं भवति, 'तथापि'—तदपि, 'रत्नपरीक्षिकातः'—रत्नपरीक्षाशास्त्रात्, 'तेषाम्'—माणिक्यमुख्यानाम्, 'अधिकोनवक्रयः'—अधिकः–प्रभूत ऊनः–न्यूनश्च वक्रयः–मूल्यम्, वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गरित्यकारलोपः, 'रत्नपरीक्षकैः'—रत्नपरीक्षाकारकैः, 'किं निगद्यते ?'—कथं कथ्यते ?, अस्यैव पुष्टिमाह–सर्वेष्वित्यादिना 'सर्वेषु'—सकलेषु रत्नपरीक्षकेषु, 'सर्वाणि'—सकलानि, 'खानि'—इंद्रियाणि, 'समानि'—तुल्यानि सन्ति,

---

१. माणिक्यमुख्येषु रत्नपरीक्षावेदिनां यद्यपि पञ्चेन्द्रियाणामपि विषयो वर्तते तथापि रत्नपरीक्षकैः सर्वेन्द्रियाकारसाम्येऽपि न्यूनमधिकं वा मूल्यं तत्र केनायं विशेषः क्रियते एतदेवाह । २. रत्नपरीक्षिका रत्नपरीक्षाशास्त्रं तस्याः सकाशात् । ३. मूल्यं । ४. माणिक्य ।

'तदा'–तर्हि, माणिक्यमुख्यानाम् 'भिन्नविभिन्नवक्रयः'–भिन्नं भिन्नं मूल्यं, 'कथं'–कुत उच्यते ? 'परन्तु'–किन्तु, 'कश्चित्'–कोऽपि, 'प्रतिभाविशेषः'–प्रत्युत्पन्नमतित्वं, प्रतिभा तस्य विशेषः–वैशिष्टम् भवति, 'येन'–यद्-वशात्, 'तद्गतमूल्यनिश्चयः'–माणिक्यस्य मूल्यनिश्चयनम्, 'उच्यते'–कथ्यते ॥ १४–१५ ॥

मूलम्—तथाहिफेनादिकजोटकेषु, प्रायो विमुह्यन्ति समेन्द्रियाणि ।
प्रमाणमेतेषु तदुत्थमत्तता, तेनेन्द्रियज्ञानमृतं न सर्वम् ॥ १६ ॥

टीका—उदाहरणांतरमाह–तथेत्यादिना 'तथे'ति समुच्चये, 'अहिफेनादिकजोटकेषु'–अहिफेनादिपदार्थयोगेषु, 'प्रायः'–बहुधा, 'समेन्द्रियाणि'–सर्वाणींद्रियाणि, 'विमुह्यन्ति'–मोहं प्राप्नुवन्ति, अज्ञानयुक्तानि भवन्तीतिभावः, 'एतेषु'–अहिफेनादिकजोटकेषु, अहिफेनादिकजोटकपरिच्छेदेष्वित्यर्थः, 'तदुत्थमत्तता'–अहिफेनादिजोटकोत्पन्नोन्मत्तता, 'प्रमाणं'–प्रमाणरूपा भवतीति, फलितमाह–तेनेत्यादिना 'तेन'–कारणेन, 'सर्वे'–सकलं, 'इन्द्रियज्ञानं'–श्रोत्रादींद्रियजन्यं ज्ञानम्, 'ऋतं'–सत्यं नास्ति ॥ १६ ॥

मूलम्—तथौषधीमन्त्र[2]गुडाविशेषै–र्लोकाञ्जनै[3]र्गुप्ततनोर्नरस्य ।
मूर्ति[4]स्तु नो दृक्पथमेति नृणां, तत्किं स नास्तीति न गृह्यते खैः ॥ १७ ॥

१. सत्यं । २. गुटिका । ३. अदर्शीकरणाञ्जनेन । ४. शरीरं । ५. गुप्ततनुः ।

तदाश्रितार्थादिकृतेस्तु तस्य, सत्ता तथा शक्तिमहेशवीराः।
भूतं सती जाङ्गुलिका सपत्नी, सिद्धायिकादेरपि तद्वदेव ॥ १८ ॥

टीका—उदाहरणान्तरमभिधातुकाम आह-तथेत्यादि 'तथे'ति समुच्चये, 'औषधीमन्त्रगुडाविशेषैः'-औषधमंत्रगुटिकाविशेषैः, तथा 'लोकाञ्जनैः'-अदृश्यकरणाञ्जनेन, 'गुप्ततनोर्नरस्य'-गुप्तशरीरस्य जनस्य, 'मूर्तिः'-शरीरम्, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'नृणाम्'-पुरुषाणाम्, 'दृक्पथं नो एति'-नेत्रमार्गम् नाऽऽयाति, नेत्रेण न दृश्यत इतिभावः, 'तत्'-तर्हि, 'सः'-गुप्तशरीरो नरः, 'नास्ति'-न विद्यते, 'इति'-एतत्, 'खैः'-इन्द्रियैः, 'किं न गृह्यते'-किं न निश्चीयते? अपि तु नास्तींद्रियैर्निश्चीयत एवेतिभावः, 'त्वि'ति किन्त्वित्यर्थः, 'तदाश्रितार्थादिकृतेः'-तस्य-गुप्तशरीरस्याऽऽश्रितो योऽर्थः, आनयनमोचनादिकं कार्यं तदादिकृतोस्तत्प्रभृतिकरणात् तस्य गुप्तशरीरस्य सत्ताभावोऽस्ति त्वमित्यर्थः सिद्ध्यति, 'तथे'ति समुच्चये, 'तद्वदेव'-उक्तरीत्यैव, गुप्तशरीरपुरुषवदेवेत्यर्थः, शक्तिः, महेशः, वीरः, भूतम्, सती, जाङ्गुलिका, सपत्नी, इत्येतेषाम्, तथा 'सिद्धायिकादेरपि'-सिद्धायिकाप्रभृतिकस्याऽपि सिद्धिर्भवति ॥ १७-१८ ॥

चेष्टयाऽदृष्टमपि मन्तव्यं पञ्चदशश्लोकैराह—

मूलम्—एतस्य सिद्धौ हि परोक्षसिद्धिः, तत्सेधनात् स्वर्गपरेत[2]सिद्धिः।
न[3] दृश्यते यन्ननु चेष्टयापि, कथं हि तद्वस्तु सदिष्यते भोः ॥ १९ ॥

---

१. तस्याश्रित यत्कार्यं आनयनमोचनादिकं तस्य करणात्। २. नरक। ३. नास्तिकः पुनः प्राह।

स्थाने परं सर्वमिदं हि केवली, ज्ञानेन जानाति यदेव वस्तु सत् ।
अतस्तदीयं वचनं प्रमाणं, यदुच्यते तेन परावबुध्यै ॥ २० ॥

टीका—एतेन किं भवतीत्याह–एतस्येत्यादिना 'ही 'ति निश्चये, चरणपूर्त्तौ वा, 'एतस्य सिद्धावि 'ति–गुप्तशरीरनरशक्तिमहेशादीनां सिद्धौ सत्यामित्यर्थः, 'परोक्षसिद्धिः '–परोक्षस्य साधनम् भवति, तथा 'तत्सेधनात् '–परोक्षस्य सिद्धेः, 'स्वर्गपरेतसिद्धिः '–स्वर्गनरकयोः सिद्धिर्भवति, नास्तिकः प्राह–न दृश्यत इत्यादि 'भोः '–इत्यामंत्रणे, 'नन्वि 'ति वितर्के, 'यत् '–वस्तु, 'चेष्टया '–चेष्टाद्वाराऽपि, 'न दृश्यते '–नावलोक्यते, 'तद्वस्तु '–तादृग्वस्तु, 'ही 'ति चरणपूर्त्तौ, 'सत् '–विद्यमानम्, 'कथं '–केन प्रकारेण, 'इष्यते '–मन्यते, अस्योत्तरमाह–स्थान इत्यादिना 'स्थाने '–एतत्–पूर्वोक्तं तव कथनमुचितमस्तीत्यर्थः, 'परं '–परन्तु, 'ही 'ति निश्चये, यदेव वस्तु 'सत् '–विद्यमानमस्ति, 'इदं सर्वम् '–तत्सकलं, 'केवली '–केवलज्ञानयुक्तः, 'ज्ञानेन '–ज्ञानद्वारा, 'जानाति '–वेत्ति, 'अतः '–अस्मात् कारणात्, 'तेन '–केवलिना, 'परावबुध्यै '–अपरज्ञानाय, 'यदुच्यते '–यत् किंचित् कथ्यते, तत् सर्वम्, 'तदीयं वचनम् '–केवलिनः कथनं, 'प्रमाणं '–प्रमाणरूपमस्ति ॥ १९–२० ॥

मूलम्—त्वं पश्य लोकेऽपि जनैर्न चान्यै–र्यज्ज्ञायते तत्किल दृश्यतेऽलम् ।
नैमित्तिकैरेव यथोपरागो[1], ग्रहोदयो गर्भघनागमादि[2] ॥ २१ ॥

१. ग्रहणं । २. मेघवृष्ट्यादि ।

टीका—एतदेवोदाहरणेन दृढयति–त्वं पश्येत्यादिना त्वम् ' पश्य '–विचारयत, यत् ' लोकेऽपि '–संसारेऽपि, ' अन्यैर्जनैः '–इतरपुरुषैः, ' यत् '–वस्तु, ' न ज्ञायते '–नावबुध्यते, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' तत् '–वस्तु, ' किले 'ति निश्चयेन, ' यत् '–ज्ञात्रा, ' अलम् '–पर्याप्तत्वेन, ' दृश्यते '–ज्ञायते, उदाहरणमाह–नैमित्तिकैरित्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, ' उपरागः '–ग्रहणम्, ' ग्रहोदयः '–सूर्यादीनामुदयः, ' गर्भघनागमादि '–मेघवृष्ट्यादिकम्, ' नैमित्तिकैरेव '–निमित्तशास्त्रज्ञातृभिरेव, ज्ञायते नवाऽपरैर्ज्ञायते ॥ २१ ॥

मूलम्—तथा व्यतीतं सकलं ब्रवीति, पृष्टं तु चूडामणिशास्त्रवेदी ।
निदानवैद्योऽखिलरुग्निदानं, निवेदयत्याशु न चाऽन्यलोकः ॥ २२ ॥
परीक्षको वेत्त्यथ नाणकस्य, यथा परीक्षां न परो मनुष्यः ।
पदं पदज्ञः शकुनं च तज्ज्ञो, यथा विजानाति परो न तद्वत् ॥ २३ ॥
अतस्त्वेकं विद्धि जनोऽखिलोऽन्यः[1], सर्वेन्द्रियोऽप्यत्र[2] न वेत्ति तद्वत् ।
यथैव नैमित्तिकमुख्यलोक–स्तेदक्षतः कोऽप्यपरोऽस्ति बोधः[3] ॥ २४ ॥

टीका*—उदाहरणांतराभिधातुकाम आह–तथेत्यादि 'तथा'–उक्तरीत्या, ' चूडामणिशास्त्रवेदी '–अर्हच्चूडामणिनाम्ना

१. त्वं । २. इन्द्रियेभ्यः । ३. ज्ञानम् । * अस्य श्लोकत्रयस्य टीका लिखितहस्तादर्शे नोपलभ्यते, इत्यतोऽभ्यासिनाम् सुखेनेतदर्थावगमाय साऽत्र मया संदृभ्य निवेशिता—पण्डित हरगोविन्ददासः ।

प्रसिद्धो देशकालादिव्यवहितार्थविषयकप्रश्नानां यथार्थोत्तरनिरूपणपरो ग्रन्थश्चूडामणिशास्त्रं तत् सम्यग् वेत्ति यः सः, ' व्यतीतं '–भूतकालविषयं, ' सकलं '–सर्वं, ' पृष्टं '–प्रश्नं, ' तु '–अन्यार्थव्यवच्छेदेन, ' ब्रवीति '–व्याकरोति, ' तथे 'ति देहलीदीपकन्यायेनाऽत्राऽपि संबध्यते, ' निदानवैद्यः '–रोगकारणज्ञाता, चिकित्सकः, ' अखिलानां '–वात–पित्तादि–धातुवैषम्यप्रभवाणां सर्वासाम्, ' रुजाम् '–आतुरशरीरोत्पन्नविकारभूतानाम् रोगाणाम्, ' निदानं '–रोगोत्पादकं मूलं, ' आशु '–अविलम्बेन, ' निवेदयति '–स्वयं विदित्वा रोगिभ्यो ज्ञापयति, ' अन्यलोकः '–चूडामणिशास्त्राऽनभिज्ञश्चिकित्साशास्त्रात्युत्पन्नश्च जनः, न च यथाक्रमं अतीतविषयं प्रश्नं रुग्निदानं च ज्ञातुम् ज्ञापयितुं च समर्थो न भवतीतिभावः, पुनरप्युक्तार्थं दृढयितुमाह–' अथ '–इत्युक्तसमुच्चये, ' यथा ' ' परीक्षकः '–सत्यासत्यविवेचकः, ' नाणकस्य '–रूप्यकादेः, ' परीक्षां वेत्ति '–कूटाकूटविभागं जानाति, ' न परः '–परीक्षकातिरिक्तो जनस्तथा वेत्तुं शक्नोति, यथा ' पदज्ञः '–पादचिह्नज्ञाता, ' पगी ' इति भाषायाम्, 'पदं'–पलायितस्य चौरादेः पादचिह्नं, 'च' शब्दः समुच्चये, 'यथा' इत्यत्रापि संबध्यते, 'तज्ज्ञः'–शकुनशास्त्रज्ञाता, 'शकुनं'–भविष्यच्छुभाशुभसूचकं खगरुतादि, 'विजानाति'–वेत्ति, 'तद्वत्'–पदज्ञ–शकुनज्ञाविव, 'पदः–तद्भिन्नो नरः, 'न'–नैव विजानातीभावः, प्रक्रममभिमतमुपसंहरन्नाह–' नैमित्तिकमुख्यलोकः '–निमित्तशास्त्रं वेत्तीति नैमित्तिकः स मुख्य आदिर्यस्य प्रश्नज्ञ–वैद्य–परीक्षक–पदज्ञादेः स तादृशो लोकः–जनः, ' अत्र '–जगति, ' यथैव '–उक्तप्रकारेण ग्रहोपराग–प्रश्न–निदानादि, ' तत् '–देशकालादिव्यवहितमत एवातीन्द्रियं वस्तु, ' वेत्ति'–जानाति, ' तद्वत् '–तथा, ' सर्वेन्द्रियः '–सर्वाणि परिपूर्णानि त्वग्–रसना–घ्राण–नेत्र–श्रोत्राणीन्द्रियाणि यथाक्रमं स्पर्श–रस–गन्ध–रूप–शब्द–ज्ञानसाधनानि यस्य सः, पटुसकलेन्द्रिय

इति यावत्, आस्ताम् न्यूनेन्द्रियो अपटुसकलेन्द्रियो वेत्त्यपि शब्दार्थः, 'अन्यः'–नैमित्तिकादिभिन्नः, 'अखिलः'–समस्तः, 'जनः'–मनुष्यः, न वेत्ति, 'अतः'–उक्ताद् हेतोः, 'अक्षतः'–इन्द्रियात्, इन्द्रियजन्याद् बोधादित्यर्थः, 'अपरः'–भिन्नः, कोऽपि 'बोधः'–ज्ञानमस्ति, 'त्वकं'–त्वं प्रच्छकः, 'विद्धि'–जानीहि ॥ २२–२४ ॥

मूलम्—एवं परोक्षार्थमिमं समस्तं, ज्ञानी विजानाति न सर्वलोकः ।
प्रायस्त्विदं वेत्ति परोपदेशा–ज्जनः स्वतो नेन्द्रियकेषु सत्सु ॥ २५ ॥

टीका—उक्तविषयमेव दृढयति–एवमित्यादिना 'एवम्'–अनया रीत्या, 'इमं'–पूर्वोक्तं, 'समस्तं'–सर्वं, 'परोक्षार्थं,'–परोक्षवर्तिपदार्थं, 'ज्ञानी'–ज्ञानयुक्तो, 'विजानाति'–वेत्ति, 'न सर्वलोकः' इति–सर्वो जनो न वेत्तीतिभावः, तर्हि सर्वो जनः कथं ज्ञातुम् शक्नोतीत्याह–प्राय इत्यादिना 'प्रायः'–बहुधा, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'जनः'–अपरो मनुष्यः, 'इदं'–वक्ष्यमाणम्, 'परोपदेशात्'–परस्योपदेशेन, 'वेत्ति'–जानाति, 'इन्द्रियकेषु सत्सु'–श्रोत्रादींद्रियेषु विद्यमानेष्वपि, 'स्वतः'–स्वयम्, परोपदेशमंतरेणैवेत्यर्थो न वेत्ति ॥ २५ ॥

मूलम्—आचारशिक्षागमसाधनानि, रसायनं व्याकरणादिविद्याः ।
चरित्रवृत्ती परदेशवार्त्ता, स्वादिन्द्रियाद्वेत्ति न किन्तु चाऽन्यतः ॥ २६ ॥

टीका—यत्परोपदेशेन वेत्ति न स्वतस्तत् किमस्तीत्याह–आचारेत्यादिना 'आचारः'–व्यवहारः, 'शिक्षा'–शिक्षणम्,

१. मन्त्राम्नाय । २. देवानाम् ।

'आगमः'—मन्त्राम्नायः, 'साधनम्'—सिद्धिविधिः, 'रसायनं'—धातुवर्द्धनादिविधिः, 'व्याकरणादिविद्याः'—व्याकरणप्रभृतिका विद्याः, 'चरित्रं'—वृत्तम्, 'वृत्तिः'—वर्त्तनम्, 'परदेशवार्त्ता'—स्थितं वार्त्ताम्, 'एतान्'—सर्वान्, 'स्वादिंद्रियात्'—स्वकीयेंद्रियद्वारा, 'न वेत्ति'—न जानाति, किन्तु 'च' 'शब्दश्चरणपूर्त्तौ,' 'अन्यतः'—अपरद्वारा, परस्योपदेशत इतिभावो वेत्ति॥२६॥

मूलम्—हेतोरतः सुष्ठु विधाय चित्तं, विचारयेदं स्वविकल्पमुक्तः।
ग्राह्यं यदेवाऽस्ति नृणां निजैः खै-स्तदेव गृह्णन्ति हि तानि खानि ॥ २७ ॥

टीका—अत्रैव पुष्टिमाह—हेतोरित्यादिना 'अतो हेतोः'—अस्मात् कारणात्, 'चित्तं'—मनः, 'सुष्ठु विधाय'—स्वस्थं कृत्वा, 'विकल्पमुक्तः'—स्वतर्करहितः सन्, त्वम्, 'इदम्'—वक्ष्यमाणम्, 'विचारय'—चिन्तय, यत् निजैः 'खैः'—इंद्रियैः, 'नृणाम्'—मनुष्याणाम्, 'यत्'—वस्तु, 'एव' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'ग्राह्यमस्ति'—आदेयमस्ति, 'ही'ति निश्चये, तानि 'खानि'—इंद्रियाणि, 'तदेव'—वस्तु, 'गृह्णन्ति'—आददते ॥ २७ ॥

मूलम्—ज्ञानं परोक्षं हि यदिन्द्रियाणां, तज्ज्ञायते मङ्क्षु परोपदेशात्।
शस्तं तथाऽशस्तमिदं समस्तं, विस्तारसंक्षेपत ईक्ष्यतेऽन्यतः ॥ २८ ॥

टीका—एतदेव स्पष्टयति—ज्ञानमित्यादिना 'ही'ति निश्चये, चरणपूर्त्तौ वा, 'यत्'—ज्ञानम्, 'इन्द्रियाणाम्'—श्रोत्रादीनां, 'परोक्षम्'—अप्रत्यक्षमस्ति, 'तत्'—ज्ञानम्, 'परोपदेशात्'—अन्यस्योपदेशेन, 'मङ्क्षु'—द्रुतं, 'ज्ञायते'—अवबुध्यते, फलितमाह—शस्तमित्यादिना 'शस्तं'—प्रशंसनीयं, यथार्थमिति यावत्, 'तथे'ति समुच्चये, 'अशस्तम्'—अप्रशंसनी-

यम्, अयथार्थमिति यावत् ' इदं '–पूर्वोक्तं, ' समस्तं '–सर्वम् ज्ञानम्, ' विस्तारसंक्षेपतः '–विस्तारेण संक्षेपेण च, ' अन्यतः '–अन्यस्मात्, अन्यस्योपदेशेनेतिभावः, ' ईक्ष्यते '–दृश्यते, ज्ञायत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

मूलम्—यथान्त्रशुक्रं कफपित्तवात–नाडीभ्रमं गुल्मयकृन्मलाशयाः ।
गण्डोलतापाधिकतप्तिवालकाः, कपालरोगा गलरोगविद्रधी ॥ २९ ॥
इत्यादिकं यत्तनुमध्यवस्तु, सामान्यमर्त्यैर्निजकेन्द्रियैः स्वयम् ।
न ज्ञायते किन्तु परोक्तिश्रुत्या, ज्ञेयं तदस्य प्रशमात्स्वसंत्ता ॥ ३० ॥

टीका—अस्योदाहरणान्यभिधातुकाम आह–यथेत्यादि ' यथा '–येन प्रकारेण, ' अन्त्रशुक्रमि 'ति अंत्राश्रितं हानिवृद्ध्यादिकं, वीर्याश्रितं हानिवृद्ध्यादिकं चेत्यर्थः, ' कफेत्यादि '–कफः पित्तम् वातो नाडीभ्रमश्चेत्यर्थः, ' गुल्मेत्यादि '–गुल्मरोगो यकृद्रोगो गलाशयरोगश्चेत्यर्थः, ' गण्डोलेत्यादि '–गंडोलाः–कृमयः कृमिरोग इत्यर्थः, ' तापाधिकं '–ज्वरस्याऽऽधिक्यम्, ' तप्तिः '–उष्णता, यद्वा तापस्याऽधिकतप्तिरिति वेद्यम्, ' वालकः '–वालानामको रोगश्चेत्यर्थः, ' इत्यादिकम् '–एतत्प्रभृतिकं, ' यत्तनुमध्यवस्तु '–शरीरमध्यस्थितं वस्तु, अस्ति, तत् ' सामान्यमर्त्यैः '–साधारणमनुष्यैः, ' निजकेंद्रियैः '–स्वकीयेंद्रियैः, ' स्वयं '–स्वत एव, परोपदेशमंतरेणैवेत्यर्थः, ' न ज्ञायते '–नावबुध्यते, किन्तु ' परोक्तिश्रुत्या '–परकथनश्रवणेन,

१. अन्त्राश्रितं हानिवृद्ध्यादिकं । वीर्याश्रितं हानिवृद्ध्यादिकं । २. अप्यन्त्रादिविद्रधिपर्यन्तरोगगणस्य औषधादिनोपशमात् शान्तितः सत्ता रोगोत्पत्तिज्ञानं भवेत् ॥

परोपदेशेनेतिभावः, ' तत् '-पूर्वोक्तं वस्तु, ' ज्ञेयं '-ज्ञातुम् योग्यम् भवति, तथा ' अस्य '-पूर्वोक्तस्य शरीरमध्यस्थितांत्र-शुक्रादिरोगगणस्य, ' स्वसत्ता '-आत्मीयो भावः, ' प्रशमात् '-औषधादिना शान्तः ज्ञायते सामान्यमर्त्यैः ॥ २९-३० ॥

मूलम्—इदं विदां सुन्दर! स त्वमैदं-पर्य्यं विजानीहि मयोच्यमानम्।
वस्त्वस्ति यत्प्राणभृदङ्गभाग-भूतं प्रदृश्यं न परन्त्वमूर्त्तम् ॥ ३१ ॥

टीका—फलितमेव दृढयति-इदमित्यादि ' हे विदां सुन्दर! '-हे पण्डितानां मध्ये श्रेष्ठ!, नास्तिकं प्रत्युक्तिरियम्, ' सः '-पूर्वोक्तः, त्वम् मया ' उच्यमानम् '-कथ्यमानम्, ' इदं '-वक्ष्यमाणम्, ' ऐदंपर्य्यम् '-तत्त्वं, ' विजानीहि '-विद्धि, ' यत् '-यद् वस्तु, ' प्राणभृदङ्गभागभूतम् '-प्राणधारिशरीरावयवभूतं, ' अस्ति '-विद्यते, तत् ' प्रदृश्यं '-दर्शनीयम् भवति, परन्तु, ' अमूर्त्तम् '-मूर्त्तिविरहितम् वस्तु न प्रदृश्यं भवति ॥ ३१ ॥

मूलम्—अतः किलाकारवतोऽङ्गिनोऽङ्गजं, तदङ्गभूतं च यदस्ति वस्तु।
दृश्यं तदेवाथ न सन्त्यनाकृते-र्जीवस्य येऽनाकृतयो गुणास्ते ॥ ३२ ॥

टीका—उक्तविषयमेव दृढयति-अत इत्यादिना ' अतः '-अस्मात् कारणात्, ' किले 'ति निश्चये, ' यत् '-वस्तु, ' आकारवत् '-आकारयुक्तस्य, ' अंगिनः '-शरीरधारिणः, ' अंगजम् '-अंगोत्पन्नम्, ' च '-पुनः, ' तदंगभूतमस्ति '-प्राणधारिशरीरावयवभूतं विद्यते, ' तदेव '-वस्तु, ' दृश्यं '-दर्शनीयम् भवति, ' अथे 'ति अनंतरे, ' अनाकृतेः '-अना-

१. विदः पण्डिताः तेषां मध्ये सुन्दर। २. जीवशरीरभागजातं वस्तु।

कारस्य, ' जीवस्य '–आत्मनः, ये ' अनाकृतयः '–आकाररहिताः, ' गुणाः सन्ति'–ज्ञानादयो गुणा विद्यन्ते, ' ते '–पूर्वोक्ता अनाकृतयो गुणाः, न दृश्याः सन्ति ॥ ३२ ॥

मूलम्—इतीयता सिद्धमिदं यदत्र खै-र्ग्राह्यं तदेव प्रतिगृह्यते तैः ।
अन्यद्यदाप्तैरुदितं तदेव, सत्यं नृणां खानि तु सर्वदृंशि नो ॥ ३३ ॥

टीका—फलितपूर्वं निगमनमाह–इतीयतेत्यादिना ' इतीयता '–एतावता कथनेनेत्यर्थः, ' इदम् '–एतत्, ' सिद्धम्'–सिद्धिमुपगतम् भवति, यत् ' अत्र '–अस्मिन्संसारे, ' यत् '–वस्तु, ' खैः '–इंद्रियैः, ' ग्राह्यं '–ग्रहीतुम् योग्यमस्ति, 'तदेव'–वस्तु, ' तैः '–इंद्रियैः, ' प्रतिगृह्यत '–आदीयते, ' अन्यम् '–भिन्नम्, इंद्रियग्राह्यवस्तुभ्योऽन्यदितिभावः, ' यत् '–वस्तु, ' आप्तैः '–यथार्थवक्तृजनैः, ' उदितं '–कथितम्, ' तदेव '–वस्तु, ' सत्यं '–यथार्थमस्ति, यतः ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' नृणां '–मनुष्याणाम्, ' खानि '–इंद्रियाणि, ' सर्वदृंशि '–सकलवस्तुष्टृणि, ' नो '–नैव संति ॥ ३३ ॥

श्रीजैनतत्त्वसारे नास्तिकस्य प्रत्यक्षप्रमाणान्नोइन्द्रियावगमाधिक्योक्तिलेशः
चतुर्दशोऽधिकारः

अथ पञ्चदशोऽधिकारः

अदृष्टस्वर्गादिप्रमाणतां द्वादशश्लोकेनाह—

मूलम्—पुनश्च यद्देहबहिःस्थवस्तु, दृश्यं तदेवाङ्गिभिरीक्ष्यतेऽक्षैः ।
ग्राह्यं तु यन्नास्ति न गृह्यते तत्, परोक्तिशक्त्या तदपीह मन्यते ॥ १ ॥

टीका—नास्तिकमतपरिहारसैद्धान्तिकविषयपुष्टिसंबंध एवाऽवशिष्टविषयमाह—पुनश्चेत्यादिना 'पुनश्चे'ति अन्यच्च श्रूयतामित्यर्थः, 'यत् देहबहिःस्थवस्तु'—शरीरबाह्ये स्थितं वस्तु, 'दृश्यं'—दर्शनीयमस्ति, 'तदेव'—वस्तु, 'अंगिभिः'—प्राणिभिः, 'अक्षैः'—इन्द्रियैः, 'ईक्ष्यते'—अवलोक्यते, 'यत्'—वस्तु, इन्द्रियैः 'ग्राह्यं'—ग्रहीतुं योग्यम्, 'नास्ति'—न विद्यते, 'तत्'—वस्तु, इन्द्रियैः 'न गृह्यते'—नादीयते, परन्तु 'इह'—अस्मिन्संसारे, 'तदपि'—पूर्वोक्तमपि वस्तु, 'परोक्तिशक्त्या'—परकथनसामर्थ्येन, परोपदेशेनेत्यर्थः, 'मन्यते'—ज्ञायते ॥ १ ॥

मूलम्—पुंसो यथा कस्यचिदस्ति कन्धरा[1]—पृष्ठस्थितो वंशकमध्यगो वा ।
भृङ्गोऽथवा लक्ष्म[2] च कालकादि[3], स्वयं न जानाति स तन्निजैः खैः ॥ २ ॥

१. ग्रीवा । २. स्वस्तिकादि । ३. तिलकादि ।

टीका—उक्तविषयस्योदारणमाह–पुंसो यथेत्यादिना 'यथा'–येन प्रकारेण, 'कस्यचित्'–कस्यापि, 'पुंसः'–पुरुषस्य, 'कन्धरापृष्ठस्थितः'–ग्रीवापृष्ठभागे स्थितः, 'वा'–अथवा, 'वंशकमध्यमः'–पृष्ठवंशे स्थितः, 'भृंगः'–भ्रमरः, 'अथवा'–यद्वा, 'लक्ष्म'–चिह्नम् स्वस्तिकादीत्यर्थः, 'च'–पुनः, 'कालकादि'–तिलकादि, अस्ति, परन्तु 'सः'–पूर्वोक्तः पुरुषः, 'निजैः स्वैः'–स्वैरिंद्रियैः, 'तत्'–पूर्वोक्तम् भ्रमरादिकम्, 'स्वयं'–स्वतः, परोपदेशमंतरेणेत्यर्थः, 'न जानाति'–न वेत्ति ॥ २ ॥

मूलम्—यदा तु मात्रादिनिजाप्तवृद्धै–स्तवाऽत्र भृङ्गादि निगद्यतेऽदः ।
तदाऽपि तेनाऽप्यनुमन्यते तत्, परन्तु स्वैः स्वैर्न कदाचिदीक्ष्यम् ॥ ३ ॥

टीका—तर्हि कथं स भ्रमरादिकं वेत्तीत्याह–यदा त्वित्यादिना 'यदा'–यस्मिन् काले, 'मात्रादिनिजाप्तवृद्धैरिति'–जनन्यादिभिः स्वकीयैराप्तैर्वृद्धैः पुरुषैरित्यर्थः, 'अदः'–एतत्, 'निगद्यते'–कथ्यते, यत्तव 'अत्र'–अस्मिन्स्थले, 'भृंगादि'–भ्रमरादिकमस्ति, 'तदाऽपि'–तस्मिन्कालेऽपि, जनन्यादिभिराप्तवृद्धैः कथनेऽपीत्यर्थः, 'तेन'–पूर्वोक्तेन जनेन, 'तत्'–भृंगादि अपि, 'अनुमन्यते'–अनुमानविषयं नीयते, अनुमानेन ज्ञायत इत्यर्थः, 'परन्तु'–किन्तु, 'स्वैः स्वैः'–निजैरिंद्रियैः, 'तत्'–भृंगादि, 'कदाचित्'–कदापि, 'नेक्ष्यम्'–न दर्शनीयम् भवति ॥ ३ ॥

मूलम्—विद्वन्! यथास्येक्षकमानवास्ततो–ऽनेके परे सन्ति तथा स्वरीक्षकाः[1] ।
घना न तस्य त्वनिरीक्षकः सको,–ऽङ्क्येवैककस्तेन समं न चोत्तरम् ॥ ४ ॥

---

१. स्वर्गे ।

टीका—अत्र नास्तिकः शंकते विद्वन्नित्यादिना 'हे विद्वन् !'–विपश्चित् !, 'यथा'–येन प्रकारेण, 'अस्य'–पूर्वोक्तस्य भृंगादेः, 'ईक्षकमानवाः'–दर्शकजनाः, 'ततः परे'–भृंगादियुक्तपुरुषाद् भिन्नाः, 'अनेके सन्ति'–बहवो वर्त्तन्ते, 'तथा'–तेन प्रकारेण, 'स्वरीक्षकाः'–स्वर्गद्रष्टारः, 'घनाः'–प्रभूता न सन्ति, फलितमाह–तस्येत्यादिना 'तस्य'–भृंगादेस्तु, 'अनिरीक्षकः'–अद्रष्टा, 'सकः'–सः, एककः, 'अङ्क्येव'–भृंगादिचिह्नयुक्त एव भवति, 'तेन'–अंकिना, 'समं'–तुल्यं, 'उत्तरम्'–भिन्नम्, सामान्ये क्लीबत्वप्रयोगः, नास्ति यथांकी स्वांका द्रष्टाऽस्ति तथाऽन्यः कोऽप्यंका द्रष्टा नास्तीतिभावः ॥४॥

मूलम्—युक्तं परं नास्तिकतो घना जनाः, सन्त्यास्तिका आप्तवचः प्रमाणकाः ।
तत्प्रेत्यदर्शा निवसन्ति भूरिशो, लक्ष्मेक्षवन्नास्तिकवत्तु लक्ष्मवान् ॥ ५ ॥

टीका—उक्तशंकां परिहर्त्तुमाह–युक्तमित्यादिना 'युक्तमिति'–एतत्तव कथनं युक्तमस्तीत्यर्थः, 'परं'–परन्तु, 'नास्तिकतः'–नास्तिकात् नास्तिकापेक्षयेत्यर्थः, 'आस्तिका जनाः' 'घनाः सन्ति'–प्रभूता विद्यन्ते, कथंभूताः ? 'आप्तवचः प्रमाणकाः'–आप्तवचनं प्रमाणत्वेन मंतारः, 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'लक्ष्मेक्षवत्'–भृंगादिचिह्नद्रष्टृतुल्याः, 'प्रेत्यदर्शाः'–परभवद्रष्टारः, 'भूरिशः'–अनेके, 'निवसन्ति'–तिष्ठन्ति, वर्त्तन्त इत्यर्थः, 'नास्तिकवत्'–नास्तिकतुल्यः, 'लक्ष्मवान्'–भृंगाद्यंकयुक्तोऽस्ति ॥ ५ ॥

---

१ परभव । २. लक्ष्मेशा इव लक्ष्मेक्षवत् लक्ष्मदर्शका इव । यथा लक्ष्मवान् अङ्की स्वाङ्गस्थमपि लक्ष्म न पश्यति तथा नास्तिकोऽपि स्वर्गादि न पश्यति इति समानमुत्तरम् ।

मूलम्—सत्यं मुने ! तत्फलतोऽपि पृष्ठगं, लक्ष्मावसेयं हि भवेदवश्यम् ।
परन्तु न स्वर्गपरेतलोकौ, कयाऽपि बोध्यौ ननु चेष्टयाऽपि ॥ ६ ॥

टीका—नास्तिकः प्राह–सत्यमित्यादि 'हे मुने!'–हे मननशील !, 'सत्यमिति'–एतत्पूर्वोक्तं भवतः कथनं सत्यमस्तीत्यर्थः, 'परन्त्वि'ति शेषः, 'ही'ति निश्चये, चरणपूर्त्तौ वा, 'पृष्ठगं लक्ष्म'–पृष्ठे स्थितं चिह्नं, 'तत्फलतोऽपि'–स्वफलद्वाराऽपि, 'अवश्यं'–निश्चयेन, 'अवसेयं भवेत्'–ज्ञातुं योग्यम् भवति, 'परन्तु'–किन्तु, 'नन्वि'ति निश्चये, वितर्के वा, 'स्वर्गपरेतलोकौ'–स्वर्गनरकौ, 'कयापि'–कयाचित्, 'चेष्टयाऽपि'–चेष्टाद्वाराऽपि, 'न बोध्यौ'–न ज्ञेयौ भवत इतिशेषः ॥ ६ ॥

मूलम्—मैवं वद कोविद ! शक्तिशम्भु–गणेशवीरादिकदेवसंहतिः ।
शैवाङ्गिमान्याऽथ तुरुष्कपूज्याः, फिरस्तपेगम्बरपीरमुख्याः ॥ ७ ॥
तदीयसेवोत्थितताहशेन, फलेन वेद्या न हि सन्ति ते किम् ? ।
सन्तीति चेत्ते त्रिदशा न मर्त्याः, प्रायो न दृश्याः कलिकालयोगतः ॥ ८ ॥
दूरस्थतद्योग्यनिवासभूमे–रगम्यतत्क्षेत्रपथा मनुष्याः ।
परन्तु सिद्धास्त्विदमीयसत्ता, नो माहशैरत्र गतैः प्रदश्यां ॥ ९ ॥

१. एषामियमिदमीया सा चाऽसौ सत्ता च तथा देवसम्बन्धिनी सत्ता एतत्सिद्धौ हि सिद्धा एतद्विपरीतपापहेतुप्राप्या नरकगतिसत्तेति स्वयमूह्या ।

टीका—अस्योत्तरमाह–मैवमित्यादिना ' हे कोविद ! '–हे बुध !, नास्तिकं प्रत्युक्तिरियम्, ' मैवं वद इति '–एवं मा कथयेत्यर्थः, यत इति शेषः, शक्तीत्यादि ' शक्तिः ' ' शम्भुः ' ' गणेशः ' ' वीरः ' इत्यादिकानां देवानां ' संहतिः '–समूहः, ' शैवाङ्गिमान्या '–शैवप्राणिपूजनीया, शिवमतानुयायिप्राणिभिर्माननीयेत्यर्थः, ' अथे ' ति समुच्चये, ' फिरस्तपेगम्बरपीर-मुख्याः '–फिरस्तपेगम्बरपीरादयः, ' तुरुष्कपूज्याः '–यवनानां पूजनीयाः सन्तीतिभावः, ' तदीयसेवोत्थिततादृशेन फले-ने ' ति–तेषां सेवयोत्पन्नेन तादृशा फलेनेत्यर्थये इति शेषः, ' वेद्याः '–ज्ञातुम् योग्याः सन्तीतिशेषः, ' ही ' ति चरणपूर्त्तौ, निश्चये वा, ' ते '–पूर्वोक्ता शक्त्यादयः, किं ' न सन्ति '–न विद्यन्ते, अपि तु विद्यन्त एवेति भावः, उक्तविषयमेव दृढयति–सन्तीत्यादिना ' चेत् '–यदि, ' ते '–शक्त्यादयः, ' सन्ति '–विद्यन्ते, ' तर्हीं 'ति शेषः, ' इति '–अस्मात् कारणात्, सत्ता-कारणादित्यर्थः, ते इति शेषः, ' त्रिदशाः '–देवाः सन्तीति शेषः, ' मर्त्याः '–मनुष्या न सन्तीति शेषः, तर्हि ते कथं न दृश्यन्त ? इति शङ्कां परिहर्त्तुमाह–प्राय इत्यादिना 'प्रायः'–बहुधा, ' कलिकालयोगतः '–कलियुगसमयसम्बन्धात्, कलियुग-समयभावादित्यर्थः, ते इति शेषः ' न दृश्याः '–न दर्शनीयाः सन्तीति शेषः, तेषामदृश्यत्व एव हेत्वन्तरमाह–दूरस्थेत्यादिना ' दूरस्थतद्योग्यनिवासभूमेरिति '–तेषां शक्त्यादीनां देवानां योग्या या निवासभूमेर्दूरस्थितत्वकारणादित्यर्थः, ' मनुष्याः '–मानवाः, ' अगम्यतत्क्षेत्रपथाः '–तेषां क्षेत्रस्य मार्गं गन्तुमयोग्याः सन्तीति शेषः, ' परन्तु '–किन्तु, ' इदमीयसत्ता '–एषां शक्त्यादीनां देवानां सम्बन्धिनी सत्ताभावः, ' सिद्धास्तु '–सिद्धिं गता भवन्ति, ' परन्त्वि 'ति शेषः, 'अत्र गतैः'–अत्र स्थितैः, ' मादृशैः '–मादृग्जनैः, सा सत्तेति शेषः, ' नो प्रदर्श्या '–नैव प्रदर्शयितुम् योग्याऽस्तीति शेषः ॥ ७–९ ॥

मूलम्—त्वं चेतसि स्वे परिभावयैवं, लङ्काऽस्ति वा नो ननु वर्तते सा।
त्वया मया सर्वजनैरपीय-माकर्ण्यते केन न मन्यते सा ? ॥ १० ॥

टीका—उदाहरणान्तरमभिधातुकाम आह-त्वमित्यादिना 'त्वं' 'स्वे चेतसि'-स्वकीये मानसे, 'एवं'-वक्ष्यमाणम्, 'परिभावय'-विचारय, 'यदि' ति शेषः, 'लङ्काऽस्ति'-लङ्का विद्यते, 'वा'-अथवा, 'नो'-नैवाऽस्तीतिशेषः, नास्तिक आह-नन्वित्यादि 'नन्वि' ति वितर्के, 'सा'-लङ्का, 'वर्तते'-विद्यते, अत्र हेतुमाह-त्वयेत्यादिना 'त्वया'-भवता, 'मया' 'सर्वजनैरपि'-अन्यैरपि सर्वजनैः, 'इयं'-लङ्का, 'आकर्ण्यते'-श्रूयते, 'तर्हि' ति शेषः, सा लङ्का 'केन'-जनेनेति शेषः, 'न मन्यते'-न स्वीक्रियते, अपि तु त्वया मयाऽन्यैश्च सर्वैरपि जनैर्मन्यत एवेति भावः ॥ १० ॥

मूलम्—एवं तदा चेत्त्वमिह स्थितः सन्, लङ्कां पुरीं तां मम दर्शयाऽत्र।
श्रुत्वेति सोऽभाषत नास्तिकाख्यः, इहस्थितैः कैर्ननु दर्श्यते सा ? ॥ ११ ॥

टीका—अत्राऽऽस्तिक आह-एवमित्यादि 'चेत्'-यदि, 'एवम्'-इत्थम्, अस्तीति शेषः, 'तदा'-तर्हि, 'इह'-अत्र, 'स्थितः सन्'-स्थितिं कुर्वन् सन्, त्वं 'तां'-पूर्वोक्तां, 'लङ्कां पुरीम्'-लङ्कानगरीम्, 'मम'-माम्, 'अत्र'-अस्मिन् स्थले, अत्र स्थितं मामित्यर्थः, 'दर्शय'-दर्शनं प्रापय, 'इति'-एतत्, 'श्रुत्वा'-निशम्य, 'सः'-पूर्वोक्तः, 'नास्तिकाख्यः'-नास्तिकनामकः, 'अभाषत'-अब्रवीत्, 'नन्वि' ति वितर्के, 'इहस्थितैः'-अत्राऽवस्थितैः, 'कैः'-जनैरिति शेषः, 'सा'-लङ्का, 'दर्श्यते'-अत्रस्थिताः के लङ्कां दर्शयितुम् शक्नुवन्ति ? इति भावः ॥ ११ ॥

मूलम्—त्वमित्थमेवाऽऽत्मनि मानयात्र, स्थितैस्तु लङ्का न यथा निरीक्ष्यते ।
न स्वर्गमोक्षादिपदं तथैव, छद्मस्थपुम्भिः परिवीक्ष्यमत्रगैः ॥ १२ ॥

टीका—तत्कथनपूर्वकसिद्धान्तमाह–त्वमित्थमित्यादिना 'इत्थमेव'–अनयैव रीत्या, त्वम् 'आत्मनि मानय'–आत्मविषये विचारय–स्वमन्तव्यविषये विचारणां कुर्वित्यर्थः, फलितमाह–अत्र स्थितैरित्यादिना 'यथा'–येन प्रकारेण, 'अत्र'–अस्मिन् स्थले, 'स्थितैः'–अवस्थानं प्राप्तैर्जनैरिति शेषः, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, लङ्का 'न निरीक्ष्यते'–न दृश्यते, 'तथैव'–तेनैव प्रकारेण, 'अत्रगैः'–अत्रस्थितैः, 'छद्मस्थपुम्भिः'–छद्मस्थदशावस्थितैर्जनैः, केवलज्ञानरहितैरित्यर्थः, 'स्वर्गमोक्षादिपदं'–स्वर्गमोक्षादिकं स्थानं, 'न परिवीक्ष्यं'–न दर्शनीयम् अस्तीति शेषः ॥ १२ ॥

श्रीजैनतत्त्वसारे नास्तिकस्य सकलप्रत्यक्षेऽपि कस्मिंश्चिद्वस्तुनि निजप्रत्यक्षतानिराकरणोक्तिलेशः पञ्चदशोऽधिकारः ॥

अथ षोडशोऽधिकारः ।

स्वर्गापवर्गयोः साधनानि यथाशक्ति सिद्धगुणसेवनेन सिद्धिभवनमेकोनविंशतिश्लोकैराह—

मूलम्—अथाऽऽस्तिकं नास्तिक आह शस्तधी–रस्त्वस्त्विवदं स्वर्गपदादि निश्चितम् ।
परं किलैतस्य यदस्ति साधनं, तद् ब्रूहि मे साम्प्रतमादरेण ॥ १ ॥

टीका—प्रसङ्गेन स्वर्गपदादिसाधनं दर्शयितुमाह–अथेत्यादि 'अथे' ति अनन्तरे, 'नास्तिकः' 'आस्तिकमाह'–आस्तिकम् प्रतिब्रूते, कथम्भूतो नास्तिकः ? 'शस्तधीः'–शस्ता–प्रशस्ता धीः–बुद्धिर्यस्य सः, तथा पूर्वोक्तविषयविज्ञानेन निर्मलबुद्धिकः सन्नित्यर्थः, 'यदि' ति शेषः, 'इदं'–पूर्वोक्तं, 'स्वर्गपदादि'–स्वर्गस्थानादिकं, 'निश्चितम्'–निश्चयेन, 'अस्त्वस्तु'–भवतु, नाम सद्भावनायां द्विरुक्तिः, 'परं'–परन्तु, 'किले'ति निश्चये, 'एतस्य'–स्वर्गपदादेः, 'यत्साधनमस्ति'–सिद्धिकारणं भवति तत्साधनम्, 'मे'–माम् प्रतीत्यर्थः, 'साम्प्रतम्'–अधुना, 'आदरेण'–आदरपूर्वकं, 'ब्रूहि'–कथय ॥ १ ॥

मूलम्—अहो ! त्वया साधु वचः समीरितं, धर्मश्रुतौ ते यदभूदिदं मनः ।
एकाग्रचेतः शृणु तर्हि मद्वचो, यथा तवाऽप्यस्तु सुधीः सुधर्मे ॥ २ ॥

---

१. यथा स्यात्तथा । २. शोभना बुद्धिः ।

टीका—अस्योत्तरमाह–अहो इत्यादिना ' अहो ' इत्यामन्त्रणे, त्वया ' साधु वचः समीहितं '–सुन्दरं वचनं कथितं, सुन्दरं वचो जल्पितमिति भावः, ' यत् '–इदं, ' ते मनः '–तव मानसं, ' धर्मश्रुतौ '–धर्मश्रवणे, ' अभूत् '–बभूव, धर्मश्रवणे समुद्यतं जातमित्यर्थः, ' तर्हि '–तदा, ' एकाग्रचेतः '–एकाग्रचित्तपूर्वकम्, क्रियाविशेषणमेतत्, 'मद्वचः शृणु '–मम कथनमाकर्णय, ' यथा '–येन प्रकारेण, यद्धर्मश्रवणवशादित्यर्थः, ' सुधर्मे '–श्रेष्ठधर्मे, तवाऽपि ' सुधीरस्तु '–शोभना बुद्धिर्भवेत्, येन श्रेष्ठधर्मे तवाऽपि मतिरुद्युक्ता जायेतेति भावः ॥ २ ॥

मूलम्—हिंसामृषादत्तग्रहाङ्गनागमाः, परिग्रहश्चेति समे समन्ततः।
विवर्जनीया यदिमान् विवर्ज्य, सिद्धोऽभवच्छ्रीभगवान् प्रसिद्धः ॥ ३ ॥

टीका—साधनं दर्शयितुमाह–हिंसेत्यादि ' हिंसा '–मनोवाक्कायेन प्राणिद्रोहः, ' मृषा '–असत्यम्, ' अदत्तग्रहः '–अदत्तपदार्थाऽऽदानम्, चौर्यमित्यर्थः, 'अङ्गनागमः'–स्त्रीसेवनम्, ' च '–पुनः, ' परिग्रहः '–पदार्थेषु मूर्च्छा, ' इत्येते ' 'समे'–सर्वे, ' समन्ततः '–सर्वतः, सर्वप्रकारेणेत्यर्थः, ' विवर्जनीयाः '–त्याज्याः, सन्तीति शेषः, ' यत् '–यस्मात् कारणात्, 'इमान्'–हिंसादीन्, ' विवर्ज्य '–त्यक्त्वा, ' प्रसिद्धः '–प्रख्यातः, ' श्रीभगवान् '–उत्तमैश्वर्यादियुक्तः, केवली, ' सिद्धोऽभवत् '–सिद्धिं गतो जातः, सिद्धिं प्राप्त इति भावः ॥ ३ ॥

---

१. आदान ।

मूलम्—ये सत्यशीलक्षमतोपकारिता–सन्तोषनिर्दूषणवीतरागताः ।
निःसङ्गता चाऽप्रतिबद्धचारिता–सज्ज्ञानितानिर्विकृतिप्रसन्नताः ॥ ४ ॥
सद्गोष्ठितानिश्चलताप्रकाशिता–अस्[२]वामिसेवित्वमतीवसत्त्वता ।
निर्भीकताऽल्पाशनताविशिष्टता–संसारसम्बन्धजुगुप्सतादयः ॥ ५ ॥
अत्रे[३]दृशा अल्पगुणा अभूवन्, सिद्धिश्रि[४]तां ते तु भवन्त्यनन्ताः ।
क्षेत्रस्वभावादथ सिद्धभावा–यद्वा शिवात्केवलिवाक्प्रमाणात् ॥ ६ ॥

टीका—सिद्धिप्रभावमाह–य इत्यादिना 'सत्येत्यादि'–सत्यम्, शीलम्, क्षमता–क्षान्तिः, उपकारिता–उपकारकर्तृत्वम्, सन्तोषः, निर्दूषणता–दूषणरहितत्वम्, वीतरागता चेत्यर्थः, 'निःसङ्गता'–सङ्गहानिः, 'च'–पुनः, 'अप्रतिबद्धचारिता'–अनुपरोधेन गमनागमनत्वम्, 'सज्ज्ञानिता'–श्रेष्ठज्ञानयुक्तत्वम्, 'निर्विकृति'–विकाररहितता, 'प्रसन्नता'–प्रसादः, 'सद्गोष्ठिता'–प्रशस्तकथालापकरणशीलत्वम्, 'निश्चलता'–चाञ्चल्यविरहः, 'प्रकाशिता'–यथा-

---

१. पुनस्त्वं पश्य संसारे वसतां योगिनां ये सत्यशीलादयो लौकिका गुणा अल्पशोऽल्पशोऽभूवन् ते सर्वेऽपि गुणा बीजभूताः सन्त एषां योगिनां सिद्धत्वेनावतीर्णानामनन्ता. सिद्धावस्थत्वयोग्या एते भवन्तीति तत्कुतः ? तत्र हेतुनाह । २ संसारसम्बन्धेनाऽयं मम स्वामी अहं चाऽस्य सेवी–सेवकस्तर्हि मया किञ्चित्कर्मकरेण इव भाव्यमिति भावाभावः सम्बन्धमनुभवत्येव । ३. अर्थात् मुमुक्षुषु । ४. सिद्धिं गतानां मुमुक्षूणाम् ।

ऽवस्थितपदार्थराशिप्रकाशनशीलत्वम्, 'अस्वामिसेवित्वं'—स्वामिसेवाराहित्यम्, संसारसम्बन्धेनाऽयं मम स्वामी अहं चाऽस्य सेवक इति भावाभाव इत्यर्थः, 'अतीवसत्त्वता'—अत्यन्तं सतो गुणशालित्वम्, 'निर्भीकता'—भयराहित्यम्, 'अल्पाशनता'—अल्पभोजित्वं, 'विशिष्टता'—वैशिष्ट्यम्, सर्वोत्कृष्टमिति भावः, 'संसारसम्बन्धजुगुप्सतादयः'—सम्बन्धे गर्हणताप्रभृतयः, 'ईदृशाः'—इत्थं प्रकाराः, ये 'अत्र'—मुमुक्षुषु, 'अभूवन्'—स्तोका गुणा आसन्, 'ते'—पूर्वोक्ता गुणाः, 'तु' शब्दो विशेषणार्थः, 'सिद्धिश्रितां'—सिद्धिं गतानां, मुमुक्षूणाम्, 'अनन्ता भवन्ति'—अन्तरहिता जायन्ते, अनन्तसङ्ख्याका भवन्तीत्यर्थः, कुत एतद्भवति ? इत्याह—क्षेत्रेत्यादिना 'क्षेत्रस्वभावादिति'—क्षेत्रस्य तथाविधस्वभाववशादित्यर्थः, 'अथे' ति समुच्चये, पक्षान्तरे वा, 'सिद्धभावात्'—सिद्धिप्राप्तिभावात्, 'यद्वा'—अथवा, 'शिवात्'—शिवप्राप्तिभावात्, कुत एतन्निश्चीयते ? इत्याह—केवलीत्यादिना 'केवलिवाक्प्रमाणात्'—केवलज्ञानिनो वचोरूपप्रमाणेन एतन्निश्चीयत इति शेषः ॥ ४–६ ॥

मूलम्—तत्सेवकेनाऽपि तदीयशील-विधायिना भाव्यमिति प्रतीतम्[1]।
तथा[2] च सिद्धा यदमूर्त्तरूपा, गताशना[3] नीरुषवीतरागाः[4] ॥ ७ ॥

---

१. लोके। २. मया सिद्धाः स्मर्त्तव्या यथाऽहमप्येतादृशोऽपुनर्भावो भवामीति विचिन्त्य सिद्धान्स्वामित्वेन सम्पाद्य स्वमात्मानं च तत्सेवकतया प्रकल्प्य यदि तत्सेवामाचरति तदेदृशेन तेन भाव्यमित्याह। ३. निराहाराः। ४. गतद्वेषाः।

निरञ्जना निष्क्रियका गतस्पृहाः, अस्पर्धका वन्धनसन्धिवर्जिताः ।
सत्केवलज्ञाननिधानवन्धुरा, निरन्तरानन्दसुधारसाश्रिताः ॥ ८ ॥
अतस्तदुत्पन्नगुणानुगामिभि–र्महानुभावैर्मुनिभिर्विधीयते ।
तेषां गुणानामनुयानमात्मा–नुरूपशक्त्या तदवाप्तिकाङ्क्षया ॥ ९ ॥

टीका—सिद्धानामुक्तगुणशालित्वेनाऽन्येषां किं फलम्? इति दर्शयितुमाह–तत्सेवकेत्यादि 'तत्सेवकेनाऽपि'–स्वामिसेवकेनाऽपि जनेनेति शेषः, 'तदीयशीलविधायिना भाव्यम्'–स्वामिसम्बन्धिशीलानुवर्तिना भवितव्यम्, 'इति'–एतत् लोक इति शेषः, 'प्रतीतं'–प्रसिद्धमस्तीति शेषः, तर्हि सिद्धसेवकैः किं कर्त्तव्यम्? इत्याह–तथा चेत्यादिना 'तथा चे' ति–तथाहीत्यर्थः, 'यत्'–यस्मात् कारणात्, 'सिद्धाः'–सिद्धिं गताः, 'अमूर्तरूपाः'–मूर्तिविरहिताः, 'गताशनाः'–निराहाराः 'नीरुषाः'–गतद्वेषाः, 'वीतरागाः'–नीरागाः, 'निरञ्जनाः'–अव्यक्ताः, निर्लेपा इति भावः 'निष्क्रियकाः'–क्रियारहिताः, गतारम्भा इति भावः, 'गतस्पृहाः'–इच्छारहिताः, निःस्पृहा इति भावः, 'अस्पर्धकाः'–स्पर्धारहिताः, 'वन्धन-

१. गतारम्भाः । २. वन्धनं मानसं वाचिकं कायिकं च यथेदं तवाऽहं करिष्य इति त्रिकरणेनाऽपि मुक्ताः सन्धानं सन्धिः अमाननशीलानां भवद्भिरहं मान्य इति सन्धिः संश्लेषः सोऽपि त्रिकरणाश्रितस्तेन मुक्ताः । ३. पूर्णाः । ४. साधुभिः । ५. अनुसरणं । ६ सिद्धत्वं ।

सन्धिवर्जिता इति '–बन्धनं मानसं वाचिकं कायिकं च यथेदं तवाहं करिष्य इति त्रिकरणेनापि मुक्ताः, सन्धानं–सन्धि अमाननशीलानां भवद्भिरहं मान्य इति सन्धिः–संश्लेषः, सोऽपि त्रिकरणाश्रितस्तेन मुक्ता इत्यर्थः, 'सत्केवलेत्यादि'–सत्–श्रेष्ठं केवलज्ञानं तस्य निधानं–निधिस्तेन बन्धुरा–युक्ता तथेति शेषः, 'निरन्तरेत्यादि'–निरन्तरः–शाश्वतो य आनन्दः स एव सुधाऽमृतः तस्य रसः–स्वादस्तेनाञ्चिताः–युक्ताः सन्तीति शेषः, 'अतः'–अस्मात् कारणात्, 'तदुत्पन्नगुणानुगामिभिः'–तेषां–सिद्धानामुत्पन्ना ये गुणाः क्षान्त्यादयस्तेषामनुगामिभिः–अनुयायिभिः, 'महानुभावैः'–महाशयैः, 'मुनिभिः'–साधुभिः, 'तदवाप्तिकाङ्क्षया '–सिद्धत्वप्राप्तीच्छया, 'आत्मानुरूपशक्त्या '–स्वशक्त्यनुसारेण, 'तेषां'–सिद्धानां, 'गुणानां'–क्षान्त्यादीनां, 'अनुयानं विधीयते '–अनुसरणं क्रियते ॥ ७–९ ॥

मूलम्—यद्यप्यमीषां न गुणान्समस्तान्, पूर्णानिमे सेवितुमत्र शक्ताः ।
तथाप्यमी साधव आत्मयोग्यं, श्रित्वा बलं सिद्धगुणान् श्रयन्ति ॥ १० ॥

टीका—सिद्धगुणासेवनशक्तिविषयमाह–यद्यपीत्यादिना 'अत्र '–अस्मिन् संसारे, यद्यपि 'अमीषां '–सिद्धानाम्, 'पूर्णान् '–सम्पूर्णान्, पूर्णतयेति भावः, 'समस्तान् '–सर्वान्, 'गुणान् '–क्षांत्यादीन्, 'सेवितुम् '–भक्तुम्, 'इमे '–मुनयः, 'न शक्ताः '–न समर्थाः सन्तीति शेषः, 'तथापि '–तदपि, 'अमी '–पूर्वोक्ताः, 'साधवः '–मुनयः, 'आत्मयोग्यं बलं श्रित्वा '–स्वानुरूपां शक्तिमाश्रित्य, 'सिद्धगुणान् '–सिद्धानां क्षान्त्यादीन् गुणान्, 'श्रयन्ति '–भजन्ते ॥१०॥

मूलम्—तथाहि सिद्धाः परिभान्त्यमूर्त्ता, अमी तथा देहममत्वमुक्ताः ।
अरूपिणस्ते तदिमे शरीर–संस्कारसत्कारनि[3]कारकाराः ॥ ११ ॥
मुक्ताशनास्तेऽत इमे क्वचित्क्वचि–दाहारवर्जाः पुनरेव ते तु ।
विद्वेषमुक्ता इति सर्वसत्त्व–मैत्रीवहा एत इतीव रुच्याः ॥ १२ ॥
ते वीतरागा इति बन्धुबन्ध–च्युता इमे ते तु निरञ्जनाख्याः ।
इमे ततः प्रीतिविलेपनाद्यैः, शून्याश्च ते निष्क्रियकास्ततोऽमी ॥ १३ ॥
आरम्भसंरम्भविलम्भरिक्ता, गतस्पृहास्तेऽत इमे निराशाः ।
अस्पर्धकास्ते तदमी परैस्तु, वादैर्विवादैरहितास्तथा च ॥ १४ ॥
निर्बन्धनास्तेऽथ सदैवकल्प–स्वेच्छाविहारास्तदिमेऽथ तेऽपि ।
निःसन्धयोऽमी तु परस्परोत्थ–सख्याद्विरक्ता अथ केवलेक्षाः ॥ १५ ॥

---

१. किं किं विचिन्त्य सिद्धगुणाननुसरन्तीत्याह । २. अत्र प्रकरणे इदमदस्एतच्छब्दैः साधव एव सर्वत्र ग्राह्यास्तच्छब्देन तु प्रसिद्धास्ते सिद्धा एवादेयाः किं वारंवारं लिखनेन । ३. निषेधकर्त्तार. । ४. पर्वणि । ५. विशेषेण लम्भः–प्राप्तिस्तया रिक्ताः–शून्याः । ६. मैत्र्यात् ।

ते सन्त्यमी सर्वजगत्स्वभावा–नित्यत्वदर्शाः पुनरेव ते तु ।
आनन्दपूर्णास्तदिमे सदान्तराः, सन्तोषपोषात्समभावभाविनः ॥ १६ ॥

टीका—आत्मबलानुरूपं सिद्धगुणश्रयणामेव दर्शयति–तथाहीत्यादिना 'तथाही'ति–तद्यथेत्यर्थः, यथेति शेषः, 'सिद्धाः'–अमूर्त्ताः–मूर्तिरहिताः, 'परिभान्ति'–प्रकाशन्ते, 'तथा'–तेनैव प्रकारेण, 'अमी'–साधवः, 'देहममत्व–मुक्ताः'–शरीरविषयकमोहशून्या भवन्तीति शेषः, यत इति च शेषः, 'ते'–सिद्धाः, 'अरूपिणः'–रूपरहिता भवन्तीति–शेषः, 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'इमे'–साधवः, 'शरीरसंस्कारसत्कारनिकारकाराः'–शरीरस्य यौ संस्कारसत्कारौ तयोर्निकारः–निषेधस्तत्काराः–तत्कर्तारः, शरीरसम्बन्धिसंस्कारादरनिपेधका इति भावो भवन्तीति शेषः, यत इति च शेषः, 'अतः'–अस्मात् कारणात्, 'इमे'–साधवः, 'क्वचित्क्वचित्'–कुत्राऽपि कुत्राऽपि पर्वणि, सम इति शेषः, 'आहारवर्जाः'–त्यक्ताशना भवन्तीति शेषः, 'पुनरि'ति समुच्चये, 'एवे'ति निश्चये, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, यत इति शेषः, 'ते'–सिद्धाः, 'विद्वेषमुक्ताः'–द्वेषरहिता भवन्तीतिशेषः, 'इति'–अस्मात् कारणात्, 'एते'– साधवः, 'रुच्या'–रुचिवशात्, 'सर्वसत्त्वमैत्रीवहाः'–सर्वप्राणिभिः सह मित्रत्वधर्तारः, 'इतीव'–एतादृशा इव भवन्तीति शेषः, यत इति विशेषः, 'ते'–सिद्धाः, 'वीतरागाः'–रागरहिता भवन्तीतिशेषः, 'इति'–अस्मात् कारणात्, 'इमे'–साधवः, 'बन्धुबन्धच्युता'–बन्धूनां बन्धनेन रहिता भवन्तीति शेषः, यत इति च शेषः, 'ते'–सिद्धाः, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'निर-ञ्जनाख्याः'–निरञ्जननामका भवन्तीति शेषः, 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'इमे'–साधवः, 'प्रीतिविलेपनाद्यैः शून्याः'–

स्नेहाश्रयणादिभिः रहिता भवन्तीतिशेषः, ' च ' शब्दः समुच्चये, यत इतिशेषः, 'ते'-सिद्धाः, ' निष्क्रियकाः '-क्रियारहिता भवन्तीतिशेषः, 'ततः'-तस्मात् कारणात्, 'अमी'-साधवः 'आरम्भसम्रम्भविलम्भरिक्ताः'-आरम्भाणां-कार्याणां संरभस्य-प्रारम्भस्य यो विलम्भो विशेषप्राप्तिस्तेन रिक्ताः-शून्या भवन्तीतिशेषः, यत इति च शेषः, ' ते '-सिद्धाः, ' गतस्पृहाः '-स्पृहारहिता भवन्तीतिशेषः, ' अतः '-अस्मात् कारणात्, ' इमे '-साधवः, ' निराशाः '-आशारहिता भवन्ति, यत इति च शेषः, ' ते '-सिद्धाः, ' अस्पर्धकाः '-स्पर्धारहिता भवन्तीतिशेषः, ' तत् '-तस्मात् कारणात्, ' अमी '-साधवः, ' तु ' शब्दश्वरणपूर्त्तौ, ' परैः '-अन्यैः सह, ' वादैर्विवादैः रहिताः '-वादविवादेन शून्या भवन्तीतिशेषः, 'अथे' त्यनन्तरे, ' तथा चे 'ति समुच्चये, यत इति शेषः, ' ते '-सिद्धाः, ' निर्बंधनाः '-बंधनरहिता भवन्तीतिशेषः, ' तत् '-तस्मात् कारणात्, ' इमे '-साधवः, ' सदैवक्लृप्तस्वेच्छाविहाराः'-सर्वदैव स्वेच्छया विहारकर्त्तारो भवन्तीतिशेषः, ' अथे 'ति समुच्चये, ' अपि ' शब्दश्वरणपूर्त्तौ, 'ते'-सिद्धाः, 'निःसन्धयः'-सन्धिरहिता भवन्तीति शेषः, 'अमी'-साधवः, 'तु' शब्दश्वरणपूर्त्तौ, ' परस्परोत्थसंख्याद्विरक्ताः'-अन्योऽन्यमैत्र्याद्विरतो भवन्तीति शेषः, 'अथे'ति समुच्चये, 'ते'-सिद्धाः, ' केवलो(ली)क्षा सन्ति'-केवलदर्शिनो भवन्ति, ' अमी '-साधवः, ' सर्वजगत्स्वभावानित्यत्वदर्शाः '-सर्वलोकात्मीयसत्ताऽनित्यतादर्शिनो भवन्तीतिशेषः, ' पुनरेवे'ति समुच्चये, ' तु ' शब्दश्वरणपूर्त्तौ, यत इतिशेषः, ' ते '-सिद्धाः, ' आनन्दपूर्णाः '-मोदयुक्ताः, भवन्तीतिशेषः, ' तत् '-तस्मात् कारणात्, ' इमे '-साधवः, ' सदान्तराः'-सच्छ्रेष्ठमान्तरमन्तःकरणभावो येषां ते तथा शुद्धभावा इत्यर्थः, तथेतिशेषः, ' सन्तोषपोषात् '-संतोषप्राप्तेः, ' समभावभाविनः'-समभावेन वर्त्तन्ते, भवन्तीति शेषः ॥ ११-१६ ॥

मूलम्—इत्यादिका ये भगवद्गुणौघाः, शास्त्रेषु दृष्टा अथ तान्प्रकल्प्य।
मुमुक्षवोऽमी अपि शक्तियोग्य-माहृत्य सिद्धन्त्यपि ते क्रमेण ॥ १७ ॥

टीका—फलितमाह—इत्यादिका इत्यादिना 'का'-एतत्प्रभृतयः, 'ये भगवद्गुणौघाः'-भगवद्गुणसमुदायाः, 'शास्त्रेषु', 'दृष्टाः'-प्रसिद्धाः सन्तीतिशेषः, 'अथे'ति निश्चये, 'तान्'-गुणौघान्, 'प्रकल्प्य'-सम्मत्य, अवलम्ब्येतिभावः, 'अमी'-पूर्वोक्ताः, 'मुमुक्षवः'-अनगाराः, अपि 'शक्तियोग्यं'-यथाशक्ति, 'तान्'-गुणौघानितिशेषः, 'आहृत्य'-सत्कृत्य, ये तिष्ठन्तीतिशेषः, 'ते'-साधवोऽपि, 'क्रमेण'-क्रमशः, 'सिद्ध्यन्ति'-सिद्धिं प्राप्नुवन्ति ॥१७॥

मूलम्—येऽन्ये गृहस्थाः खलु ते स्वकीय-शक्त्या तथा देशत एतकान् गुणान्।
दुष्कर्मशान्त्यर्थमनुश्रयन्तः, क्रमेण चैतेऽपि सुखीभवन्ति ॥ १८ ॥

टीका—साधूनतिरिच्याऽन्येषां सिद्धगुणैः किं फलं भवतीत्याह—येऽन्य इत्यादि 'येऽन्ये'-भिन्नाः, साधुभ्यः पृथगित्यर्थः, 'गृहस्थाः'-गृहिणः सन्तीतिशेषः, 'खल्वि' ति निश्चयेन, 'ते'-गृहस्थाः, 'दुष्कर्मशान्त्यर्थं'-निकृष्टानां कर्मणां शान्तये, 'स्वकीयशक्त्या'-आत्मसामर्थ्येन, 'तथे'ति समुच्चये, 'देशतः'-देशद्वारा, एकदेशेनेत्यर्थः, 'एतकान्'-एतान् पूर्वोक्तान्, 'गुणान्' क्षान्त्यादीन्, पदेतिशेषः, 'अनुश्रयन्तः'-आश्रयमाणा भवन्तीतिशेषः, तदेति

१. अनगाराः। २. यथा सिद्धापेक्षया साधुषु देशतो गुणा, साध्वपेक्षया गृहस्थेषु देशतो गुणा, तत एतान् तपःप्रभृतिकान् गुणान्।

च शेषः, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' एते '-गृहस्था अपि, ' सुखीभवन्ति '-सुखिनो जायन्ते ॥ १८ ॥

मूलम्—एवं तु ये केऽपि जनाः[1] स्वशासने[2], सत्तां श्रिताः श्रीपरमेश्वरस्य[3]।
तत्प्रीतये[4] तेऽपि गुणानिमाननु-यान्ति विज्ञाः परब्रह्मलिप्सवः ॥ १९ ॥

टीका—अत्रैव पुष्टिमाह-एवमित्यादिना 'एवं त्वि' ति अनयैव रीत्येत्यर्थः, ' ये केऽपि ' ' जनाः '-मनुष्याः, शाक्य-नैयायिकवैशेषिकादय इत्यर्थः, 'स्वशासने '-स्वमते, ' श्रीपरमेश्वरस्य '-ईश्वरस्य, ' सत्तां '-भावं, ' श्रिताः '-कृतनिश्चयाः सन्तीतिशेषः, परमेश्वरोऽस्तीति तत्सेवनात् मुक्तिरिति ये परमेश्वरस्य सद्भावं भजंत इत्यर्थः, ' तेऽपि विज्ञाः '-विद्वांसः, ' परब्रह्मलिप्सवः '-परब्रह्मप्राप्तीच्छायुक्ताः सन्तः, ' तत्प्रीतये '-परमेश्वरप्रीतये, ' इमान् '-पूर्वोक्तान्, ' गुणान् '-क्षान्त्यादीन्, ' अनुयान्ति '-अनुगच्छन्ति, आश्रयन्तीतिभावः ॥ १९ ॥

गृहस्थैर्द्रव्यधर्मसेवनम् व्यवहारस्याऽपि पालनञ्च अष्टादशभिः श्लोकैराह—

मूलम्—साधो ! गृहस्था अपि देशतोऽमी, श्रयन्त्वमूनेव गुणांश्चिराय।
परन्तु यत्कर्मणि जीवहिंसा, श्रयन्ति चेत्तन्न परं तदेषाम् ॥ २० ॥

टीका—गृहस्थानां सिद्धगुणाश्रयणे प्रश्नयति-साधो इत्यादिना ' हे साधो ! '-हे मुने !, ' अमी '-पूर्वोक्ताः,

---

१. शाक्यनैयायिकवैशेषिकाद्या । २. मते । ३. परमेश्वरोऽस्तीति तत्सेवनात् मुक्तिरिति ये परमेश्वरस्य सद्भावं भजन्ते तेऽपि । ४. परमेश्वरप्रीतये ।

‘ गृहस्थाः ’–गृहिणोऽपि, ‘ देशतः ’–देशद्वारा, एकदेशेनेत्यर्थः, ‘ अमून् ’–पूर्वोक्तान् एव, ‘ गुणान् ’–क्षान्त्यादीन्, ‘ चिराय ’–चिरकालपर्यन्तं, ‘ श्रयन्तु ’–आश्रयन्ताम्, ‘ परन्तु ’–किन्तु, ‘ यत्कर्मणि ’–यस्मिन्कार्ये, ‘जीवहिन्सा ’–जीवानाम् हननम्, भवतीति शेषः, ‘ तत् ’–कर्मेति शेषः, ‘चेत् ’–यदि, गृहस्था इति शेषः, ‘श्रयन्ति’–आश्रयन्ते, तर्हीति शेषः, तज्जीवहिंसायुक्तकर्माश्रयणाम्, ‘ एषां ’–गृहस्थानाम्, ‘ न वरं ’–न श्रेष्ठमस्तीतिभावः ॥ २० ॥

मूलम्—सत्यं गृहस्थाः खलु ते भवन्ति, प्रायो हि ते स्थूलधियोऽतिचिन्ताः[1] ।
आरम्भवन्तश्च परिग्रहादराः, सूक्ष्मेक्षिकालोकन[2]कुण्ठबुद्धयः[3] ॥ २१ ॥
एते विनालम्बन[4]मत्र तत्त्व–त्रये विमुह्यन्ति ततः शुभार्थम् ।
साकार[5]पूजां धृतसाधुवेष–सेवां च दानादि सृजन्तु नित्यम् ॥ २२ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–सत्यमित्यादिना ‘ सत्यमि ’ति–पूर्वोक्तं तव कथनं सत्यमस्तीत्यर्थः परन्त्वितिशेषः, ‘ खल्वि ’-ति निश्चये, ये ‘ गृहस्था भवन्ति ’–गृहिणो वर्तन्ते, ‘ ही ’ति चरणपूर्त्तौ, ‘ प्रायः ’–बहुधा, ‘ स्थूलधियः ’–स्थूलबुद्धियुक्ताः, ‘ अतिचिन्ताः ’–अधिकचिन्ताः, अधिकचिन्तायुक्ताः, ‘ आरम्भवन्तः ’–आरम्भयुक्ताः, ‘ च ’ शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ‘ परिग्रहादराः ’–परिग्रहविषये दत्तादराः, ‘ सूक्ष्मेक्षिकालोकनकुण्ठबुद्धयः ’–सूक्ष्मदृष्ट्याऽवलोकने मन्दधियः, भवन्तीतिशेषः, तथा

१. अधिकचिन्ता । २. दृष्टि । ३. बठर । ४. आलम्बनमाश्रय आधारो वेत्याद्येकार्थाः । ५. साकारजिनप्रतिमायां साधुवेषे प्रतिलेखनाप्रमार्जनादानादिकर्त्तव्ये च द्रव्यधर्मत्रये ।

चेतिशेषः, ‘ एते ’–गृहस्थाः, ‘ अत्र ’–अस्मिन्संसारे, ‘ आलम्बनं विना ’–आधारमन्तरेण, ‘ तत्त्वत्रये ’–त्रिषु तत्त्वेषु, देवगुरुधर्मरूपतत्त्वत्रय इतिभावः, ‘ विमुह्यन्ति ’–मोहं प्राप्नुवन्ति, कर्तव्यविमूढा भवन्तीतिभावः, ‘ तत् ’–तस्मात् कारणात्, ‘ शुभार्थम् ’–कल्याणार्थं, ते गृहस्था इतिशेषः, ‘ साकारपूजां ’–साकृतेरर्चनम्, ‘ धृतसाधुवेषसेवाम् ’–धृतः साधोर्वेषो येन स तथा तस्य सेवाम्–सेवनम्, साधुशुश्रूषामित्यर्थः, ‘ च ’–पुनः, ‘ दानादि ’–दानप्रभृति, ‘ नित्यं ’–सततम्, ‘ सृजन्तु ’–कुर्वन्तु ॥ २१–२२ ॥

मूलम्—उच्चैः कुलाचारयशोऽवनार्थम्, श्रितो गृहस्थैः सकलोऽपि धर्मः ।
तद् द्रव्यतो भावत आत्मसम्पदे, द्विधापि धर्मं गृहिणः श्रयन्त्वमी ॥ २३ ॥

टीका—पुनर्गृहस्थाः किं कुर्युरित्याह–उच्चैरित्यादिना ‘ उच्चैः कुलाचारयशोऽवनार्थम् ’–उच्चवंशव्यवहारकीर्त्तिरक्षणाय, ‘ गृहस्थैः ’–गृहिभिर्जनैः, ‘ सकलोऽपि ’–सर्वोऽपि, ‘ धर्मः ’, ‘ श्रितः ’–आश्रितः, अभूदितिशेषः, ‘ तत् ’–तस्मात् कारणात्, ‘ आत्मसम्पदे ’–आत्मकल्याणाय, ‘ अमी ’–पूर्वोक्ताः, ‘ गृहिणः ’–गृहस्थाः, ‘ द्रव्यतः ’–द्रव्यद्वारा, ‘ भावतः ’–भावद्वारा, ‘ द्विधाऽपि ’–प्रकारद्वयेनाऽपि, धर्मं ‘ श्रयन्तु ’–आश्रयन्ताम् ॥ २३ ॥

मूलम्—प्रायेण सावद्यरता गृहस्थाः, सदैहिकार्थाधिकृतौ प्रसक्ताः ।
कुटुम्बपोषाहृतभूरिसङ्ख्यो–च्चनीचवार्ताः परतन्त्रखिन्नाः ॥ २४ ॥

१. रक्षणाय । २. द्रव्यभावभिन्नः । ३. आजीविकाः । ४. पारवश्येन खेदवन्तः ।

तेऽमी स्वचेतःप्रतिभातपुण्य–कार्योद्यता आत्मरुचिप्रवृत्ताः ।
यदेव ते स्वीयमनोऽभितुष्ट्यै, कुर्वन्ति पुण्यं किल कुर्वतां तत् ॥ २५ ॥

टीका—गृहस्थाचारविषयमेवाह–प्रायेणेत्यादिना 'ते'–पूर्वोक्ताः, 'अमी'–प्रसिद्धाः, 'गृहस्थाः'–गृहिणः, 'प्रायेण'–बहुधा, 'सावद्यरताः'–पापमयव्यापारतत्पराः, 'सदा'–सर्वदा, 'ऐहिकार्थाधिकृतौ'–सांसारिकद्रव्यार्जने, 'प्रसक्ताः'–संलग्नाः, 'कुटुम्बेत्यादि' 'कुटुम्बस्य'–परिवारस्य, 'पोषे'–पोषणे, 'आदृताः'–स्वीकृताः, 'भूरिसङ्ख्या'–प्रभूतसंख्याका, 'उच्चनीचवार्ताः'–उत्तमाऽधमजीविकायैस्तैः तथा, 'परतन्त्रखिन्नाः'–पराधीनतया दुःखिताः, 'स्वचेतः प्रतिभातपुण्यकार्योद्यताः'–स्वमनो मानिते पुण्यकर्मणि तत्पराः, तथेतिशेषः, 'आत्मरुचिप्रवृत्ताः'–स्वरुच्या प्रवृत्तिं कुर्वन्तो भवन्तीतिशेषः, अत इति च शेषः, 'ते'–गृहस्थाः, 'स्वीयमनोऽभितुष्ट्यै'–स्वमानससन्तोषाय, 'यदेव पुण्यं कुर्वन्ति' 'किले'ति निश्चये, 'तत्'–पुण्यं, 'कुर्वताम्'–आचरन्तु ॥ २४–२५ ॥

मूलम्—एते गृहस्था हृदये विदध्यु–रितीव सङ्कल्प्य च द्रव्यधर्मम् ।
द्रव्येण कर्माणि समाचरय्य, यथा मनस्तुष्टिमिदं निधत्ते ॥ २६ ॥
तथैव धर्माण्यपि कानिचिच्चेद्, द्रव्येण कृत्वा स्वमनः प्रसन्नम् ।
कुर्मोऽत्र येनैव गृहस्थसत्को, व्यापार एष द्रविणेन सिध्येत् ॥ २७ ॥

१. मानित । २. पुण्यादि ।

टीका—पूर्वोक्तविषयमेवाह–एत इत्यादिना 'एते'–पूर्वोक्ताः, 'गृहस्थाः'–गृहिणः, 'हृदये'–मानसे, 'इतीव संकल्प्य'–इत्येतद्विचार्यैव, 'द्रव्यधर्मम्'–द्रव्यद्वारा धर्मं, 'विदध्युः'–कुर्युः, 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, यदितिशेषः, 'चेत्'–यदि, 'यथा'–येन प्रकारेण, 'द्रव्येण'–द्रव्यद्वारा, 'कर्माणि'–कार्याणि, समाचरय्य'–कारयित्वा, 'इदं'–प्रसिद्धम्, 'मनो'–मानसं, 'तुष्टिं निधत्ते'–संतोषं दधाति, तर्हीतिशेषः, 'तथैव'–तेनैव प्रकारेण, 'द्रव्येण'–द्रव्यद्वारा, 'कानिचित्'–कान्यपि, धर्माण्यपि, 'कृत्वा'–विधाय, 'स्वमनः'–निजमानसं, 'प्रसन्नं'–हृष्टं, कुर्मः, 'येन'–कारणेनेतिशेषः, 'अत्र'–अस्मिन्संसारे, 'गृहस्थसत्कः'–गृहिसंबन्धी, 'एषः'–प्रसिद्धः, 'व्यापारः'–व्यवहारः, 'द्रविणेनैव'–धनेनैव, 'सिध्येत्'–सिद्धिं याति ॥ २६–२७ ॥

मूलम्—एषां यतो द्रव्यवतां स्वधर्मं, द्रव्येण साद्धुं भवतीह चेतः ।
युक्तं ह्यदो यस्य बलं यदीयं, बलेन तेनैव मतं निजं क्रियात् ॥ २८ ॥

टीका—गृहस्थानामेवं करणे पुष्टिमाह–एषामित्यादिना 'यतः'–यस्मात् कारणात्, 'इह'–अस्मिन् संसारे, 'एषां'–पूर्वोक्तानाम्, 'द्रव्यवताम्'–धनिनाम्, गृहस्थानामितिशेषः, 'द्रव्येण'–द्रव्यद्वारा, 'स्वधर्मं'–निजधर्मं, 'साद्धुं'–साधयितुम्, 'चेतो भवति'–इच्छा जायते, 'ही'ति निश्चये, 'अदः'–एतत्, 'युक्तं'–योग्यम्, अस्तीतिशेषः, यत इति च शेषः, यस्य जनस्येतिशेषः, 'यदीयं'–यत्संबंधि, 'बलं'–शक्तिः, अस्तीतिशेषः 'तेनैव' 'बलेन'–सामर्थ्येन, स इति शेषः, 'निजं मतं'–स्वाभीष्टम् धर्ममितिशेषः, 'क्रियात्'–करोतु ॥ २८ ॥

मूलम्—तद्द्रव्यधर्मं गृहिणां प्रकुर्वतां, संसारकार्यान्मनसोऽस्तु संवृत्तिः ।
यथा तथैते दधतां मनः स्वकं, *सालम्बने पुण्यविधावपेक्षणम् ॥ २९ ॥

टीका—उक्तविषयमेवाह–तद्द्रव्येत्यादिना 'तत्'–पूर्वोक्तं, 'द्रव्यधर्मं'–द्रव्यद्वारा धर्मं, 'प्रकुर्वताम्'–कुर्वाणानाम्, 'गृहिणाम्'–गृहस्थानाम्, 'यथा'–येन प्रकारेण, 'संसारकार्यात्'–लौकिककर्मणः, 'मनसः'–मनस्य, 'संवृतिरस्तु'–निवृतिः स्यात्, 'तथा'–तेन प्रकारेण, 'एते'–गृहस्थाः 'सालम्बने पुण्यविधौ'–आलम्बनसहिते पुण्यकार्ये, साकार-जिनपूजायां साधुवेषसेवायाम् प्रतिलेखनाप्रमार्जनादानादिकर्त्तव्ये च द्रव्यधर्मत्रय इतिभावः, 'अपेक्षणम्'–अपेक्षापूर्वं, 'स्वकं मनः'–निजं मानसं, 'दधताम्'–स्थापयन्तु ॥ २९ ॥

मूलम्—तद्यावतामी निजकेन्द्रियाणि, संवृत्य संसारभवक्रियातः ।
तदेव पूजादिकमाश्रयन्तां, मनः स्थिरं येन मनागपि स्यात् ॥ ३० ॥

टीका—उक्तविषयमेवाह–तद्यावतेत्यादिना 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'अमी'–गृहस्थाः, 'संसारभवक्रियातः'–संसारसंबंधिन्याः क्रियायाः, 'निजकेन्द्रियाणि संवृत्य'–स्वेंद्रियाणि संरुध्य, 'यावता'–यत्परिमाणकेन येन कार्येनेतिशेषः, 'मनागपि'–स्वल्पमपि, 'मनः'–मानसं, 'स्थिरं स्यात्'–अचञ्चलं भवेत्, 'तदेव' 'पूजादिकम्'–अर्चादिकम् कार्यमितिशेषः, 'आश्रयन्ताम्'–कुर्वन्तु ॥ ३० ॥

---

* साकारजिनपूजायां साधुवेषे प्रतिलेखनाप्रमार्जनादिकर्त्तव्ये च द्रव्यधर्मत्रये । १. सम्बन्धि ।

मूलम्—यावत्त्वनाकारपदार्थचिन्ता–कृतौ[1] मनो न क्षममस्ति तद्वत्[2] ।
सुसाध्वसाधुप्रतिपत्तियोग्यो, ज्ञानोदयो यावदहो भवेन्नो ॥ ३१ ॥
तावत्स्वकीयव्यवहाररक्षा, कार्या कुलीनेन सनिश्चयेन ।
सनिश्चयः[3] सव्यवहार एवं, निन्द्यो गृहस्थो न परैर्यतो भवेत् ॥ ३२ ॥

टीका—गृहस्थकर्त्तव्यमेवाह–यावदित्यादिना 'यावत्'–यत् कालपर्यन्तम्, 'अनाकारपदार्थचिन्ताकृतौ'–आकाररहित-पदार्थध्याननिमित्तं, 'मनः'–मानसं, 'क्षमं'–समर्थम्, 'नास्ति'–न भवति, 'तद्वत्'–तथा, 'सुसाध्वसाधुप्रतिप्रत्ति-योग्यः'–अयं सुसाधुरयं चाऽसाधुरिति विनिश्चयाय, अहो 'ज्ञानोदयः'–बोधस्योदयः, 'यावत्'–यत्कालपर्यन्तम्, 'अहो' इति चरणपूर्तावामंत्रणे वा, 'नो भवेत्'–नैव स्यात्, 'तावत्'–तत्कालपर्यन्तम्, 'कुलीनेन'–सुकुलवता गृहस्थेनेतिभावः,

---

१. सिद्धे ध्यानं अर्हमित्याद्यक्षरं वा । २. तथा । ३. कथम्भूतो गृहस्थः सनिश्चयो निश्चयनयध्यायी पुनः कीदृग् सव्यवहारो व्यवहारनयकर्त्ताऽत्राऽयंभावः, गृहस्थेन व्यवहारं कुर्वतापि एवं निश्चयवता स्थेयं मया त्वयं सर्वो व्यवहारः साध्यते परं यदा भावधर्म उदयं समेष्यति ध्रुवं मोक्षो भावी नान्यथा इति निश्चयपरेण भाव्यं तेन व्यवहारावसरे व्यवहारं कुर्वन् निश्चयात्मकेऽवसरे च निश्चयं कुर्वन् कुलीनो गृहस्थो न निन्द्यो भवेत् अत्राऽयं भाव. । उत्तमेन कुलीनगृहस्थेन येन पुण्यकर्मणा पुण्यवर्ज्जनेषु पूर्वजैः यशोऽर्जितं तद्विपरीतं कर्म कृत्वाऽयशो नाऽर्थनीयमिति व्यवहाररक्षा व्यवहारिणा कार्या गृहस्थेन सता मुनिधर्मं सर्वोत्कृष्टं कुर्वाणः कदापि न निन्द्यो भवेदिति तत्करणे पूर्वजादधिकीभवेदिति सर्वं विचार्यम् ।

'स्वकीयव्यवहाररक्षा कार्या'–आत्मीयाचाररक्षा कर्त्तव्या, कथम्भूतेन कुलीनेन ? 'सनिश्चयेन'–निश्चयरता, निश्चयनयध्यायिनेतिभावः, अत्र हेतुमाह–सनिश्चय इत्यादिना ' यतः '–यस्मात् कारणात्, 'एवम्'–इत्थम्, अनया रीत्येतिभावः, ' गृहस्थः '–गृही, ' परैः '–अन्यैः, जनैरितिशेषः, ' निन्द्यो न भवेत् '–निंदनीयो न जायते, कथंभूतो गृहस्थः ? ' सनिश्चयः '–निश्चयवान्, निश्चयनयध्यायीतिभावः, पुनः कथंभूतः ? ' सव्यवहारः '–व्यवहारेण सहितः, व्यवहारनयकर्तेतिभावः ॥३१–३२॥

मूलम्—स्थिरं यदा चित्तमनाकृतावपि, तदा तु सिद्धस्मरणं विधेयम् ।
तत्सेधने साधुगृहस्थमुख्यै–रात्मावबोधे परियत्न एष्यः ॥ ३३ ॥

टीका—सति चित्तस्थैर्ये तेन किं कर्त्तव्यमित्याह–स्थिरमित्यादिना ' यदा '–यस्मिन् काले, ' अनाकृतावपि '–आकाररहितेऽपि '–पदार्थे इतिशेषः, 'चित्तं'–मनः, ' स्थिरम् '–अचञ्चलम्, भवेदितिशेषः, ' तदा '–तस्मिन् काले, ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' सिद्धस्मरणं '–सिद्धानां स्मरणं–ध्यानं, ' विधेयम् '–कर्त्तव्यम्, सिद्धस्मरणाय किं कर्तव्यमित्याह–तत्सेधनेत्यादिना ' तत्सेधने '–तत्साधनाय, सिद्धस्मरणसिद्धये इतिभावः, ' साधुगृहस्थमुख्यैः '–साधुगृहस्थादिभिः, ' आत्मावबोधे '–आत्मज्ञानाय, ' परियत्नः '–पुरुषकारः, ' एष्यः '–अभिलषणीयः, कर्त्तव्य इतिभावः ॥ ३३ ॥

मूलम्—पौवों विधियोंऽखिलद्रव्यभाव–भिन्नां स हि द्वारधरोपलब्ध्यै ।
निर्वाणधाम्नो वरयानवत्स्या–त्तस्य प्रवेशोऽयमिहाऽऽत्मबोधः ॥ ३४ ॥

१. भू ।

तदङ्गने पादविहारवद्यः, शिवालयावस्थितिकृन्महात्मनां ।
तेनात्मबोधः परमोऽस्ति धर्मो, यत्सेधनान्निर्वृतिरेव निश्चिता ॥ ३५ ॥

टीका—आत्मावबोधप्रशस्तिमाह–पौर्व इत्यादिना 'योऽखिलद्रव्यभावभिन्नः'–सर्वद्रव्यभावभेदेन भेदं प्राप्तः, 'पौर्वः'–पूर्वोक्तः, 'विधिः'–विधानमस्तीतिशेषः, इति निश्चयेन, 'सः'–पूर्वोक्तो विधिः, 'निर्वाणधाम्नः'–मुक्तिसौधस्य, 'द्वारधरोपलब्ध्यै'–प्रांगणभूमिप्राप्तये, 'वरयानवत् स्यात्'–श्रेष्ठवाहनतुल्योऽस्ति, तथेतिशेषः, 'इह'–अस्मिन्संसारे, 'तस्य प्रवेशे'–मुक्तिसौधप्रवेशाय, 'अयं'–पूर्वोक्तः, 'आत्मबोधः'–आत्मज्ञानं, 'तदंगने'–मुक्तिसौधाङ्गने, 'पादविहारवत्'–चरणविहरणतुल्यः, अस्तीतिशेषः, 'यः'–आत्मबोधः, महात्मनाम् जनानामितिशेषः, 'शिवालयावस्थितिकृत्'–मुक्तावस्थानकारकः, अस्तीतिशेषः, 'तेन'–कारणेनेतिशेषः, 'आत्मबोधः'–आत्मज्ञानं, 'परमो धर्मोऽस्ति'–उत्तमो धर्मो भवति, 'यत्सेधनात्'–यस्याऽऽत्मबोधस्य साधनात्, 'निर्वृतिः'–मुक्तिः, 'निश्चितैव'–निश्चययुक्तैव, भवतीतिशेषः, यस्याऽऽत्मबोधस्य साधनात् नूनं मुक्तिप्राप्तिर्भवतीतिभावः ॥ ३४–३५ ॥

मूलम्—सन्त्यत्र यद्बोधनदर्शनाख्य–चारित्रमुख्याः सकला गुणौघाः ।
स आत्मबोधो जयति प्रकृष्टं, ज्ञानादिशुद्धं यदिहास्त्यनन्तम् ॥ ३६ ॥

टीका—आत्मबोधस्य परमधर्मत्वे हेतुमाह–सन्त्येत्यादिना 'यत्'–यस्मात् कारणात्, 'अत्र'–आत्मबोधे, 'बोधनदर्श-

१. आत्मावबोधे । २. ज्ञान ।

नाख्यचारित्रमुख्याः '–ज्ञान–दर्शन–चारित्रादिनामकाः, 'सकलाः'–सर्वे, 'गुणौघाः सन्ति'–गुणसमूहा वर्तन्ते, 'स'–इत्थंभूतः, 'आत्मबोधः '–आत्मज्ञानं, 'प्रकृष्टं '–प्रकृष्टरीत्या, क्रियाविशेषणमेतत्, 'जयति '–जययुक्तो भवति, 'यत् '–यस्मात् कारणात्, 'इह '–आत्मबोधे, 'ज्ञानादिशुद्धं'–ज्ञानादीनां शुद्धिः, भावे क्तप्रत्ययः, 'अनंतमस्ति '–अन्तरहितं वर्त्तते ॥३६॥

मूलम्—तच्छोधनेऽनन्तचतुष्टयाप्ति–र्यदीयपारप्रतिप्रतिकार्ये ।

ज्ञानं न कस्याऽपि सदा प्रभु स्या–त्सर्वात्मनाकाशदृशीव शाश्वतम् ॥ ३७ ॥

टीका—ज्ञानादिशुद्धौ किं भवतीत्याह–तच्छोधन इत्यादिना 'तच्छोधने'–ज्ञानादिशुद्धौ सत्याम्, 'अनन्तचतुष्टयाप्तिः'–अनन्तचतुष्टस्य प्राप्तिः, अनन्तज्ञानाऽनन्तदर्शनाऽनन्तवीर्याऽनन्तसुखरूपाऽनन्तचतुष्टयस्य लब्धिरितिभावः,भवतीतिशेषः,'यदीयपारप्रतिपत्तिकार्ये'–यत्सम्बन्धिपारगमनकार्ये, 'कस्याऽपि'–कस्यचिज्जनस्येतिशेषः, 'ज्ञानं'–बोधः, 'आकाशदृशीव'–आकाशदर्शन इव, 'शाश्वतं'–निरन्तरम्, 'सर्वात्मना'–सर्वस्वरूपेण, सर्वथेतिभावः, 'सदा'–सर्वदा, 'प्रभु'–समर्थं, 'न स्यात्'–न भवति, यथाकाशदर्शने कस्याऽपि ज्ञानं समर्थं न भवति तथैवाऽनन्तचतुष्टयपारदर्शनेऽपि कस्याऽपि ज्ञानं समर्थं न भवतीतिभावः ॥३७॥

श्रीजैनतत्त्वसारे नास्तिकस्य द्रव्यभावभेदद्विविधधर्मदर्शनपूर्वक द्रव्यधर्मादपि परम्परया भावधर्मलाभोक्तिलेशः षोडशोऽधिकारः ।

---

१. आत्मावबोधस्य सम्यग् निर्मलतायां । २. आकाशदर्शने इव ।

अथ सप्तदशोऽधिकारः ।



परमेश्वरप्रतिमापूजनेन पुण्यसम्भव इति त्रयोविंशतिश्लोकैराह—

मूलम्—अथेत्यसौ नास्तिक आख्यदास्तिकं, यदुच्यते भोः प्रतिमार्चनाद्भवेत् ।
पुण्यं न तत्सम्भवतीषदार्या, अजीवतः का फलसिद्धिरस्ति ? ॥ १ ॥

टीका—साकारदेवार्चनविषये नास्तिकः प्रश्नयति–अथेत्यादिना 'अथे'त्यनन्तरे, 'असौ'–पूर्वोक्तो नास्तिकः, 'आस्तिकमाख्यत्'–आस्तिकं प्रत्यकथयत्, यत् 'भोः'–इत्यामन्त्रणे, 'हे आर्याः!'–हे श्रेष्ठाः!, 'प्रतिमार्चनात्'–प्रतिमायाः पूजनात्, 'पुण्यं भवेत्'–धर्मः सञ्जायते, 'इति'–एतत्, 'उच्यते'–कथ्यते, 'तत् ईषन्न सम्भवति'–तत्कथनस्य स्वल्पमपि सम्भवो नाऽस्ति, प्रतिमाया अर्चनात् कथमपि पुण्यस्य संभवो न भवितुमर्हतीतिभावः, अत्र हेतुमाह–अजीवत इत्यादिना 'अजीवतः'–अजीवात्, अचेतनादित्यर्थः, 'का फलसिद्धिरस्ति'–कस्य फलस्य सिद्धिः सञ्जायते ? ॥ १ ॥

[इतः पूर्वमवशिष्टपदेन साकम् इतिशेषः, इति पादद्वयमपि संलिखितं परन्त्वित आरभ्य ग्रन्थविस्तृतभीत्या इतिशेषः, इति पदद्वयमलिखित्वाऽवशिष्टपदमेव कोष्टके संलेखिष्यत इति विज्ञेयम् ॥]

मूलम्—नैवं स्वचित्ते परिचिन्तनीय-मजीवसेवाकरणाद्भवेत् किम् ? ।
यद्याहशाकारनिरीक्षणं स्या-त्प्रायो मनस्तद्गतधर्मचिन्ति ॥ २ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह-नैवमित्यादिना 'एवम्'-इत्थं, 'स्वचित्ते'-निजमानसे, 'न परिचिन्तनीयम्'-न विचारणीयम्, यतः 'अजीवसेवाकरणात्'-अचेतनसेवनेन, किम्फलम् 'भवेत्'-स्यात्, अत्र हेतुमाह-यदित्यादिना 'यत्'-यस्मात् कारणात्, 'यादृशाकारनिरीक्षणं स्यात्'-यादृश आकृतेरवलोकनं भवेत्, 'प्रायः'-बहुधा, 'मनः'-मानसं, 'तद्गतधर्मचिन्ति'-तदाकारस्थितधर्माणाम् चिन्तकम् भवति ॥ २ ॥

मूलम्—यथा हि सम्पूर्णशुभाङ्गपुत्रिका, दृष्टा सती ताहशमोहहेतुः ।
कामासनस्थापनतश्च काम-केलीविकारान्कलयन्ति कामिनः ॥ ३ ॥*
योगासनालोकनतो हि योगिनां, योगासनाभ्यासमतिः परिष्यात्[1] ।
भूगोलतस्तद्गतवस्तुबुद्धिः, स्याल्लोकनालेरिह लोकसंस्थितिः ॥ ४ ॥

टीका—दृष्टान्तेनैतद्विषयम् दृढयति-यथा हीत्यादीना 'यथा'-येन प्रकारेण, 'ही'ति निश्चये, 'सम्पूर्णशुभाङ्गपुत्रिका'-परिपूर्णमनोहराऽवयवाऽन्वितपुत्तलिका ('पुतली' इति भाषायाम्) 'दृष्टा सती'-वीक्षिता सती, 'ताहशमोहहेतुः'-तथाप्रकाररागकारणम् भवति, यथा अन्यूनाङ्गोपाङ्गा सौन्दर्यशालिनी च युवतिः साक्षात् प्रेक्षिता सती रागमुद्दीपयति,

* अस्य तृतीयश्लोकस्य टीका लिखितहस्तादर्शे नोपलभ्यते, अतः साऽत्र मया संदभ्य निवेशिता-संपादकः । १. स्यात् ।

तथैव मनोहरा पुत्तलिकाऽपि तादृग्मोहकारणं भवति, स्त्रीविषयं च रागं स्मारयतीत्यर्थः । पुनर्निदर्शनेन कथयति–कामासनेत्यादिना 'च'–पुनः, 'कामिनः'–कामक्रीडासक्ताः प्राणिनः, 'कामासनस्थापनतः'–कामोत्पादकासनचित्रात्, 'कामकेलिविकारान्'–कामक्रीडाविकृतीः, 'कलयन्ति'–अनुभवन्ति । उदाहरणान्तरमभिधातुकाम आह–योगासनेत्यादि 'ही'–ति निश्चये, चरणपूर्त्तौ वा, 'योगासनालोकनतः'–योगसम्बन्ध्यासनदर्शनेन, 'योगिनाम्'–योगाभ्यासकर्तॄणां, 'योगासनाभ्यासमतिः परिष्यात्'–योगसम्बन्ध्यासनस्याऽभ्यासे बुद्धिर्भवेत्, उदाहरणान्तरमाह–भूगोलेत्यादिना 'भूगोलतः'–भूगोलविद्यातः, 'तद्गतवस्तुबुद्धिः स्यात्'–भूगोलावस्थितपदार्थज्ञानं भवति, तथा 'इह'–अस्मिन्संसारे, 'लोकनालेः'–लोकनालिकाद्वारा, 'लोकसंस्थितिः'–लोकस्य संस्थानम्, लोकरचनेति यावत् ॥ ३–४ ॥

मूलम्—कूर्माहिकालानलकोटचक्रै–स्तदाश्रितज्ञप्तिरिह स्थितानाम् ।
शास्त्रीयवर्णन्यसनात्समग्र–शास्त्रावबोधस्तदभीक्षकाणाम्[1] ॥ ५ ॥

टीका—उदाहरणान्तरमाह–कूर्मेत्यादिना 'कूर्माहिकालानलकोटचक्रैरि'ति–कूर्मचक्रेण सूर्यकालानलचक्रेण चन्द्रकालानलचक्रेण कोटचक्रेण वेत्यर्थः, 'इह'–अस्मिन्संसारे, 'स्थितानाम्'–वर्त्तमानानाम् जनानाम्, 'तदाश्रितज्ञप्तिः'–कूर्माद्याश्रितपदार्थज्ञानम् भवति, उदाहरणान्तरमाह–शास्त्रीयेत्यादिना 'शास्त्रीयवर्णन्यसनात्'–शास्त्रसम्बन्ध्यक्षरस्थापनया, 'तदभीक्षकाणाम्'–शास्त्राभिदर्शकानाम्, 'समग्रशास्त्रावबोधः'–सकलशास्त्रज्ञानम् भवति ॥ ५ ॥

---

१. कूर्मचक्रं अहिचक्रं अहिवलयाख्यं वा चक्रं सूर्यकालानलचक्रं चन्द्रकालानलचक्रं कोटचक्रं चेति वाच्यम् । २. तदभिदर्शकानाम् ।

मूलम्—नन्दीश्वरद्वीपपुटात्तथा च, लङ्कापुटात्तद्गतवस्तुचिन्ता ।
एवं निजेशप्रतिमाऽपि दृष्टा, तत्तद्गुणानां स्मृतिकारणं स्यात् ॥ ६ ॥

टीका—उदाहरणान्तरमाह–नन्दीश्वरेत्यादिना ‘नन्दीश्वरद्वीपपुरात्’–नन्दीश्वरद्वीपस्य प्रतिचित्रेण, ‘तथा चे’ति समुच्चये, ‘लङ्कापुरात्’–लङ्कायाः प्रतिचित्रेण, ‘तद्गतवस्तुचिन्ता’–नन्दीश्वरद्वीपस्य पदार्थचिन्तनं, लङ्कास्थपदार्थचिन्तनम् च भवति, दार्ष्टान्तघटनपूर्वकं फलितमाह–एवमित्यादिना ‘एवम्’–अनया रीत्या, ‘निजेशप्रतिमाऽपि’–स्वस्वामिनो मूर्तिरपि, ‘दृष्टा’–अवलोकिता सती, ‘तत्तद्गुणानाम्’–तत्सम्बन्धिगुणानां, ‘स्मृतिकारणं स्यात्’–स्मरणहेतुर्भवति ॥ ६ ॥

मूलम्—यदा तु साक्षान्न हि वस्तु दृश्यं, तत्स्थापना सम्प्रति लोकसिद्धा ।
तथा च पत्यौ परदेशसंस्थे, काचित्सती पश्यति यत्तदर्चाम्[1] ॥ ७ ॥

टीका—अत्रैव पुष्टिमाह–यदा त्वित्यादिना ‘तु’ शब्दो विशेषणार्थः, ‘ही’ति निश्चये, ‘यदा’–यस्मिन् काले, ‘वस्तु’ ‘साक्षात् दृश्यं’–प्रत्यक्षेण द्रष्टुं योग्यं न भवति, तदा ‘तत्स्थापना’–अदृश्यवस्तुस्थापना भवति, या तु ‘संप्रति’–अधुनाऽपि, ‘लोकसिद्धा’–संसारे प्रसिद्धाऽस्ति, अस्योदाहरणमाह–‘तथा चे’ति तथाहीत्यर्थः, ‘पत्यौ’–भर्त्तरि, ‘परदेशसंस्थे’–परदेशे वर्त्तमाने सति, ‘काचित्’–काऽपि, ‘सती’–पतिव्रता स्त्री, ‘यदि’ति निश्चयेन, अन्यथानामनेकार्थत्वात्, ‘तदर्चाम्’–पतिप्रतिमां, ‘पश्यति’–अवलोकयति ॥ ७ ॥

१. तस्य पत्युः अर्चां प्रतिमाम् ।

मूलम्—यदन्यशास्त्रेऽपि निशम्यतेऽदः, श्रीरामचन्द्रे परदेशसंस्थे ।
तत्पादुकां सोऽपि च रामवत्तदा–ऽभ्यपूजयत्श्रीभरतो नरेश्वरः ॥ ८ ॥
सीताऽपि रामाङ्गुलिमुद्रिकां ता–मालिङ्ग्य रामाऽऽप्तिसुखं न्यमंस्त ।
रामोऽपि सीताश्रितमौलिरत्न–मासाद्य सीताप्तिरतिं व्यजानात् ॥ ९ ॥ ॥

टीका—प्रतिमास्थापन उदाहरणान्तरमाह–यदन्येत्यादिना ' यदि 'ति निश्चयेन, अव्ययानामनेकार्थत्वात्, ' अन्यशास्त्रेऽपि '–अन्यस्मिन्नपि शास्त्रे, रामायणादावितिभावः, ' अदः '–वक्ष्यमाणं वृत्तं, ' निशम्यते '–श्रूयते, यत् श्रीरामचन्द्रे ' परदेशसंस्थे '–परदेशे विद्यमाने सति, ' सः '–प्रसिद्धः, ' नरेश्वरः '–भूपः–श्रीभरतः, ' तदा '–तस्मिन्काले, ' तत्पादुकां '–रामस्य पादुकां, ' रामवत् '–रामतुल्यम्, ' अभ्यपूजयत् '–अर्चयत्, ' अपि ' शब्दश्चशब्दश्चरणपूर्त्तौ, तथा ' अपि '–शब्दः समुच्चये, ' सीता '–रामभार्या, ' तां '–विवक्षितां, ' रामाङ्गुलिमुद्रिकां '–रामाङ्गुल्याभरणम्, ' आलिङ्ग्य '–संश्लिष्य, 'रामाऽऽप्तिसुखं न्यमंस्त '–रामप्राप्तिसौख्यममन्यत, तथा 'अपि' शब्दः समुच्चये, रामः ' सीताश्रितमौलिरत्नमासाद्य '–सीता–सम्बन्धिशिरोभूषणरत्नं प्राप्य, ' सीताप्तिरतिं व्यजानात् '–सीताप्राप्तिसौख्यमज्ञासीत् ॥ ८–९ ॥

मूलम्—नात्राऽस्ति कश्चित्तु तयोः शरीरा–कारस्तथापीह तयोस्तथाविधम् ।
सुखं समायाद्यदजीवतोऽपि, तर्हीश्वरार्चाऽपि सुखाय किं न ? ॥ १० ॥

---

१. रामायणादावपि । २. स्वामिमूर्तिरपि ।

टीका—उक्तोदाहरणविषयस्पष्टनपूर्वकं फलितमाह–नाऽत्रेत्यादिना 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'अत्र'–उक्तोदाहरणविषये, 'तयोः'–सीतारामयोः, यद्यपि 'कश्चित्'–कोऽपि, 'शरीराकारः'–देहाकृतिः, 'नास्ति'–न विद्यते, तथापि 'इह'–अस्मिन् संसारे, 'यत्'–यस्मात् कारणात्, 'अजीवतोऽपि'–अचेतनपदार्थादपि, रामाङ्गुलिमुद्रिकाद्यचेतनपदार्थादपीत्यर्थः, 'तयोः'–सीतारामयोः, 'तथाविधं'–तथाप्रकारम्, 'सुखं'–सौख्यं, 'समायात्'–आगच्छत्, प्राप्तमित्यर्थः, 'तर्हि'–तदा, 'ईश्वरार्चाऽपि'–स्वामिमूर्तिरपि, किं 'सुखाय'–सौख्याय, न भवति, उक्तप्रकारेणेश्वरप्रतिमाऽपि सुखायैव भवति इतिभावः ॥ १० ॥

मूलम्—इत्थं चरित्रेऽस्ति च पाण्डवानां, यद्द्रोणसूरिप्रतिमापुरस्तात् ।
भिल्लैकलव्यस्य किरीटिवद्धनु–र्विद्या सुसिद्धेति जगत्प्रतीतम् ॥ ११ ॥

टीका—प्रतिमामहत्त्वमेवाह–इत्थमित्यादिना 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'पाण्डवानाम्'–पाण्डुसुतानाम्, युद्धिष्ठिरादीनाम् इतिभावः, 'चरित्रे'–वृत्तान्ते, 'इत्थमस्ति'–एतद्वृत्तं विद्यते, 'यद्द्रोणसूरिप्रतिमापुरस्तात्'–द्रोणाचार्यमूर्तेः सकाशात्, 'भिल्लैकलव्यस्य'–भिल्लेषु प्रधानस्य लव्यनामकस्य, 'किरीटिवत्'–अर्जुनतुल्यं, 'धनुर्विद्या सिद्धा'–धनुषो विज्ञानम् सिद्धिमुपगतम्, इत्येतत्वृत्तं 'जगत्प्रतीतम्'–संसारे प्रसिद्धमस्ति ॥ ११ ॥

---

१. नाम्नः । २. अर्जुन ।

मूलम्—तथा च चञ्चादिकवस्त्वजीवं, क्षेत्रादिरक्षाकरणे समर्थम् ।
छायाऽप्यशोकस्य च शोकहर्त्री, कलेस्तु सा[1] स्यात्कलहाय नृणाम् ॥ १२ ॥

टीका—उक्तविषयमेवोदाहरणान्तरेणाह–तथा चेत्यादिना 'तथा चे'–ति समुच्चये, 'अजीवं'–जीवरहितम्, 'चञ्चादिकवस्तु'–क्षेत्रस्थितपुरुषाकृतिप्रतिमादिकं वस्तु, 'क्षेत्रादिरक्षाकरणे'–क्षेत्रादिरक्षणविधाने, 'समर्थं'–शक्तम् भवति, उदाहरणान्तरमाह–छायेत्यादिना 'अपि' शब्दश्च समुच्चये, 'अशोकस्य'–अशोकनामकवृक्षस्य, छाया 'शोकहर्त्री'–शोकनाशिका भवति, तथा तु शब्दो विशेषणार्थः, 'कलेः'–कलिवृक्षस्य, बिभीतकवृक्षस्येतिभावः, 'सा'–छाया, 'नृणाम्'–मनुष्याणाम्, 'कलहाय स्यात्'–विद्वेषाय भवति ॥ १२ ॥

मूलम्—अजारजोमुख्यमथाऽप्यजीवं, पुण्यादिहान्यै भवतीति लोकः ।
अस्पृश्यकच्छायमजीवमेवं[2], यल्लङ्घमानस्य निहन्ति पुण्यम् ॥ १३ ॥

टीका—उक्तविषय उदाहरणान्तरमाह–अजेत्यादिना 'अथे' ति समुच्चये, 'अजीवमपि'–जीवरहितमपि, 'अजारजोमुख्यं'–छागीरेणुप्रभृतिवस्तु, 'पुण्यादिहान्यै भवति'–धर्मादिनाशाय सञ्जायते, 'इति'–एतद्वृत्तं, 'लोकः'–संसारो वक्ति, उदाहरणान्तरमाह–अस्पृश्येत्यादिना 'एवम्'–उक्तरीत्या, 'अस्पृश्यकच्छायं'–चण्डालादीनां छाया, 'अजीवं'–जीवरहितमस्ति 'यत्'–अस्पृश्यकच्छायं, 'लङ्घमानस्य'–व्यतिक्रामतः जनस्य, 'पुण्यं'–धर्मं, 'निहन्ति'–नाशयति ॥ १३ ॥

---

१ छाया । २. चण्डालादिसत्का छाया ।

मूलम्—गुर्वीवधूच्छायमपीह भोगिनः, प्रोल्लङ्घमानस्य निहन्ति पौरुषम् ।
महेश्वरच्छायमथाऽपि[1] तस्य[2], रुषे व्यतिक्राम्यत[3] एव पुन्सः ॥ १४ ॥

टीका—उदाहरणान्तरमाह–गुर्वीत्यादिना ' अपि ' शब्दः समुच्चये, ' इह '–अस्मिन् संसारे, ' गुर्वीवधूच्छायं '–गर्भिणीनां स्त्रीणां छाया, ' प्रोल्लङ्घमानस्य '–व्यतिक्राम्यतः, ' भोगिनः '–भोगकर्तुः पुरुषस्य, यद्वा भोगिन इति सर्पस्येत्यर्थः, ' पौरुषं '–पुरुषार्थं, ' निहन्ति '–नाशयति, उदाहरणान्तरमाह–महेश्वरेत्यादिना ' अथाऽपी 'ति समुच्चये, ' महेश्वरच्छायं '–शिवस्य छाया, 'व्यतिक्राम्यतः' उल्लङ्घमानस्य, 'पुन्सः'–पुरुषस्य, सम्बन्धे 'तस्य'–महेश्वरस्य, ' रुपे '–रोषाय एवेति ॥१४॥

मूलम्—एवं पदार्था बहवो[4]ऽप्यजीवाः, सुखस्य दुःखस्य च हेतवः स्युः ।
देवाधिदेवप्रतिमाऽप्यजीवा, सती न किं सा सुखहेतुरत्र ॥ १५ ॥

टीका—फलितमाह–एवमित्यादिना ' एवम् '–अनया रीत्या, ' बहवोऽपि '–प्रभूता अपि, ' अजीवाः '–जीवरहिताः पदार्थाः, ' सुखस्य '–सौख्यस्य, ' च '–पुनः, ' दुःखस्य '–कलेशस्य, ' हेतवः स्युः '–कारणानि भवन्ति, तर्हि ' अजीवाऽपि सती '–जीवरहिताऽपि भवन्ती, ' देवाधिदेवप्रतिमा '–देवेश्वरप्रतिमा, परमेश्वरमूर्तिरित्यर्थः, ' सा '–देवाधिदेवप्रतिमा, ' अत्र '–अस्मिन्संसारे, किं ' सुखहेतुः '–सौख्यकारणं, न भवितुं शक्नोति, उक्तरीत्याऽजीवाऽपि देवाधिदेवप्रतिमा सुख-

१. महेश्वरो महानायकः सार्वभौमादिस्तस्य छाया तत्तथा विभाषा सेनासुराछायाशालानिशानामिति क्लीवता एवमग्रेऽपि वाच्यम् । २. महेश्वरस्य । ३. उल्लङ्घमानस्य । ४. स्वर्णरुप्यरत्नवस्त्रकम्बलसिद्धान्नपानौषधादिपदार्था अनेके सन्ति ।

कारणं भवितुं शक्नोतीतिभावः ॥ १५ ॥

मूलम्—वरं निजेशप्रतिमाऽपि तर्हि, दृष्टा सती भक्ततमांसि हन्तु ।
परन्तु याऽस्याः क्रियते सपर्या, साऽजीवतः कस्य च किम्फला स्यात् ? ॥ १६ ॥

टीका—प्रतिमापूजनविषये प्रश्नयति वरमित्यादिना ' तर्हि तदा वरमि'ति–एतच्छ्रेष्ठमस्तीत्यर्थः, यत् ' निजेशप्रतिमाऽपि '–स्वामिमूर्तिरपि, 'दृष्टा सती'–अवलोकिता सती, 'भक्ततमांसि हन्तु'–भजनकर्तृजनान्धकारं नाशयतु, 'परन्तु '–किन्तु, ' अस्याः '–निजेशप्रतिमायाः, या ' सपर्या विधीयते '–अर्चा क्रियते, ' सा '–सपर्या, ' अजीवतः '–अजीवभावात्, अजीवहेतोरित्यर्थः, ' कस्य '–पुरुषस्य, 'च'–पुनः, ' किम्फला स्यात् ? '–किम्फला भवति ? फलदात्री भवतीत्यर्थः ॥१६॥

मूलम्—नैवं त्वजीवाऽपि सतीश्वरार्चा[2], समर्चिता पुण्यफलाय नूनम् ।
त्वं विद्धि चित्ते प्रतिमा यदीया, या या सका स्वोत्थगुणप्रदा स्यात् ॥ १७ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–नैवमित्यादिना ' नैवमिति '–एतन्न वक्तव्यमित्यर्थः, ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, यतः ' अजीवाऽपि '–जीवरहिताऽपि, ' ईश्वरार्चा '–देवप्रतिमा, ' समर्चिता सती '–पूजिता भवन्ती, ' नूनं '–निश्चयेन, ' पुण्यफलाय '–पुण्यरूपफलार्थम् भवति, अत्रैव पुष्टिमाह–त्वमित्यादिना त्वं ' चित्ते '–मानसे, ' विद्धि '–जानीहि, यत् ' यदीया '–यत्सम्बन्धिनी, या या ' प्रतिमा '–मूर्तिः, भवति, ' सका '–सा सा, ' स्वोत्थगुणप्रदा स्यात् '–स्वो-

१. अजीवत्वहेतोः । २. देवप्रतिमा ।

त्पन्नगुणदात्री भवति ॥ १७ ॥

मूलम्—यथा ग्रहाणां प्रतिमा अजीवाः, सत्योऽपि तत्पूजनतस्तदीयम् ।
गुणं ददत्येव तथा सतीनां, क्षेत्राधिपानामथ पूर्वजानाम् ॥ १८ ॥
विधेर्मुरारेश्च शिवस्य शक्ते-र्याः स्थापनास्ता अहिता हिता वा ।
अमानिताश्चाऽप्यभिमानिताः स्युः, स्तूपं तथा वा फलवन्न किं स्यात् ? ॥ १९ ॥

टीका—अस्योदाहरणमाह–यथेत्यादिना 'यथा '–येन प्रकारेण, 'ग्रहाणाम् '–सूर्यादीनां, 'प्रतिमाः '–मूर्तयः, 'अजीवा अपि सत्यः '–जीवरहिता अपि भवन्त्यः, 'तत्पूजनतः '–ग्रहप्रतिमापूजनात्, 'तदीयं गुणं '–स्वोत्थगुणं, 'ददत्येव '–निश्चयेन वितरन्ति, 'तथे 'ति समुच्चये, 'सतीनां '–पतीननुपराम्नां स्त्रीणां, 'क्षेत्राधिपानां '–क्षेत्रपालानाम्, 'अथे 'ति समुच्चये, 'पूर्वजानां '–पितृणाम्, 'विधेः '–ब्रह्मणः, 'मुरारेः '–विष्णोः, 'च '–पुनः, 'शिवस्य '–महेशस्य, तथा 'शक्तेः '–शक्तिदेवतायाः, याः स्थापना भवन्ति ताः स्थापनाः, 'अमानिताः '–असम्मताः सत्यः, 'अहिताः '–अहितकारकाः, 'वा '–अथवा, 'च' शब्दोऽपिशब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'अभिमानिताः '–सम्मताः सत्यः, 'हिताः स्युः '–हितकारका भवन्तीतिभावः, 'तथे 'ति समुच्चये, वेति निश्चये, 'स्तूपं '–यज्ञादिस्तम्भः, किं 'फलवन्न स्यात् '–फलदात् नैव भवति ॥ १८–१९ ॥

---

१. पितॄणाम् ।

मूलम्—रेवन्तनागाधिपपश्चिमेश-श्रीशीतलादिप्रतिमा अजीवाः ।
सम्पूजितास्तद्गतकार्यसिद्धिं, कुर्वन्ति यद्वंच्च तथाऽधिपार्चा[1] ॥ २० ॥

टीका—उदाहरणान्तराण्याह–रेवन्तेत्यादिना ‘ यद्वत् ’–यथा, ‘ च ’ शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ‘ रेवन्तनागाधिपपश्चिमेश-श्रीशीतलादिप्रतिमाः ’–रेवन्तप्रतिमा, नागाधिपप्रतिमा, पश्चिमेशप्रतिमा, श्रीप्रतिमा, शीतलादीनां च प्रतिमाः, ‘अजीवाः’–जीवरहिताः, ‘ अपि सम्पूजिताः ’–अर्चिताः सत्यः, ‘ तद्गतकार्यसिद्धिं कुर्वन्ति ’–स्वसम्बन्धिकार्याणाम् साधनं विदधाति, ‘ तथा ’–तेनैव प्रकारेण, ‘ अधिपार्चा ’–स्वामिप्रतिमा अपि समर्चिता ‘तद्गतकार्यसिद्धिं कुर्वन्ति ’–स्वसम्बन्धिकार्याणाम् साधनं विदधाति, ‘ तथा ’–तेनैव प्रकारेण, ‘ अधिपार्चा ’–स्वामिप्रतिमा अपि समर्चिता तद्गतकार्यसिद्धिं करोति ॥२०॥

मूलम्—ये कार्मणाकर्षणवेदिनस्तथा, नाम्नैव येषां मदनादिपुत्रके ।
निर्जीवके तं विधिमाचरन्त्यहो, यस्मात्सजीवानपि मूर्च्छयन्ति तान् ॥ २१ ॥

टीका—अत्रैव पुष्ट्यर्थं उदाहरणमाह–य इत्यादिना ‘ तथे ’ ति समुच्चये, ‘ ये ’–जनाः, ‘ कार्मणाकर्षणवेदिनः ’–मूलकर्माकृष्टिकर्मप्रयोगज्ञातारः सन्ति, ते ‘ निर्जीवके ’–जीवरहिते, ‘ मदनादिपुत्रके ’–मदनादिना निर्मितायां पुत्रिकायां, ‘ येषाम् ’–जनानाम्, ‘ नाम्नैव ’–नामधेयेनैव, ‘ तं ’–विवक्षितम्, ‘ विधिं ’–विधानम्, ‘ आचरन्ति ’–कुर्वन्ति, ‘ अहो ’–इत्यामन्त्रणे, चरणपूर्त्तौ वा, ‘ यस्मात् ’ यद्विध्याचरणवशात्, ‘ तान् ’–जनान्, ‘ सजीवानपि ’–जीवसहितानपि,

१. यथा । २. स्वामि– ।

चेतनानपीतिभावः, 'मूर्च्छयन्ति'–मूर्च्छां नयन्ति, सम्मोहयन्तीतिभावः ॥ २१ ॥

मूलम्—एवं निजेशप्रतिमामजीवां, तन्नामग्राहं[1] स्तवनां विधाय।
समर्चयद्भिः कुशलैः सपर्यां, सम्प्रापितो ज्ञानमयः प्रभुः स्यात् ॥ २२ ॥

टीका—दार्ष्टान्तिघटनामाह–एवमित्यादिना 'एवम्'–अनया रीत्या, 'तन्नामग्राहं'–निजेशनामग्रहणपूर्वकं, 'स्तवनां विधाय'–स्तवं कृत्वा, 'अजीवां'–जीवरहितां, 'निजेशप्रतिमां'–स्वस्वामिमूर्तिं, 'समर्चयद्भिः'–पूजयद्भिः, 'कुशलैः'–दक्षैः पुरुषैः, 'ज्ञानमयः'–ज्ञानयुक्तः, 'प्रभुः'–स्वामी, 'सपर्यां सम्प्रापितः स्यात्'–पूजां नीतो भवति, पूजितो भवतीतिभावः ॥ २२ ॥

मूलम्—तथा नियोज्यानपि कांश्चिदात्मनो, मूर्तिं प्रभुर्मानयतोऽवसाय।
तुष्यत्यसौ तेषु तथैवमीशो–ऽर्चितो भवेत्तत्प्रतिमार्चनात्स्यात् ॥ २३ ॥

टीका—अत्रैव पुष्टिमाह–तथेत्यादिना 'तथे' ति समुच्चये, यथा 'प्रभुः'–स्वामी, लौकिकः कश्चित्प्रभुरित्यर्थः, 'मूर्त्तिं'–प्रतिमाम्, स्वकीयां मूर्त्तिमित्यर्थः, 'मानयतः'–सम्मतां कुर्व्वतः, 'आत्मनः'–स्वस्य, 'कांश्चित्'–कानपि, 'नियोज्यान्'–सेवकान्, 'अपि' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'अवसाय'–ज्ञात्वा, 'तेषु तुष्यति'–तेषामुपरि तुष्टो भवति, 'तथैवमिति'–तेनैव प्रकारेणेत्यर्थः, 'स्यादि'ति प्रसिद्धौ, 'असौ'–प्रसिद्धः, 'ईशः'–स्वामी, 'तत्प्रतिमार्चनात्'–तस्य

१. सेवकान्।

प्रतिमायाः पूजनात्, 'अर्चितो भवेत्'-पूजितः स्यात् ॥ २३ ॥

नीरागिनिःस्पृहिसेवया परमार्थसिद्धिं श्लोकद्वयेनाह—

मूलम्—सत्यं बुधैतत्परमत्र यस्मा-द्विशेष एषोऽभिनिरीक्ष्यते महान् ।
देवा यदेते किल सन्ति रागिणः, पूजार्थिनो नो भगवान्स ईदृशः ॥ २४ ॥

टीका—अत्र प्रश्नयति-सत्यमित्यादिना 'हे बुध !'-हे पण्डित !, 'एतत्'-पूर्वोक्तम्, 'सत्यं'-यथार्थमस्ति, 'परं'-परन्तु, 'यस्मात्'-कारणात्, 'अत्र'-अस्मिन् विषये, 'एषः'-वक्ष्यमाणः, 'महान् विशेषः'-प्रभूतो भेदः, 'अभिनिरीक्ष्यते'-दृश्यते, यत् 'एते'-प्रसिद्धाः, 'देवाः'-सुराः, 'किले'ति निश्चये, 'रागिणः'-रागयुक्ताः, तथा 'पूजार्थिनः सन्ति'-पूजाभिलाषिणो वर्त्तन्ते, परन्तु 'सः'-पूर्वोक्तः, 'भगवान्'-ऐश्वर्यादियुक्तः केवली, 'ईदृशः'-इत्थं प्रकारो, 'नो'-नैवाऽस्ति, अन्ये देवा रागिणः पूजार्थिनश्च सन्ति, परन्तु स भगवान् रागी पूजार्थी च नाऽस्तीतिभावः ॥ २४ ॥

मूलम्—तदा त्वतीवाऽस्तु वरं यतः स्या-दनीहसेवा परमार्थसिद्धये ।
यथाहि सिद्धस्य च कस्यचिद्वा, स्पृहावतः सेवनमिष्टलब्धये ॥ २५ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह-तदा त्वित्यादिना 'तु' शब्दः पूर्वोक्तक्रमदर्शनार्थः, 'तदा'-तर्हि, 'अतीव वरमस्तु'-अत्यन्तं श्रेष्ठमस्ति, 'यतः'-यस्मात् कारणात्, 'अनीहसेवा'-निःस्पृहदेवसेवनं, 'परमार्थसिद्धये स्यात्'-पारलौकिकसुखप्रा-

प्तये भवति, अत्र दृष्टान्तमाह–यथाहीत्यादिना ‘ यथाही ’ ति तद्यथेत्यर्थः, ‘ वे ’ति निश्चयेन, ‘ च ’ शब्दश्चरणपूर्तौ, ‘ कस्यचित् ’–कस्याऽपि, ‘ अस्पृहावतः ’–स्पृहारहितस्य, निरभिकांक्षस्येतिभावः, ‘ सिद्धस्य ’–सिद्धिं प्राप्तस्य जनस्य, ‘ सेवनं ’–सेवा, ‘ इष्टलब्धये ’–अभीष्टपदार्थप्राप्तये भवति ॥ २५ ॥

प्रतिमा अजीवाऽपि तया पुण्यसिद्धिं श्लोकत्रयेनाह—

मूलम्—सिद्धस्तु साधो ! वरिवर्ति साक्षा–दैशी त्वजीवा प्रतिमा प्रतिष्ठिता ।
नाऽयं विचारः परिपूजनीये, द्रव्ये यतः पूज्यत एव पूज्यः ॥ २६ ॥

टीका—अत्राऽऽशङ्कते–सिद्धस्त्वित्यादिना ‘ हे साधो ! ’–हे श्रेष्ठ !, ‘ तु ’ शब्दो भिन्नक्रमद्योतनार्थः, ‘ सिद्धः ’–सिद्धिं प्राप्तः, ‘ साक्षात् ’–प्रत्यक्षेण, ‘ वरिवर्ति ’–विद्यते, प्रत्यक्षेण फलप्रदो दृश्यत इतिभावः, ‘ तु ’–परन्तु, ‘ ऐशी प्रतिमा ’–ईशसम्बन्धिनी मूर्त्तिः, ‘ अजीवा प्रतिष्ठिता ’–जीवरहिता स्थिताऽस्ति, अस्योत्तरमाह–नाऽयमित्यादिना ‘ अयं ’–पूर्वोक्तः, ‘ विचारः ’–विमर्शः, ‘ परिपूजनीये द्रव्ये’–पूजार्हे पदार्थे, न भवति, अत्र हेतुमाह–यत इत्यादिना ‘ यतः ’–यस्मात् कारणात्, ‘ पूज्यः ’–पूजार्हः, ‘ पूज्यत एव ’–निश्चयेनाऽर्च्यते ॥ २६ ॥

मूलम्—यद्दक्षिणावर्तककामकुम्भ–चिन्तामणिचित्रकवल्लिमुख्याः ।
कानीन्द्रियाणीह वहन्ति यत्ते–ऽर्चिताः प्रकुर्वन्ति मतं जनानाम् ॥ २७ ॥

टीका—अजीवप्रतिमापूजनेऽपि फलं भवतीत्याह–यद्दक्षिणेत्यादिनां ‘ यत् ’–यस्मात् कारणात्, ‘ दक्षिणेत्यादि ’–

दक्षिणावर्त्तकः शङ्खादि, कामकुम्भकलशः, चिन्तामणी मणिविशेषः, चित्रकवल्लिर्लताविशेषः, 'एतन्मुख्याः'–एतदाद्याः पदार्थाः, 'इह'–अस्मिन् संसारे, 'कानीन्द्रियाणि'–श्रोत्रादीनि, 'वहन्ति'–दधति, यत् ते दक्षिणावर्त्तकादयः 'अर्चिताः'–पूजिताः सन्तः, 'जनानाम्'–मनुष्याणाम्, 'मतमभीष्टम्'–मनोवाञ्छितमित्यर्थः, 'प्रकुर्वन्ति'–कुर्वते ॥ २७ ॥

मूलम्—वस्तुस्वभावाद्यदमी अजीवाः, स्वतोऽस्पृहावन्त इहाऽङ्गिकामान् ।
यच्छन्ति यद्वत् खलु पारमेशी[2], पुण्यस्य सिद्ध्यै प्रतिमाऽर्चिता तथा ॥ २८ ॥

टीका—दार्ष्टान्तविषयमाह–वस्त्वित्यादिना 'यदि'ति निश्चयेन, 'यद्वत्'[1]–यथा, 'अजीवाः'–जीवरहिताः, 'अमी'–पूर्वोक्ता दक्षिणावर्त्तकादयः, 'स्वतः'–स्वयं, 'अस्पृहावन्तः'–स्पृहारहिता अपि, 'वस्तुस्वभावात्'–स्वगतस्वभावविशेषेण, 'इह'–अस्मिन् संसारे, 'अङ्गिकामान् यच्छन्ति'–प्राणिमनोरथान् ददति, 'तथैव'–तेनैव प्रकारेण, 'खल्वि'ति निश्चयेन, 'पारमेशी प्रतिमा'–परमेशसम्बन्धिनी मूर्त्तिः, 'अर्चिता'–पूजिता सती, 'पुण्यस्य सिद्ध्यै'–धर्मसाधनाय भवति ॥ २८ ॥

आप्तनियुक्तवस्तुनः विशेषमान्यतां नवभिः श्लोकैराह—

मूलम्—सत्यं मुने ! ऽदोऽस्ति परं य एते, स्युर्दक्षिणावर्त्तमुखाः पदार्थाः ।
अजीववन्तो[3]ऽपि विशिष्टजाति-भेदात्तथादुर्लभवस्तुभावात् ॥ २९ ॥

१. यथा । २. परमेशस्य इयं पारमेशी । ३. अप्राणिनः ।

आराधिता अङ्गिमतं दिशन्ति, नैतादृगर्चा किल पारमेश्वरी ।
अहो यदेषा सुलभोपलादि–मयी तदा किं सदृशी त्वऽमीभिः ?॥ ३० ॥

टीका—दृष्टान्तदार्ष्टान्तवैषम्यमवबुध्य प्रश्नयति–सत्यमित्यादिना 'हे मुने !'–हे साधो !, 'अदः सत्यमस्ति'–पूर्वोक्तं भवतः कथनं यथार्थं भवति, 'परं'–परन्तु, य 'एते'–पूर्वोक्ताः, 'दक्षिणावर्त्तमुखाः पदार्थाः स्युः'–दक्षिणावर्त्तकादयः पदार्थाः सन्ति ते, 'अजीववन्तोऽपि'–जीवरहिता अपि, अप्राणिनोऽपीत्यर्थः, 'विशिष्टजातिभेदात्'–विशेषप्रकारकजातिभेदेन, 'तथे' ति समुच्चये, 'दुर्लभवस्तुभावात्'–दुःखेन लभ्यपदार्थसद्भावेन, हेतौ पञ्चमी 'आराधिताः'–सेविताः सन्तः, 'अङ्गिमतं दिशन्ति'–प्राणिमनोरथं ददाति, परन्तु 'अहो !'–इत्यामन्त्रणे, 'किले'ति निश्चयेन, 'पारमेश्वरी'–परमेश्वरसम्बन्धिनी, 'अर्चा'–प्रतिमा, 'एतादृग्'–उक्तप्रकारा विशिष्टजातिभिन्ना, दुर्लभवस्तुभावयुक्ता चेत्यर्थः, नास्ति, अत्र हेतुमाह–यदित्यादिना 'यत्'–यस्मात् कारणात्, 'एषा'–पारमेश्वरी अर्चा, 'सुलभा'–सुखेन लभ्या, तथा 'उपलादिमयी'–पाषाणादिनिर्मिताऽस्ति, 'तदा'–तर्हि, 'तु' शब्दो विशेषणार्थः, 'अमीभिः'–दक्षिणावर्त्तकादिभिः, 'सदृशी'–तुल्या, 'किं'–कथम् भवितुम् शक्नोति ? ॥ २९–३० ॥

मूलम्—अहो ! विचारिन्नविचारितं मा, वदस्त्वमेवं जगतीह पश्य ।
यन्मूलतो वस्तु गुणि प्रतीतं, ततोऽपि यत्पञ्चकृतं गुणाढ्यम् ॥ ३१ ॥

१. दक्षिणावर्तादिभिः ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–अहो इत्यादिना 'अहो!' इत्यामन्त्रणे, 'हे विचारिन्!'–हे विचारशील!, 'एवम्'–उक्तरीत्या, त्वम् 'अविचारितं मा वद'–अविमृष्टं मा कथय, 'इह'–अस्मिन् जगति संसारे, त्वम् 'पश्य'–अवलोकनं कुरु, 'यत्'–यद्वस्तु, 'मूलतः'–मूलात्, 'गुणि'–गुणयुक्तं, 'प्रतीतम्'–प्रसिद्धमस्ति, 'तत्'–वस्तु, 'पञ्चकृतं'–पञ्चभिर्जनैर्मतं सत्, 'ततोऽपि'–तस्मादपि, पूर्वापेक्षयाऽपीतिभावः, 'गुणाढ्यम्'–गुणयुक्तम् भवति ॥ २१ ॥

मूलम्—यथाहि कश्चित्किल राजपुत्रः, प्रायेण वीर्यादिगुणास्पदं स्यात्।
तं प्रोज्झ्य चेद्दुर्बलवंशसम्भवं, पुण्याच्च राज्ये विनिवेशयन्ति ॥ ३२ ॥
प्रामाणिकाः पञ्च यदा तदा त्वयं, राजन्यकं मौलमपि प्रशास्ति।
यदा तदुक्तं न करोति कश्चित्स शास्यते नन्दवदेव तेन ॥ ३३ ॥

टीका—उक्तकथनस्योदाहरणमाह–यथाहीत्यादिना 'यथाही'ति तद्यथेत्यर्थः, 'किले'ति निश्चये, 'कश्चित्'–कोऽपि, 'राजपुत्रः'–क्षत्रियसुतः, 'प्रायेण'–बहुधा, 'वीर्यादिगुणास्पदं स्यात्'–शौर्यादिगुणानां स्थानं भवेत्, 'तं'–राजपुत्रं, 'प्रोज्झ्य'–त्यक्त्वा, 'चेत्'–यदि, 'यदा'–यस्मिन्काले, 'पञ्च प्रामाणिकाः'–पञ्चसङ्ख्याकाः प्रामाणिकजनाः, 'पुण्यात्'–पुण्यवशात्, पूर्वपुण्येनेत्यर्थः, 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'दुर्बलवंशसम्भवम्'–नीचकुलोत्पन्नम्, 'कश्चित्'–पुरुषम्, 'राज्ये विनिवेशयन्ति'–राज्यशासने स्थापयन्ति, 'तदा'–तस्मिन् काले, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'अयं'–

१. नन्दनामराजेन (राजा ?) इव शिक्षा दाप्यते।

दुर्बलवंशसम्भवो जनः, ' मौलम् '–मूले जीतम्, ' राजन्यकं '–राजसम्बधिनम् पुरुषम्, ' प्रशास्ति '–शासनविषयं करोति, परन्तु ' यदा '–यस्मिन्काले, ' कश्चित् '–कोऽपि, ' तदुक्तं न करोति '–दुर्बलवंशोत्पन्नपुरुषकथनं न मन्यते, तदा ' स '–तत् कथनाऽमंता जनः, ' तेन '–राज्यस्थितदुर्बलवंशसम्भवपुरुषेण, ' नन्दवदेव '–नन्दनामकराजतुल्यत्वेनैव, ' शास्यते '–शिक्षां दाप्यते, दण्ड्यत इतिभावः ॥ ३२–३३ ॥

मूलम्—विचार्यते चेन्मनसा मनुष्यै–र्मौलो गुणी राजसुतः स योग्यः।
परन्तु यः क्षुद्रकुलोऽपि राजा, स एव सेव्यः खलु पञ्चपूजितः ॥ ३४ ॥

टीका—उक्तविषयमेव स्पष्टयति–विचार्यत इत्यादिना उक्तदशायाम् ' चेत् '–यद्यपि, ' मनसा '–हृदयेन, ' मनुष्यैः '–जनैः, एतत् ' विचार्यते '–चिन्त्यते, ' यत् '–यः, ' मौलः '–मूलभवः, तथा ' गुणी '–गुणयुक्तः, ' राजसुतः '–राजपुत्रोऽस्ति, ' सः '–राजपुत्रः, ' योग्यः '–अर्हः, शासनयोग्य इतिभावोऽस्ति, परन्तु तथापि ' खल्वि ' ति निश्चयेन, यः ' क्षुद्रकुलोऽपि '–नीचवंशोत्पन्नोऽपि, ' पञ्चपूजितः '–पञ्चजनार्चितः, ' राजा '–नृपो भवति, ' सः '–पूर्वोक्त एव, ' सेव्यः '–सेवनार्हः, सर्वजनैः प्रभुत्वेन मानार्ह इतिभावः ॥ ३४ ॥

मूलम्—एवं हि चिन्तामणिमुख्यमेतद्, वस्तु प्रधानं निजकस्वभावात्।
ततोऽपि मान्यं भुवि पारमेश्वरं, बिम्बं यतः पञ्चभिरत्र पूजितम् ॥ ३५ ॥

टीका—दार्ष्टान्तविषयमाह–एवमित्यादिना ' ही 'ति निश्चयेन, ' एवम् '–अनया रीत्या, ' एतत् '–पूर्वोक्तम्,

' चिन्तामणिमुख्यं '–चिन्तामण्यादि वस्तु, ' निजकस्वभावात् '–स्वस्वभावेन, ' प्रधानम् '–मुख्यमस्ति, परन्तु ' भुवि '–पृथिव्याम्, संसार इतिभावः, 'पारमेश्वरं बिम्बं'–परमेश्वरसम्बन्धिनी प्रतिमा, ' ततोऽपि '–तस्मादपि, चिन्तामण्यादिवस्त्वपेक्षयाऽपीत्यर्थः, ' मान्यं '–मानार्हमस्ति, अत्र हेतुमाह–यत इत्यादिना ' यतः '–यस्मात् कारणात्, ' तत् '–पारमेश्वरं बिम्बं, ' अत्र '–अस्मिन् संसारे, ' पञ्चभिः '–पञ्चसङ्ख्याकजनैः, ' पूजितम् '–अर्चितम् ॥ ३५ ॥

मूलम्—लोके यदेवाहृतमस्ति पञ्चभिः, तदेव मान्यं क्षितिपैरपि ध्रुवम् ।
यथा विवाहार्थनृपाः महाजना, न्यायाऽङ्किपुत्रावपरेऽपि चेत्थम् ॥ ३६ ॥
ये पञ्चभिस्तत्कृतभाग्यनोदा–त्संस्थापिताः सन्ति त एव मान्याः ।
तथा स्वपूजाह्वयकर्मवीर्या–त्कृताऽस्ति येशी प्रतिमा सैकाऽर्च्या ॥ ३७ ॥

टीका—उक्तविषय एव पुष्टिमाह–लोक इत्यादिना ' लोके '–संसारे, ' यदेव '–वस्तु, ' पञ्चभिः '–पञ्चसङ्ख्याकजनैः, ' आहृतमस्ति '–सत्कृतं वर्त्तते, 'तदेव'–वस्तु, ' क्षितिपैरपि ' ' ध्रुवं '–निश्चयेन, 'मान्यं '–मानार्हम्, आदरणीयमितिभावः, भवति, अस्योदाहरणमाह–यथेत्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, ' विवाहार्थनृपाः '–वरराजाः, ' महाजनाः'–श्रेष्ठिनः, तथा ' न्यायाऽङ्किपुत्रौ '–धर्मपुत्रः, उत्सङ्गिपुत्रश्च, ' इत्थम् '–अनया रीत्या, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' अपरेऽपि '–अन्येऽपि, ' तत्कृतभाग्यनोदात् '–स्वस्वभाग्यप्रेरणेन, ' ये ' ' पञ्चभिः '–पञ्चसङ्ख्याकजनैः, ' संस्थापिताः सन्ति '–स्थापनां

१. पालक । २. सा ।

नीता वर्त्तन्ते, 'तें एव'—जनाः, 'मान्याः'—माननीया भवन्ति, दार्ष्टान्तविषयमाह—तथेत्यादिना 'तथा'—तेन प्रकारेण, 'स्वपूजाह्वयकर्मवीर्यात्'—स्वसौभाग्यनामकर्मबलेन, 'या ऐशी प्रतिमा'—ईशसम्बन्धिनी मूर्त्तिः, 'कृताऽस्ति'—निर्मिता वर्त्तते, 'सका'—सा प्रतिमा, 'अर्च्या'—पूजनीया ॥ ३६–३७ ॥

मूलम्—प्राज्ञा य एते गदिताः पदार्था—स्ते सर्वे आकारयुक्ता भवन्ति ।
अतस्तदीयाकृतिमन्तरात्मनः, कृत्वाऽर्चयन्तेऽत्र तदीयबिम्बम् ॥ ३८ ॥

ईश्वरो निराकारोऽस्ति तथापि कथं तत्प्रतिमा भवेदिति श्लोकचतुष्टयेनाह—

आकारमुक्तो भगवान्प्रसिद्ध—स्ततस्तदीयं प्रतिबिम्बमेतत् ।
कृत्वा कथं पूज्यत एवमत्र, दोषस्त्वतद्वस्तुनि तद्ग्रहो यः ॥ ३९ ॥

टीका—ईशसम्बन्धिन्याः प्रतिमाया विषये प्रश्नयति—प्राज्ञा इत्यादिना 'हे प्राज्ञाः!'—हे विद्वांसः!, आदरार्थे बहुवचनम्, 'य एते'—पूर्वोक्ताः पदार्थाः, 'गदिताः'—कथिताः, दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्ता इतिभावः, ते 'सर्वे'—सकलाः, 'आकारयुक्ता भवन्ति'—आकृतिमन्तः सन्ति, 'अतः'—अस्मात् कारणात्, 'तदीयाकृतिं'—तत्सम्बन्धिनमाकारम्, 'आत्मनः'—जीवस्य, 'अन्तः कृत्वा,'—मध्ये संस्थाप्य, 'अत्र'—अस्मिन् संसारे, 'तदीयबिम्बं'—तत्सम्बन्धिनीप्रतिमाम्, जनाः 'अर्चयन्ते'—पूजयन्ति, परन्तु भगवान् 'आकारमुक्तः'—आकृतिरहितः, 'प्रसिद्धः'—विख्यातोऽस्ति, 'ततः'—तस्मात्

१ अभगवति भगवानयं इति या बुद्धिः ।

कारणात्, ' एतत् '–पूर्वोक्तम्, ' तदीयं प्रतिबिम्बं कृत्वा '–तत्सम्बन्धिनी प्रतिमां विधाय, ' एवम् '–उक्तरीत्या, ' कथं पूज्यते ? '–केन कारणेनाऽर्च्यते ? एवं करणे दोषमाह–अत्रेत्यादिना ' अत्र '–अस्मिन् संसारे, ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' अतद्वस्तुनि '–तद्भिन्नपदार्थे, ' यस्तद्ग्रहः '–तत्पदार्थत्वेन ग्रहणमस्ति, ' सः '–दोषोऽपराधः, भवति, अभगवति भगवानयं इति या बुद्धिः सा दोषरूपा भवतीतिभावः ॥ ३८–३९ ॥

मूलम्—साधूच्यतेऽदस्त्वयका विचारिणा–ऽनाकारिणस्त्वाऽऽकृतिरेव नेष्टा ।
इदं तु यद्भागवतं हि बिम्बं, तच्चावताराकृतिक्लृप्तरूपम् ॥ ४० ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–साध्वित्यादिना ' विचारिणा '–विचारशीलत्वेन, ' त्वयका '–त्वया, ' अदः '–एतत्पूर्वोक्तमित्यर्थः, ' साधूच्यते '–सत्यं कथ्यते, यत् ' अनाकारिणः '–आकाररहितस्य पदार्थस्य, ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' एवे 'ति निश्चये, ' आकृतिः '–आकारः, ' इष्टा '–अभीष्टा, नास्ति ' तु '–परन्तु, ' ही 'ति निश्चयेन, ' इदं '–पूर्वोक्तम्, यत् ' भागवतं बिम्बं '–भगवत्सम्बन्धिनी प्रतिमा, अस्ति ' च '–शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' तत् '–बिम्बम्, ' अवताराकृतिक्लृप्तरूपम् '–अवतारस्य–भवस्य आकृत्या–आकारेण क्लृप्तं–समर्थितम् रूपं यस्य तत्, ' भवाकारापेक्षया '–निर्मितस्वरूपमितिभावोऽस्ति ॥४०॥

मूलम्—याहक्तु संसारकृतावतारोऽभून्नयासि ताहग्भगवान्महद्भिः ।
या या व्यवस्था रुचिता च येभ्यः, साऽहो तदर्थैः परिपूज्यते तैः ॥ ४१ ॥

टीका—बिम्बस्याऽवताराकृतिक्लृप्तस्वरूपत्वे हेतुमाह–यादृगित्यादिना ' अहो ! '–इत्यामन्त्रणे, ' तु ' शब्दो विनिश्चये,

भगवान् 'संसारकृतावतारः—अन्तिमभवे विहितावतारः सन्, 'यादृग्'—यत्प्रकारकः, 'अभूत्'—बभूव, 'तादृक्'—तत्प्रकारकः, 'महद्भिः'—गुरुभिर्जनैः, 'न्यासि'—स्थापितः, संसारावतारक्रमेण यादृगाकारभगवानवतीर्णस्तादृगेव भगवतः प्रतिमा महात्मभिः स्थापितेतिभावः, तर्ह्यन्त्यभवावतारक्रमेण तत्प्रतिमां विधाय सा कथं नार्च्यत इति शङ्कां परिहर्तुमाह—या येत्यादि 'हि' शब्दश्चशब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'येभ्यः'—जनेभ्यः, या या 'अवस्था'—दशा, भवाकृतिरितिभावः, 'रुचिता'—रुचिं प्राप्ता, 'तदर्थैः'—तदभिलाषिभिः, 'तैः'—जनैः, 'सा'—तथैव प्रतिमा, 'परिपूज्यते'—अर्च्यते ॥ ४१ ॥

नास्तिकस्याऽजीवरूपस्थापनासेवाफलप्रतिपादनोक्तिलेशः सप्तदशोऽधिकारः

अथ अष्टादशोऽधिकारः

निराकारस्याऽपि पूजनं स्थापनां तदर्चनया लाभञ्च एकोनविंशतिश्लोकैराह—

मूलम्—यद्वाऽस्त्वनाकारवतोऽपि बिम्बं, सिद्धस्य शुद्धं भगवत्सुनाम्नः ।
तत्तत्स्वचित्ताशयचिन्तिताशां, साक्षादिवेदं वितरत्वशङ्कम् ॥ १ ॥

१. भगवान् इति शोभनं नाम यस्य सिद्धस्य स तथा तस्य यो हि सिद्धो भगवान् इत्युच्यते । २. सिद्धवत् ।

टीका—भगवत्प्रतिमापूजाविषय एवाऽवशिष्टविषयमाह—यद्वाऽस्त्वित्यादिना 'यद्वा'—अथवा, 'अस्तु'—पूर्वोक्तविषयस्तिष्ठतु, किन्तु 'अनाकारवतोऽपि'—आकाररहितस्याऽपि, 'भगवत्सुनाम्नः'—भगवानिति शोभनं नाम यस्य स तथा एवम्भूतस्य, 'सिद्धस्य'—सिद्धिं प्राप्तस्य, 'इदं'—प्रसिद्धं, 'शुद्धम्'—निर्मलम्, सर्वदोषरहितमितिभावः, 'बिम्बं'—प्रतिमा, 'तत्तत्स्वचित्ताशयचिन्तिताशाम्'—तत् तत्प्रकारकमनोभावेन विचारितामाशां, 'साक्षादिव'—प्रत्यक्षसिद्धवत्, 'अशङ्कं'—शङ्कारहितम्, यथास्यात्तथा निस्सन्देहमितिभावः, 'वितरतु'—ददातु, दातुं शक्नोतीतिभावः ॥ १ ॥

मूलम्—यत्स्थापना सा स्वकचित्तकल्प्या, सतोऽसतो वास्त्विह वस्तुनः सा ।
सर्वाऽपि यादृग्निजभावसेविता, तादृक्फलं यच्छति नाऽत्र संशयः ॥ २ ॥

टीका—अत्र पुष्टिमाह—यत्स्थापनेत्यादिना 'यत्'—या, 'स्थापना अस्ति'—सा स्थापना, 'स्वकचित्तकल्प्या'—स्वचित्तेन कल्पनीया भवति, 'सा'—स्थापना, 'इह'—अस्मिन् संसारे, 'सतः'—विद्यमानस्य, 'वा'—अथवा, 'असतः'—अविद्यमानस्य, 'वस्तुनः'—पदार्थस्य, 'अस्तु'—स्यात्, किन्तु सा 'सर्वाऽपि'—कृत्स्नाऽपि, 'यादृग्निजभावसेविता'—यादृश निजभावेन सेविता भवति, 'तादृक्'—तथाविधं फलं, 'यच्छति'—ददाति, 'अत्र'—अस्मिन् विषये, 'संशयः'—शङ्का नास्ति ॥ २ ॥

१. विद्यमानस्य अविद्यमानस्य वा ।

मूलम्—लोकेऽप्यनाकारमयस्य वस्तुनः, आकारभावः परिदृश्यते यथा।
आज्ञास्त्यसौ भागवतीति वाचं-वाचं तु लेखाक्रियते मनुष्यैः ॥ ३ ॥
तां लङ्घते यः स तदा न साधु-र्नोल्लङ्घते सैष जनेषु साधुः।
आम्नायशास्त्रेषु मरुद्यवोः स्यात्, तथाऽऽकृतिर्मण्डलतो विलेख्या ॥ ४ ॥

टीका—उक्तविषयमेवाह-लोकेऽपीत्यादिना 'लोकेऽपि'–संसारेऽपि, 'अनाकारमयस्य वस्तुनः'–आकाररहितस्य पदार्थस्य, 'आकारभावः'–आकृतेः सत्ता, 'परिदृश्यते'–अवलोक्यते, एतदेव दर्शयति–यथेत्यादिना 'यथा'–येन प्रकारेण, 'असौ'–विवक्षिता, 'भागवती'–भगवत्सम्बन्धिनी, 'आज्ञाऽस्ति'–आदेशो विद्यते, 'एतत्'–उक्ता, 'तु' शब्दश्रवणपूर्त्तौ, 'मनुष्यैः'–जनैः, 'वाचंवाचम्'–उक्तोक्ता, 'लेखाक्रियते'–रेखाविधीयते, भागवत्याज्ञाऽमूर्त्ता सा चाऽप्यमूर्त्तस्य भगवतस्तथाऽपि तस्या आज्ञाया जनै रेखाक्रियत इतिभावः, एतदेव स्पष्टयति–तामित्यादिना यदि यो जनः 'तां'–भागवतीमाज्ञां, 'लङ्घते'–व्यतिक्राम्यति, 'तदा'–तर्हि, 'सः'–जनः, 'साधुः'–भव्यो नास्ति, तथा यः 'ताम्'–

---

१ आज्ञा स्वयं साक्षादाकाररहिता पर तस्या अपि रेखारूप आकार कल्प्यते या चाऽऽज्ञा साऽपि अमूर्त्तस्य भगवदादेः
स्वामिनः प्रतापस्य सम्बन्धिनी तेन पूर्व भगवदादिप्रतापोऽमूर्त्तः अमूर्त्तस्याऽप्यस्याऽमूर्त्ता आज्ञा अस्या अपि अमूर्त्ताया
रेखारूप आकारः सद्भिः कल्पित इत्यर्थः। २. स्वामिसम्बन्धिनी। ३. उक्तोक्ता। ४ रेखा। ५. आज्ञां। ६. भव्य। ७.
आगमशास्त्रे, मन्त्रशास्त्रे। ८ मरुद्वायुः द्यौश्च नभः मरुच्च द्यौश्च मरुद्द्यावौ तयोर्मरुद्यवो. वायुनभसोः। ९ मण्डल-
कारणहेतुनाकृतिर्विलेख्या यथा मरुत्मण्डलं चाऽऽकाशमण्डलं चेति उक्त्वा तदाकारो लिख्यते ॥

आज्ञाम्, ' नोल्लङ्घते '–न व्यतिक्राम्यति, ' सः '–एष विवक्षितः, सोऽचिलोपे, चेदित्यादिना चरणपूर्त्तौ लोपेऽपि सन्धिः, ' जनेषु '–मनुष्याणाम् मध्ये, ' साधुः '–भव्योऽस्ति, उदाहरणान्तरमाह–आम्नायेत्यादिना ' तथे 'ति समुच्चये, ' आम्नायशास्त्रेषु '–आगमशास्त्रेषु मन्त्रशास्त्रेषु वा, ' मरुद्वियवोः '–वाय्याकाशयोः, ' मण्डलतः '–मण्डलद्वारा, ' आकृतिर्विलेख्या स्यात् '–आकारः संलेख्यो भवेत्, एतत्मरुन्मण्डलमेतच्चाऽऽकाशमण्डलमित्युक्त्वा जनैर्मरुदाकाशयोराकारो विलिख्यत इतिभावः ॥ ३–४ ॥

मूलम्—स्वरोदयस्याऽथ विचारशास्त्रे, तत्त्वानि पञ्चाऽपि च साकृतीनि।
अनाकृतं[2] वस्त्वति साकृतं यथा, स्यादित्थमाकार इहाऽप्यनाकृतेः[3] ॥ ५ ॥

टीका—उदाहरणान्तरपूर्वकं फलितमाह–स्वरोदयेत्यादिना ' अथे ' ति समुच्चये, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' विचारशास्त्रे '–प्रश्नादिविचारागमे, ' स्वरोदयस्य '–स्वरोदयसम्बन्धीति, 'पञ्चाऽपि'–पञ्चसङ्ख्याकान्यपि, ' तत्त्वानि '–पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशलक्षणानि, ' साकृतीनि '–आकारसहितानि, उच्यन्ते फलितमाह–अनाकृतमित्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, ' इति '–उक्तरीत्या, ' अनाकृतम् '–आकाररहितम् वस्तु, ' साकृतम् '–आकारसहितम् मन्यते, ' इत्थम् '–अनया रीत्या, ' इह '–अस्मिन्संसारे, ' अनाकृतेरपि '–आकाररहितस्याऽपि, सिद्धस्याऽपीतिभावः, ' आकारः स्यात् '–आकृतिर्भवति ॥५॥

---

१. पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशलक्षणानि । २. आकृतिराकृतमाकारः भावे क्तः अनाकृतमनाकारं । ३. सिद्धस्य ।

मूलम्—पुनर्बुधेक्षस्व यतीह सन्ति, लोकेषु लोकाः किल लब्धवर्णाः।
सर्वैश्चतैराकृतिवर्जिता अपि, वर्णाः प्रक्लृप्ताः स्वकनामसाकृताः ॥ ६ ॥

टीका—पुष्ट्यर्थमुदाहरणान्तरमभिधातुकाम आह–पुनरित्यादि ' पुन ' रिति समुच्चये, ' हे बुध ! '–हे विद्वन् !, त्वम् ' ईक्षस्व '–पश्य, यत् ' इह '–अस्मिन् संसारे, ' किले 'ति स्ववार्त्तायाम्, ' लोकेषु '–जनानां मध्ये, ' यति '–यत् सङ्ख्याका, ' लब्धवर्णाः '–साक्षराः, ' लोकाः सन्ति '–जना वर्त्तन्ते, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' तैः '–पूर्वोक्तैः, ' सर्वैः '–सकलैः, ' आकृतिवर्जिता अपि '–आकाररहिता अपि, ' वर्णाः '–अक्षराणि, ' स्वकनामसाकृताः प्रक्लृप्ताः '–स्वस्वनाम्नाऽऽकारसहिता रचिताः सन्ति, अयमाकारोऽयं च हकार इति स्वस्वनामग्राहं वर्णाः साकाराः कल्पिता इतिभावः ॥ ६ ॥

मूलम्—यद्याकृतिः स्यान्नियताक्षराणां, तदा समेषां सदृगाकृतिः स्यात्।
सा नास्त्यतो भिन्नकभिन्निकैव, वर्णाकृतिः काऽपि न तत्र तुल्या ॥ ७ ॥

---

१ रचिताः। २. स्वकं यन्नाम तेनैव साकृताः साकारा ये ते स्वकनामसाकारा आकारादयो वर्णा यथाऽयमाकारोऽयं ककारोऽयं हकार इति स्वस्वनामग्राहं वर्णाः साकाराः कल्पिताः स्वचित्तकल्पनया स्थापिता इति। ३. ननु एते वर्णा महद्भिः स्थापिता इति कथं प्रतिज्ञायते, उच्यते यद्येषां वर्णानां नियता शाश्वती एवाऽऽकृतिः स्यात्तदा समेषां लोकानां ककारादीनां अक्षराणां सदृशी एवाऽऽकृतिः स्यात्। ४. सा तु सर्वेषां समाकृतिर्न दृश्यते सर्वैरपि स्वमनोभिमततया पृथक् पृथगेव लिख्यते अतो हेतोरेव भिन्नभिन्नाकृतिः सर्वेषामपि लिपिकर्मकारिजनानामिति ॥

टीका—अस्यैव पुष्टिमाह-यदीत्यादिना 'यदि'-चेत्, 'अक्षराणां'-वर्णानाम्, 'आकृतिः'-आकारः, 'नियता स्यात्'-निश्चिता भवेत्, 'तदा'-तर्हि, 'समेषां'-सर्वेषाम् वर्णानाम्, 'आकृतिः'-आकारः, 'सदृक् स्यात्'-समाना भवेत्, परन्तु, 'सा'-सादृगाकृतिः, 'नास्ति'-न विद्यते, 'अतः'-अस्मात् कारणात्, 'वर्णाकृतिः'-अक्षराणामाकारः, 'भिन्नकभिन्निकैत्र'-निश्चयेन भिन्नाऽभिन्नाऽस्ति, 'तत्र'-वर्णाकृतौ, 'काऽपि'-काचिदपि वर्णाकृतिः, 'तुल्या'-समाना नास्ति ॥ ७ ॥

मूलम्—यावन्ति राष्ट्राणि च सन्ति विश्वे, वर्णाकृतिस्तेष्वपरापरैव ।
तद्व्यक्तिकाले तु समोपदेश-स्तैः कार्यमप्यत्र विधीयते समम् ॥ ८ ॥

टीका—उक्तविषयमेवाह-यावन्तीत्यादिना 'च' शब्दः समुच्चये, 'विश्वे'-जगति, 'यावन्ति राष्ट्राणि सन्ति'-यत्सङ्ख्याका देशा विद्यन्ते, 'तेषु'-राष्ट्रेषु, 'वर्णाकृतिः'-अक्षराणामाकारः, 'अपरापरैव'-निश्चयेन भिन्नाभिन्नाऽस्ति, परन्तु 'तद्व्यक्तिकाले'-वर्णानाम् प्राकट्यसमये, पठनकाल इतिभावः, 'समोपदेशः'-समान उपदेशः, भवति तथा 'अत्र'-अस्मिन्संसारे, 'तैः'-वर्णैः, 'कार्यमपि'-कृत्यमपि, 'समं विधीयते'-तुल्यं क्रियते ॥ ८ ॥

मूलम्—पुनश्च पश्य त्वमिमाः समा लिपी-र्मिथ्या विधातुं न हि कोऽपि शक्तः ।
या येषु सिद्धाः किल तैश्च ताभि-र्नरैर्लिपिभिः प्रविधीयते फलम् ॥ ९ ॥

टीका—उक्तविषयमेवाह-पुनश्चेत्यादिना 'पुन' रिति समुच्चये, 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, त्वं 'पश्य'-ईक्षस्व, यत्

'इमाः '–प्रसिद्धाः, 'समाः '–सर्वाः, 'लिपीः '–लेखशैलीः, 'मिथ्या विधातुम् '–अन्यथा कर्तुम्, 'कोऽपि '–कश्चित् जनः, 'ही ' ति चरणपूर्त्तौ, 'शक्तः '–समर्थो नास्ति, तर्हि किमस्तीत्याह–येत्यादिना 'किले 'ति निश्चये, 'च '–शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'येषु '–जनेषु, 'याः'–लिपयः, 'सिद्धाः '–प्रसिद्धाः सन्ति, 'तैः '–पूर्वोक्तैः, 'नरैः '–जनैः, 'ताभिः '–पूर्वोक्ताभिः, 'लिपीभिः '–लेखशैलीभिः, फलं 'प्रविधीयते '–क्रियते ॥ ९ ॥

मूलम्—लिप्यो विभिन्ना इह यद्यपीमा, व्यक्तिः समैवाऽस्ति तु पाठकाले ।
नृणां तथा कार्यकृतिः समस्ता, ताभिः समाना भवतीत्यवेहि ॥ १० ॥

टीका—उक्तविषयमेव स्पष्टयति–लिप्य इत्यादिना 'इह '–अस्मिन् संसारे, 'यद्यपि ' 'इमाः '–प्रसिद्धाः, 'लिप्यो विभिन्नाः '–लेखशैल्यो भिन्नाऽभिन्नाः सन्ति, तथापि, 'पाठकाले '–पठनसमये, 'व्यक्तिः '–प्राकटचम्, वर्णाभिव्यक्तिरिति-भावः, 'तु ' शब्दो विनिश्चये, 'समैवाऽस्ति '–तुल्यैव भवति, तथेति समुच्चये, 'नृणाम् '–मनुष्याणाम्, 'समस्ता '–सर्वा, 'कार्यकृतिः'–कार्यविधानं, 'ताभिः '–लिपिभिः, 'समाना भवति'–तुल्या जायते, 'इति'–एतत्, त्वम् 'अवेहि'–जानीहि ॥१०॥

मूलम्—घनं किमाकारविवर्जिताना–मिहाक्षराणामियमाकृतिः कृता ।
अस्या अपि स्थापनमन्यदन्यत्, कृतं बुधैः स्वस्वसुगुप्तवेदने ॥ ११ ॥

टीका—उक्तविषयमेव विस्पष्टयति–घनमित्यादिना 'घनं किमि 'ति–अत्र विषये बहुजनोक्तेन किमित्यर्थः, 'इह '–अस्मिन् संसारे, 'आकारवर्जितानाम् '–आकृतिरहितानाम्, 'अक्षराणाम् '–वर्णानाम्, 'इयं '–पूर्वोक्ता, 'आकृतिः '–

आकारः, ' कृता '–निर्मिता, अस्ति तथा ' अस्याः '–पूर्वोक्ताया अपि आकृतेः, ' स्थापनं '–स्थापना, ' बुधैः '–विद्वद्भिः, ' स्वस्वसुगुप्तवेदने '–निजनिजगुप्तवृत्तान्तप्रकाशनाय, ' अन्यदन्यत् कृतं '–भिन्नं भिन्नं विहितमस्ति ॥ ११ ॥

मूलम्—पुनश्च रागा अपि शाब्दरूप्या-दाकारमुक्ताश्च तथाऽपि तद्बुधैः ।
ते रागमालाह्वयपुस्तकेषु, न्यस्ताः किलाकारभृतः समस्ताः ॥ १२ ॥

टीका—पुष्ट्यर्थं दृष्टान्तरमाह–पुनश्चेत्यादिना ' पुनश्चे 'ति समुच्चये, यद्यपि ' रागा अपि '–भैरव्यादयोऽपि, ' शाब्दरूप्यात् '–शब्दस्वरूपभावात्, हेतौ पञ्चमी, ' आकारमुक्ताः '–आकृतिरहिताः सन्ति, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' तथापि '–तदपि, ' तद्बुधैः '–रागज्ञातृभिर्जनैः, ' पूर्वोक्ताः समस्ताः '–सर्वे रागाः, ' किले 'ति निश्चयेन, ' रागामालाह्वयपुस्तकेषु '–रागमालानामकग्रन्थेषु, ' आकारभृतो न्यस्ताः '–आकृतियुक्ताः संस्थापिताः सन्ति ॥ १२ ॥

मूलम्—एवं त्वनाकारवतोऽप्यधीशितु-राकार एष प्रविकल्प्य सद्भिः ।
यं यं वशं साधु समिष्य पूज्यते, सर्वोऽप्ययं तेषु फलत्यवश्यम् ॥ १३ ॥

टीका—दार्ष्टान्ते घटनामाह–एवमित्यादिना ' एवम् '–अनया रीत्या, ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' अनाकारवतोऽपि '–आकृतिरहितस्याऽपि, ' अधीशितुः '–स्वामिनः, ' एषः '–पूर्वोक्तः, प्रसिद्धो वा, ' आकारः '–आकृतिः, ' सद्भिः '–साधुभिर्जनैः, ' प्रविकल्प्य '–संकल्प्य, ' यं यं वशं समिष्य '–यं यं कामं अभिष्य, ' साधु '–सम्यक्तया, ' पूज्यते '–अर्च्यते, ' तेषु '–पूर्वोक्तेषु सत्सु, ' अयं '–पूर्वोक्तः, ' सर्वोऽपि '–सकलोऽपि वशः, ' अवश्यं '–निश्चयेन, ' फलति '–

सफलो भवति ॥ १३ ॥

मूलम्—यद्वा हि पूजा परमेश्वरेऽत्रा–लिप्तेऽथ निन्दा न लगेत्समाऽपि ।
ते यादृशे तत्र कृते तु तादृशे, अभ्येत[1] आत्मानमिमं स्वकीयम् ॥ १४ ॥

टीका—परमेश्वरे पूजानिन्दयोरसम्बन्ध इति दर्शयति–यद्वेत्यादिना 'ही 'ति निश्चये, चरणपूर्त्तौ वा, 'यद्वा '–अथवा, 'अलिप्ते '–निर्लिपे, 'अत्र '–अस्मिन् प्रसिद्धे, 'परमेश्वरे '–भगवति, 'समाऽपि '–सर्वाऽपि, 'पूजा '–अर्चा, 'अथे 'ति समुच्चये, 'निन्दा '–कुत्सा, 'न लगेत् '–न लगति, प्रलिप्ता न भवतीतिभावः, 'तु ' शब्दो विनिश्चये, 'तत्र '–अलिप्ते परमेश्वरे, 'ते '–पूजानिन्दे, 'यादृशे '–यथाप्रकारे, 'कृते '–विहिते, भवतः 'तादृशे '–तथाविधे ते, 'इमं '–प्रसिद्धं, 'स्वकीयमात्मानं '–स्वस्य जीवम्, 'अभ्येत '–आयातः ॥ १४ ॥

मूलम्—कुडये यथा वज्रमये नरेण, क्षिप्ता मणिर्वा दृषदप्यथापरा ।
ते द्वे अपि क्षेपकम्[2]भ्युपेते, न जातु यातस्तमतीत्य[3] कुत्रचित् ॥ १५ ॥

टीका—अत्रोदाहरणमाह–कुड्य इत्यादिना 'यथा '–येन प्रकारेण, यदि 'वज्रमये कुडये '–पाषाणनिर्मितायां भित्तौ, 'नरेण '–जनेन, 'क्षिप्ता '–प्रक्षेपं नीता, 'मणिः ' 'वा '–अथवा, 'अथे 'ति समुच्चये, 'अपरा '–भिन्ना, गणेर्विभिन्नेत्यर्थः, 'दृषदपि '–पाषाणोऽपि, भवतः, तर्हि 'ते '–पूर्वोक्ते, 'द्वे अपि '–उभे अपि, मणिदृषदौ, 'क्षेपकं '–

१. आयातः । २. गच्छतः । ३. क्षेपकम् ।

प्रक्षेपणकर्त्तारम् जनम्, 'अभ्युपेते'–प्राप्ते भवतः, किन्तु 'तं'–क्षेपकम् जनम्, 'अतीत्य'–प्रोल्लङ्घ्य, 'कुत्रचित्'–कुत्राऽपि, 'जातु'–कदाचित्, 'न यातः'–न गच्छतः ॥ १५ ॥

मूलम्—कश्चिद्रवेः सम्मुखमात्मना रजो–ऽथवा सिताभ्रं क्षिपति क्षमास्थः।
तत्सर्वमस्यैव समेति सम्मुखं, न याति सूर्यं च तथोच्चखं प्रति ॥ १६ ॥

टीका—उदाहरणान्तरमाह–कश्चिदित्यादिना 'क्षमास्थः'–भूमौ स्थितः, 'कश्चित्'–कोऽपि जनः, यदा 'रवेः सम्मुखम्'–सूर्यस्य समक्षम्, 'आत्मना'–स्वयं, 'रजः'–धूलिम्, 'अथवा'–यद्वा, 'सिताभ्रं'–कर्पूरं, 'क्षिपति'–प्रक्षेपं नयति, तदा 'तत्'–पूर्वोक्तम्, 'सर्वं'–सकलं रजःप्रभृति, 'अस्यैव'–प्रक्षेपकस्यैव, 'सम्मुखं समेति'–समक्षमायाति, किन्तु 'तत्'—सर्वं, 'सूर्यं'–रविं प्रति, 'तथे'ति समुच्चये, 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'उच्चखं प्रति'–उच्चाकाशमुद्दिश्य, 'न याति'–न गच्छति ॥ १६ ॥

मूलम्—यद्वा पुनः कश्चन सार्वभौमं, संस्तौति तस्यैव फलाय स[2] स्यात्।
निन्देदथेशं यदि कश्चिदज्ञी, स्यात्सैव दुःखी जनतासमक्षम् ॥ १७ ॥

टीका—उदाहरणान्तरमाह–यद्वेत्यादिना 'यद्वा'–अथवा, 'पुनरि'ति समुच्चये, 'कश्चन'–कोऽपि जनः, यदा 'सार्वभौमं'–चक्रवर्तिनृपं, 'संस्तौति'–सम्यक्तया प्रस्तुते, तदा 'सः'–संस्तवं, 'तस्यैव फलाय स्यात्'–स्तोतुरेव

१. कर्पूरं । २ संस्तवः ।

फलाय भवति, 'अथे' ति–अनन्तरे, 'यदि'–चेत्, 'कश्चिदंगी'–कोऽपि प्राणी, 'ईशं निन्देत्'–ईशस्य निन्दां कुर्यात्, तर्हि 'जनतासमक्षं'–जनसमूहसम्मुखे, 'सैव'–निन्दकजन एव, सोऽविलोपे इत्यादिना चरणपूर्तौ, लोपेऽपि सन्धिः, 'दुःखीस्यात्'–दुःखयुक्तो भवति ॥ १७ ॥

मूलम्—स्तुतेऽधिकं स्यान्नहि सार्वभौमे, विनिन्दितेऽस्मिंस्तु न किञ्चिदूनम् ।
नैवं प्रभौ पूजननिन्दनाभ्या–माधिक्यहानी स्त इमे तु कर्त्तुः ॥ १८ ॥

टीका—दृष्टान्तविस्पष्टनपूर्वकं दार्ष्टान्तविषयमाह–स्तुतेऽधिकमित्यादिना यथा 'सार्वभौमे'–चक्रवर्तिनृपे, 'स्तुते'–स्तुतिं नीते सति, 'सः'–सार्वभौमः, 'अधिकं न हि स्यात्'–अधिको न भवति, वृद्धिं न यातीत्यर्थः, 'तु'–पुनः, 'अस्मिन्'–सार्वभौमे, 'विनिन्दिते'–कुत्सां नीते सति, 'सः'–सार्वभौमः, 'किञ्चिदूनम्'–किमपि न्यूनं, 'न भवति'–कथमपि हानिं न यातीत्यर्थः, दार्ष्टान्ते घटनामाह–एवमित्यादिना 'एवम्'–अनया रीत्या, 'पूजननिन्दनाभ्याम्'–अर्चाकुत्साभ्यां, 'प्रभौ'–परमेश्वरे, 'आधिक्यहानी न स्तः'–उपचयापचयौ न भवतः, 'तु'–किन्तु, 'इमे'–आधिक्यहानी, 'कर्तुः'–कारकस्य, अर्चाकुत्साकारकस्य जनस्येतिभावः, स्तः, पूजनकर्तुर्जनस्याऽऽधिक्यं निन्दनकर्तुश्च जनस्य हानिर्भवतीतिभावः ॥१८॥

मूलम्—यद्वा पुनः कश्चिदपथ्यपथ्या–हारीह दुःखं च सुखं च भुङ्क्ते ।
न स्तस्तु ते आहृतवस्तुनो यद्, एवं च सिद्धार्चनमात्मगामि ॥ १९ ॥

टीका—उदाहरणान्तरपूर्वकमुक्तविषयं निगमयति–यद्वेत्यादिना 'यद्वा'–अथवा, 'पुनरि'ति समुच्चये, यथा

'इह'–अस्मिन् संसारे, 'कश्चित्'–कोऽपि, 'अपथ्यपथ्याहारी'–अपथ्यपथ्यभोजनकर्त्ता जनः, 'दुःखं'–क्लेशं, 'च'–पुनः, 'सुखं'–सौख्यम्, एकश्चशब्दश्चरणपूर्तौ, 'भुङ्क्ते'–अनुभवति, अपथ्याहारी दुःखं पथ्याहारी च सुखं भुङ्क्त इत्यर्थः, 'तु'–परन्तु, 'यदिति' निश्चयेन, 'ते'–दुःखसुखे, 'आहृतवस्तुनो न स्तः'–भुक्तपदार्थस्य न भवतः, दार्ष्टान्तविषयमाह–एवमित्यादिना 'एवम्'–अनया रीत्या, 'च' शब्दश्चरणपूर्तौ, 'सिद्धार्चन'–सिद्धस्य पूजनम्, 'आत्मगामि'–आत्मप्राप्ति, पूजनकर्तृजीवभावीति यावत् भवति ॥ १९ ॥

नास्तिकस्याऽनाकारस्याऽपि भगवतः स्थापनोक्तिलेशोऽष्टादशोऽधिकारः

अथ एकोनविंशोऽधिकारः

प्रतिमापूजनफलं प्रायः शीघ्रमत्र भवे न प्राप्नोतीत्यस्य कारणानि विंशतिश्लोकैराह—

मूलम्—साधो ! वरं प्रोक्तमिदं परं यथा, चिन्तामणिमुख्यमिहार्चकानाम् ॥
सद्यः फलत्येव तथाऽत्र पार–मेशी फलेन्नो प्रतिमाऽर्चिताऽसौ ॥ १ ॥

टीका—पारमेश्याः प्रतिमाया अर्चायाः फलविषये प्रश्नयति–साधो ! इत्यादिना 'हे साधो !'–हे मुने !, 'इदं'–पूर्वो-

क्तम् वचनम्, 'वरं प्रोक्तम्'–सुष्ठु कथितम् भवता, 'परं'–परन्तु, 'यथा'–येन प्रकारेण, 'इह'–अस्मिन्संसारे, 'चिन्तामणिमुख्यम्'–चिन्तामण्यादिकम् वस्तु, 'अर्चकानाम्'–पूजकानाम् जनानाम्, स्वपूजनकर्तॄणामितिभावः, 'सद्यः'–शीघ्रं, 'फलत्येव'–निश्चयेन फलति, 'तथा'–तेन प्रकारेण, 'अत्र'–अस्मिन्संसारे, 'असौ'–प्रसिद्धा, 'पारमेशी प्रतिमा'–परमेश्वरसम्बन्धिनी मूर्तिः, 'अर्चिता'–पूजिता सती, 'नो फलेत्'–नो फलति, चिन्तामण्यादिवत् सद्यः फलदात्री न भवतीतिभावः ॥ १ ॥

मूलम्—सत्यं त्वदुक्तं परमत्र साधो !, संस्थाप्य चेतः स्थिरमित्यवेहि ।
यद्वस्तुनो योऽस्ति फलस्य काल-स्तत्रैव तद्वस्तु फलत्यशङ्कम् ॥ २ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–सत्यमित्यादिना 'हे साधो !'–हे मुने !, 'त्वदुक्तं'–तव कथनं, 'सत्यम्'–यथार्थमस्ति, 'परं'–परन्तु, 'अत्र'–अस्मिन् विषये, 'चेतः स्थिरं संस्थाप्यम्'–मानसं स्वस्थं कृत्वा, 'इति'–एतत्, वक्ष्यमाणमित्यर्थः, त्वम् 'अवेहि'–जानीहि, 'यद्वस्तुनः'–पदार्थस्य यः, 'फलस्य कालोऽस्ति'–विपाकस्य समयो भवति, 'तत्रैव'–तस्मिन्नेव काले, 'तत्'– पूर्वोक्तं वस्तु, 'अशङ्कम्'–शङ्कारहितम्, यथा स्यात्तथा निःसन्देहमितिभावः, 'फलति'–फलदायि भवति ॥ २ ॥

मूलम्—यथाहि गर्भो नवभिस्तु मासैः, पूर्णैर्लभेत् सूतिमिहैव नार्वाक् ।
तथा पुनः काश्चन मन्त्रविद्याः, लक्षेण कोट्याथ फलन्ति जापैः ॥ ३ ॥

टीका—अत्रोदाहरणमाह–यथाहीत्यादिना 'यथाही' ति तद्यथेत्यर्थः, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'गर्भः'–भ्रूणः, 'नव-

भिर्मासैः पूर्णैरि 'ति नवसु मासेषु पूर्णेष्वित्यर्थः, ' इहैव '–अस्मिन्नेव संसारे, ' सूतिम् लभेत् '–प्रजननं लभते, परस्मैपदं चिन्त्यम्, 'नार्वागि'ति–नवमासात् प्राक् सूतिं न लभत इत्यर्थः, उदाहरणान्तरमाह–तथेत्यादिना ' तथा ' शब्दः ' पुनः ' शब्दश्च समुच्चये, ' काश्चन '–काऽपि, ' मन्त्रविद्या '–मन्त्रसम्बन्धिन्यो विद्याः, ' लक्षेणजापैः '–लक्षजापात्,' अथे 'ति यद्वेत्यर्थः, ' कौटिजापैः '–कोटिजापात्, ' फलन्ति '–फलदायिन्यो भवन्ति ॥ ३ ॥

मूलम्—वनस्पतिर्वा समये स्वकीये, सर्वः फलत्येष न चाऽऽत्मशैघ्र्यात् ।
सेवाऽपि राजत्रिदशेश्वरादि–सम्बन्धिनी वा फलतीह काले ॥ ४ ॥

टीका—उदाहरणान्तरमाह–वनस्पतिरित्यादिना ' वा '–अथवा, 'एषः'–प्रसिद्धः, 'सर्वः'–सकलः, 'वनस्पतिः'–वृक्षः, पुष्पगन्तरैव फलशाली वा वृक्षः, ' स्वकीये समये '–निजकाले, स्वफलकाल इत्यर्थः, ' फलति '–फलयुक्तो भवति, ' न चाऽऽत्मशैघ्र्यादिति '–आत्मनः शीघ्रत्वेन स न फलतीत्यर्थः, उदाहरणान्तरमाह–सेवाऽपीत्यादिना ' वा '–अथवा, ' राजत्रिदशेश्वरादिसम्बन्धिनी '–नृपसम्बन्धिनी इन्द्रादिसम्बन्धिनी च, ' सेवाऽपि '–सेवनमपि, 'इह'–अस्मिन् संसारे, ' काले '–समये, स्वसमय एवेत्यर्थः, ' फलति '–फलदायिनी भवति ॥ ४ ॥

मूलम्—संसाध्यमानोऽत्र रसोऽपि काले, सिद्धः फलायाऽस्ति न साध्यमानः ।
तथाऽन्यदेशव्यवहारकर्म, तत्कालपूर्तौ फलति प्रकामम् ॥ ५ ॥

१. पारदोऽपि ।

टीका—उदाहरणान्तरमाह–संसाध्येत्यादिना 'अत्र'–अस्मिन् संसारे, 'संसाध्यमानः'–औषधादिभिः सिद्धिं नीयमानः, रसोऽपि 'काले'–समये, 'सिद्धः'–सिद्धिंगतः सन्, 'फलायाऽस्ति'–फलार्थं भवति, 'न साध्यमान इति'–साधनकाले फलाय न भवतीत्यर्थः, उदाहरणान्तरमाह–तथेत्यादिना 'तथे' ति समुच्चये, 'अन्यदेशव्यवहारकर्म'–देशव्यवहारसम्बन्ध्यन्यदपि कर्म, 'तत्कालपूर्तौ'–स्वकालस्य समाप्तौ, 'प्रकामं'–यथेष्टं, 'फलति'–फलदायि भवति ॥ ५ ॥

मूलम्—तथैव पूजादिकमत्रपुण्यं, काले स्व एवाऽस्ति भवान्तराख्ये।
फलप्रदायीति ततो न दक्षै–रौत्सुक्यमेष्यं फलदे पदार्थे ॥ ६ ॥

टीका—उदाहरणान्तरमभिधातुकाम आह–तथैवेत्यादि 'तथैवे' ति समुच्चये, 'अत्र'–अस्मिन् संसारे, 'पूजादिकम्'–अर्चाप्रभृतिकम्, 'पुण्यं'–धर्मसम्बन्धिकार्यम्, 'भवान्तराख्ये'–अन्यभवनामके, 'स्वे काले एव'–निजसमय एव, 'फलप्रदाय्यस्ति'–फलदायकं सञ्जायते, 'इति' शब्दो वाक्यपरिसमाप्तौ, 'ततः'–तस्मात् कारणात्, 'फलदे पदार्थे'–फलदायिनि वस्तुनि, 'दक्षैः'–चतुरैः पुरुषैः, 'औत्सुक्यम् एष्यम्'–उत्सुकत्वं नाभिलषणीयम्, फलप्राप्तये शीघ्रता न कर्त्तव्येत्यर्थः ॥ ६ ॥

मूलम्—पुंनर्बुधाऽवेस्य हृदि स्वकीये, पूर्वं प्रणीता य इमे पदार्थाः।
ते चैहिका ऐहिकदायिनस्तत्, फलन्त्यथाऽत्रैव यतोऽग्रतो न ॥ ७ ॥

१. पुनरास्तिकः प्राह। २ जानीहि।

टीका—अत्रैव पुष्टिमाह–पुनरित्यादिना ‘ पुनरि ’ति समुच्चये, ‘ हे बुध ! ’–हे विद्वन् !, ‘ स्वकीये हृदि ’–स्वमानसे, ‘अवस्य’–जानीहि, यत् ये ‘इमे’–प्रसिद्धाः, ‘पूर्वे’–पूर्वं, ‘प्रणीताः’–कथिताः पदार्थाः सन्ति, पूर्वं कथिता ये चिन्तामण्यादि पदार्थाः सन्तीतिभावः, ‘च’ शब्दश्चरणपूर्तौ, ‘ते’–पूर्वोक्ताः पदार्थाः, ‘ऐहिकाः’–एतत्संसारवर्तिनः, सन्ति, ‘तत्’–तस्मात् कारणात्, ते ‘ ऐहिकदायिनः ’–संसारभाविफलप्रदाः सन्ति, ‘अथे’ति समुच्चये, ते ‘अत्रैव’–अस्मिन्नेव संसारे, ‘फलन्ति ’–फलदा भवन्ति, अत्र हेतुमाह–यत इत्यादिना ‘यतः’–यस्मात् कारणात्, ते ‘अग्रतः’–अग्रे, परभव इत्यर्थः, न फलन्ति ॥७॥

मूलम्—मनुष्यसम्बन्धिभवस्य तुच्छ-कालीनभावादिति तुच्छमेभ्यः ।
प्राप्यं फलं तेन मनुष्यजन्म-न्यैवाऽत्र [1]नैभ्योऽस्ति फलं [2]परत्र ॥ ८ ॥

टीका—एतदेव स्पष्टयति–मनुष्येत्यादिना ‘ इति ’ शब्दश्चरणपूर्तौ, ‘ मनुष्यसम्बन्धि ’–जनसम्बन्धिनः, ‘ भवस्य ’–संसारस्य, ‘ तुच्छकालीनभावात् ’–स्वल्पकालावस्थायित्वात्, हेतौ पञ्चमी, ‘ एभ्यः ’–पूर्वोक्तेभ्यश्चिन्तामण्यादिपदार्थेभ्यः, ‘ तुच्छं ’–स्वल्पं फलं, ‘ प्राप्यं ’–लभ्यम्, भवति, ‘ तेन ’–कारणेन, ‘ अत्र ’–अस्मिन्, ‘ मनुष्यजन्मन्येव ’–मनुष्यसम्बन्धिनि भव एव, ‘ एभ्यः ’–पूर्वोक्तपदार्थेभ्यः, ‘ परत्र ’–परलोके, फलं ‘ नास्ति ’–न भवति ॥ ८ ॥

---

१. दक्षिणावर्तकादिभ्यः परत्र फलं न स्यात् अननुगामित्वात्, चर्मचक्षुर्दृश्यमानपदार्थास्तु जीवानामसहगामिनो भवन्ति, परमेश्वरपूजादिसमुत्थं पुण्यफलं अदृष्टत्वात् अदृष्टजीवेन सहगामि भवतीति तत्त्वम् । २. परलोके ।

२३

मूलम्—इदं सुहृत् ! पुण्यभवं फलं तु, महत्ततः स्याद्बहुकालभुक्त्यै ।
प्रभूतकालस्तु विना भवान्तरं, देवादिसम्बन्धि न वर्तते यतः ॥ ९ ॥

टीका—पुण्यफलगौरवं दर्शयितुमाह–इदमित्यादिना ‘ तु ’ शब्दो भिन्नक्रमद्योतनार्थः, ‘ हे सुहृत् ! ’–हे मित्र !, ‘ इदं ’–पूर्वोक्तम्, प्रसिद्धम्, ‘ पुण्यभवं फलं ’–पुण्यादुत्पन्नं फलं, ‘ महत् ’–गुरुरस्ति, ‘ तत् ’–तस्मात् कारणात्, तत् ‘ बहुकालभुक्त्यै स्यात् ’–चिरकालपर्यन्तं भोगाय भवति, प्रभूतकालः कदा लभ्यते ? इत्याह–प्रभूतेत्यादिना ‘ तु ’–शब्दो विशेषणार्थः, ‘ यतः ’–यस्मात् कारणात्, ‘ प्रभूतकालः ’–बहुसमयः, फलभोगाय भूरिसमय इत्यर्थः, ‘ देवादि-सम्बन्धि भवान्तरं विना’–देवादिसम्बन्धयुक्तो योऽन्यो भवस्तमन्तरेण, ‘ न वर्तते ’–न भवति, न लभ्यत इतिभावः ॥ ९ ॥

मूलम्—तत्पुण्यलभ्यं फलमेतदस्ति, प्रायोऽन्यजन्मान्तरयातजन्तोः ।
यद्यत्र जन्मन्युपयाति पुण्य–फलं तदा मङ्क्षु विनाशमेव ॥ १० ॥

टीका—उक्तविषयमेवाह–तदित्यादिना ‘ तत् ’–तस्मात् कारणात्, ‘ एतत् ’–पूर्वोक्तम्, ‘ पुण्यलभ्यं फलं ’–पुण्येन प्रापणीयं फलं, ‘ प्रायः’–बहुधा, ‘ अन्यजन्मान्तरयातजन्तोरस्ति ’–परभवप्राप्तप्राणिनो भवति, ‘ यदि ’–चेत्, ‘ तत्पुण्य-फलं ’–पुण्येन प्राप्यं फलम्, ‘ अत्र जन्मनि ’–अस्मिन्भवे, प्राणिनः ‘ उपयाति ’–प्राप्नोति, ‘ तदा ’–तर्हि, तत् ‘ मंक्षु ’–शीघ्रम्, ‘ एवे ’ति निश्चये, ‘ विनाशं ’–नशनम् उपयाति ॥ १० ॥

१. प्राप्त ।

मूलम्—यतो मनुष्यायुरतीव तुच्छं, मानुष्यकं देहमिदं शरारु[1]।
तद्भुज्यमानं मरणान्तरागमात्, सन्त्रुट्यतीदं पृथुपुण्यजं फलम् ॥ ११ ॥

टीका—तस्य मंक्षु विनाशित्वे हेतुमाह–यत इत्यादिना 'यतः'–यस्मात् कारणात्, 'मनुष्यायुः'–मनुष्यसम्बन्धि जीवनकालः, 'अतीवतुच्छं'–अत्यन्तं स्वल्पमस्ति, तथा 'इदं'–प्रसिद्धम्, 'मानुष्यकं देहं'–मनुष्यसम्बन्धि शरीरं, 'शरारु'–विनश्वरमस्ति, 'तत्'–तस्मात् कारणात्, 'भुज्यमानं'–भोगं नीयमानम् फलम्, 'मरणान्तरागमात्'–मृत्योर्मध्ये[2] समागमात्, 'सन्त्रुट्यति'–छिद्यते, परन्तु 'इदं'–पूर्वोक्तम्, प्रसिद्धं वा, पुण्यजं फलं, 'पृथु'–विस्तीर्णमस्ति, पुण्यभावि फलं चिरमुपभुज्यत इतिभावः ॥ ११ ॥

मूलम्—सुखान्तरा दुःख[3]भवो म[4]हीयो–दुःखाय यत्स्यादतिभीतिदा मृतिः ॥
सा पुण्यजेऽस्मिन्[5]सति नैव युक्ता, तदन्यजन्मे फलमेतदेति भोः ॥ १२ ॥

टीका—पुण्यफलमहत्त्वमेवाह–सुखान्तरेत्यादिना 'सुखान्तरा'–सुखमध्ये, 'दुःखभवः'–दुःखोत्पत्तिः, 'महीयः दुःखाय'–महत्तरक्लेशाय भवति, सुखभोगकालमध्ये दुःखोत्पत्तिरतीव क्लेशदायिनी भवतीतिभावः, अत्र हेतुमाह–यदित्यादिना 'यत्'–यस्मात् कारणात्, 'मृतिरतिभीतिदा स्यात्'–मरणम् अत्यन्तं भयदं भवति, 'सा'–मृतिः, 'अस्मिन् पुण्यजे सति'–पुण्योत्पन्नेऽस्मिन् फले विद्यमाने सति, 'एवे'ति निश्चये, 'युक्ता'–योग्या, नास्ति, पुण्यजफलभोगकाले मृत्योराग-

१. विनश्वरम् । २. मध्ये । ३. उत्पत्तिः । ४. महत्तर । ५. फले ।

तिर्न साध्वितिभावः, फलितमाह–तदित्यादिना ' भोः '–इत्यामन्त्रणे, 'तत्'–तस्मात् कारणात्, ' एतत् '–पूर्वोक्तम् पुण्यजमित्यर्थः, फलम् ' अन्यजन्मे '–भवान्तरे, जन्मशब्दस्याकारान्तत्वमपि केषांचिन्मतेऽस्ति, 'एति'–प्राप्नोति ॥ १२ ॥

मूलम्—अनेकधोत्पन्नमनेकशो यथो–पभुज्यमानं बहुकालमात्रम्[1] ।
न क्षीयते पुण्यफलं तदेतत्, प्रायोऽन्यजन्मन्युदयं समेति ॥ १३ ॥

टीका—उदाहरणपूर्वकं फलितं स्पष्टयति–अनेकेत्यादिना ' यथा '–येन प्रकारेण, 'अनेकप्रकारैः'–अनेकपरिश्रमैरितिभावः, 'उत्पन्नम्'–जातम्, तथा ' अनेकशः '–अनेकवारान्, ' उपभुज्यमानम् '–भोगं नीयमानम् वस्तु, 'बहुकालमात्रं'–बहुकालयुक्तम् भवति, 'तत्'–तथा, ' एतत् '–पूर्वोक्तम्, ' पुण्यफलं '–पुण्योत्पन्नं फलम्, ' न क्षीयते '–न नश्यति, किन्तु ' प्रायः '–बहुधा, ' अन्यजन्मनि '–परभवे, 'उदयं समेति'–उदयं प्राप्नोति, उदयत इतिभावः ॥ १३ ॥

मूलम्—तथा च यत् किञ्चिदुदुग्र[2]पुण्यं, साक्षादिहैवाऽर्पयति फलानि ।
यथाहि दिव्ये परिशुद्ध्यति क्षणाद्, यः कश्चिदत्राऽस्ति जनेषु सूनृती[3] ॥ १४ ॥

टीका—अत्युग्रपुण्यफलविषयमाह–तथा चेत्यादिना ' तथा चे ' ति समुच्चये, यत् ' किञ्चित् '–किमपि, ' उग्रपुण्यम् '–अत्युग्रपुण्यम् भवति, तत् ' इहैव '–अस्मिन्नेव संसारे, ' साक्षात् '–प्रत्यक्षत्वेन, फलानि ' अर्पयति '–ददाति, अस्योदाहरणमाह–यथाहीत्यादिना ' यथा ही ' ति तद्यथेत्यर्थः, यः ' कश्चित् '–कोऽपि, ' अत्र '–अस्मिन् संसारे, ' जनेषु '–

१. बहुकालमेव स्वार्थे मात्रप्रत्ययः । २. अत्युग्र । ३. सत्यवादी ।

मनुष्याणाम् मध्ये, ' सूनृती '–सत्यवादी जनः, ' अस्ति '–विद्यते, सः ' दिव्ये '–कठिनप्रतिज्ञायाम्, ' क्षणात् '–क्षणेन, शीघ्रमेवेत्यर्थः, ' परिशुद्ध्यति '–शुद्धिं प्राप्नोति ॥ १४ ॥

मूलम्—शुद्धाय सिद्धाय च साधवे तथा–ऽण्वपि प्रदत्तं सकलार्थसिद्धये ।
स्यादैहिकामुष्मिकसर्वसौख्य–निबन्धनं बन्धनहृद् भवस्य ॥ १५ ॥

टीका—उक्तविषयमेवाह–शुद्धायेत्यादिना ' तथे ' ति समुच्चये, ' शुद्धाय '–निर्दूषणाय, ' सिद्धाय '–सिद्धिं गताय जनाय, ' च '–पुनः, ' साधवे '–मुनये, ' अण्वपि '–स्वल्पमपि, ' प्रदत्तम् '–वितीर्णम्, वस्तु ' सकलार्थसिद्धये स्यात् '–सर्वप्रयोजनसाधनाय भवति, तथा ' ऐहिकामुष्मिकसर्वसौख्यनिबन्धनं '–सांसारिकपारभा(भ)विकसकलसुखकारणम् भवति, तथा ' भवस्य '–संसारस्य, ' बन्धनहृत् '–बंधनहारि भवति ॥ १५ ॥

मूलम्—जनेऽपि कस्मैचिदनुत्तराय, क्षत्रादये स्तोकमपि[1] प्रदत्तम् ।
वारे क्वचित्केनचिदेकवेलं, तस्येष्टसिद्ध्यै भवतीह नूनम् ॥ १६ ॥
याव[2]त्त्वयं जीवति तावदस्य, स राजपुत्रः सकलार्थकारी ।
धनं हि किं दुष्टविपक्षजाता–न्मृत्यन्तकष्टादपि पा[3]त्यशङ्क[4]म् ॥ १७ ॥

टीका—उक्तविषयमेवाह–जनेऽपीत्यादिना ' क्वचिद्वारे '–कुत्राऽप्यवसरे, ' केनचित् '–केनाऽपि जनेन, ' एकवेलम् '–

१. अल्पम् । २. अयं राजपुत्रादेर्दाता कश्चिद्वैश्यादिः । ३. रक्षति । ४. प्रस्तावादेनं राजपुत्रादये दातारं प्रति राजपुत्रादिः ।

एकस्मिन्समये, सकृदितिभावः, ' अनुत्तराय '–सर्वोत्तमाय, ' कस्मैचित् '–कस्मैचन, ' क्षत्रादये '–क्षत्रियादये जनेऽपि, जनायाऽपि, जनशब्दस्य नांतत्त्वमपि केषाञ्चिन्मते विद्यते, ' स्तोकमपि '–स्वल्पमपि, ' प्रदत्तम् '–वितीर्णम् वस्तु, ' इह '–अस्मिन् संसारे, ' नूनं '–निश्चयेन, ' तस्य '–दातुर्जनस्य, ' इष्टसिद्ध्यै '–अभिष्टसाधनाय भवति, एवंकृते पुनः किं भवतीत्याह–यावदित्यादिना ' तु ' शब्दो विनिश्चये, ' यावत् '–यत्कालपर्यन्तम्, ' अयं '–दाता, ' जीवति '–प्राणान् दधाति, ' तावत् '–तत्कालपर्यन्तम्, ' अस्य '–दातुः, ' सः '–पूर्वोक्तः, ' राजपुत्रः '–क्षत्रियः, ' सकलार्थकारी '–सर्वकार्यसाधको भवति, ' ही ' ति चरणपूर्त्तौ, ' घनं किमिति '–अत्र विषये किं वक्तव्यमित्यर्थः, ' सः '–क्षत्रियादि, ' दुष्टविपक्षजातात् '–दुष्टशत्रुसमूहात्, ' अपि '–शब्दः समुच्चये, ' मृत्यन्तकष्टात् '–मरणान्तक्लेशात्, ' अशङ्कम् '–शङ्कारहितम्, यथा स्यात्तथा निसन्देहमिति यावत् उक्तदातारम्, ' पाति '–रक्षति ॥ १६–१७ ॥

मूलम्—एवं हि कुत्राऽवसरे किलैक–वारं महत्पुण्यमुपार्जितं यैः ।
तेषां तदत्राऽपि परत्र लोके, सत्सौख्यसन्तानविधानहेतुः ॥ १८ ॥

टीका—उग्रपुण्यफलविषयमेवाह–एवमित्यादिना ' ही 'ति चरणपूर्त्तौ, ' एवम् '–अनया रीत्या, ' कुत्राऽवसरे '–क्वचित्समये, ' किले 'ति निश्चयेन, ' एकवारं '–सकृत्, ' यैः '–जनैः, ' महत् '–प्रभूतं पुण्यम्, ' उपार्जितम् '–प्राप्तम्, संग्रहीतमिति यावत्, ' तं '–महत्पुण्यम्, ' तेषाम् '–जनानाम्, ' अत्र '–अस्मिन्संसारे, ' अपि ' शब्दः समुच्चये, ' परत्र लोके '–परभवे, ' सत्सौख्यसन्तानविधानहेतुः '–श्रेष्ठसुखसन्ततिकारणनिमित्तं भवति ॥ १८ ॥

मूलम्—पुनस्त्वतीवोग्रतमं यदत्र, पुण्यं च पापं समुपार्जि पुंसा ।
अनेकपुंसामपि भुक्तये त–च्छालेरिव स्त्रैणयुजश्च चोरवत् ॥ १९ ॥

टीका—उग्रतमपुण्यपापफलदर्शयितुमाह–पुनरित्यादि 'पुनरि'ति समुच्चये, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'अत्र'–अस्मिन्संसारे, 'अतीव'–अत्यन्तम्, 'उग्रतमम्'–अतिशयेनोग्रं, 'यत्'–पुण्यम्, 'च'–पुनः पापं, 'पुंसा'–जनेन, 'समुपार्जि'–अर्जितम्, 'तत्'–उग्रतमं पुण्यं पापं च, 'अनेकपुंसामपि'–अनेकजनानामपि, 'भुक्तये'–भोगाय भवति, अत्रोदाहरणमाह–क्रमशः शालेरिवेत्यादिना 'स्त्रैणयुतः'–स्त्रीसमूहयुक्तस्य, 'शालेरिव'–शालिभद्रस्येव, 'च'–पुनः, 'चोरवत्'–तस्करस्येव, पुण्यफलं स्त्रीसमूहयुक्तस्य शालिभद्रस्य भुक्तये यथाऽभूत्तथैवाऽन्यत्राऽप्यनेकपुंसां भोग्यं भवति पापफलम् च स्त्रीसमूहयुक्तस्य चोरस्य भुक्तये यथा भवति तथैवाऽन्यत्राऽप्यनेकपुंसां भोग्यं भवतीतिभावः ॥ १९ ॥

मूलम्—यथैककः कश्चन राजसेवां, कृत्वा सुखी स्यात्परिवारयुक्तः ।
एकस्तथा कोऽपि नृपाऽपराधी, निहन्यतेऽसौ सपरिच्छदोऽपि ॥ २० ॥

टीका—उक्तविषयमेवोदाहरणेन स्पष्टयति–यथैकक इत्यादिना, 'यथा'–येन प्रकारेण, 'एककः'–एकः, 'कश्चन'–कोऽपि जनः, 'राजसेवां कृत्वा'–राज्ञः सेवनं विधाय, 'परिवारयुक्तः'–कुटुम्बसमेतः, 'सुखीस्यात्'–सौख्ययुक्तो भवति,

१. शालिभद्रस्येव स्त्रीसमूहयुक्तस्य भुक्तये पुण्यफलमभूत् च पुनः चोरस्येव स्त्रीसमूहादियुक्तस्य पापफलं भुक्तये स्यात्तथेति ।

'तथा'–तेनैव प्रकारेण, 'यदि' 'एकः' 'कोऽपि'–कश्चन, 'नृपाऽपराधी'–नृपाऽपराधकर्त्ता जनः, भवति तर्हि 'असौ'–पूर्वोक्तो जनः, 'सपरिच्छदोऽपि'–परिवारयुक्तोऽपि, 'निहन्यते'–मार्यते ॥ २० ॥

परमेश्वरनामस्मरणस्याऽपि आवश्यकतां नवभिः श्लोकैराह—

मूलम्—यद्येवमर्चादिक[1]पुण्यमेतत्, सर्वात्मना[2] स्वार्थकरं निरुक्तम् ।
तदैतदेवाद्रियतां जनौघः, किं नामजापे विहिता प्रवृत्तिः ॥ २१ ॥

टीका—अत्र प्रश्नयति 'यद्येवमिति'–यद्येवमित्यादिना, 'यदि'–चेत्, 'एतत्'–पूर्वोक्तं, 'अर्चादिकपुण्यम्'–पूजादिपुण्यम्, 'एवम्'–उक्तरीत्याऽभवत्, कथितप्रकारेणेत्यर्थः, 'सर्वात्मना'–सर्वप्रकारेण, 'स्वार्थकरं'–स्वप्रयोजन-साधकं, 'निरुक्तं'–कथितमस्ति, 'तदा'–तर्हि, 'जनौघः'–जनसमूहः, 'एतदेव'–पूजादिपुण्यमेव, 'आद्रियतां'–सत्करोतु, गृह्णीया(दा)द्रियादितिभावः, 'नामजापे'–भगवतो नाम्नो जपने, 'प्रवृत्तिः'–प्रवर्तनं, 'किं' 'विहिता'–प्रतिपादिताऽस्ति ॥ २१ ॥

मूलम्—साधूच्यते साधुजन ! त्वयेदं, परं विवेकोऽत्र कृतो महद्भिः ।
इमे गृहस्थाः खलु ये समर्था–स्ते द्रव्यभावाऽर्चनका[3]धिकारिणः ॥ २२ ॥

१. पूजादि । २. सर्वप्रकारेण । ३. पूजनक ।

ये योगिनो द्रव्यपरिग्रहेण, विना विभान्तीह भवे महान्तः ।
तेषां त्वधीशस्मृतिरेव युक्ता, तयैव तत्स्वार्थकृतिः समस्ता ॥ २३ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–साधूच्यत इत्यादिना ' हे साधुजन ! '–हे श्रेष्ठजन !, त्वया ' इदं '–पूर्वोक्तं वचनं, ' साधूच्यते '–प्रशस्तं कथ्यते, ' परं '–परन्तु, ' अत्र '–अस्मिन् विषये, पूजानामजापविषयमित्यर्थः, ' महद्भिः '–महात्मभिर्जैनैः, ' विवेककृतः '–विवेचनम् कृतमस्ति, अधिकारभेदेनोक्तविषययोर्भेदः प्रतिपादित इत्यर्थो भेदमेव दर्शयति–इम इत्यादिना ' खल्वि 'ति निश्चयेन, ये ' इमे '–प्रसिद्धाः, ' गृहस्थाः '–गृहिणः, ' समर्थाः '–शक्ताः सन्ति, ' ते '–गृहस्थाः, ' द्रव्यभावार्चनकाधिकारिणः '–द्रव्यभावद्वारा पूजाया अधिकारिणः सन्ति, परन्तु ' इहभवे '–अस्मिन्संसारे, ये ' महान्तः '–महात्मनः, ' योगिनः ' योगाभ्यासकर्त्तारो जनाः, ' द्रव्यपरिग्रहेण विना विभान्ति '–अर्थग्रहणमन्तरा शोभन्ते, निष्परिग्रहा वर्त्तन्त इतिभावः, ' तेषां '–पूर्वोक्तानाम्, ' महतां '–योगिनाम्, ' तु ' शब्दो भिन्नक्रमप्रदर्शनार्थः, ' अधीशस्मृतिरेव युक्ता '–भगवन्नामजाप एव योग्योऽस्ति, कुत इत्याह–तथैवेत्यादिना यतः ' समस्ता '–सर्वा, ' तत्स्वार्थकृतिः '–तेषां योगिनां स्वार्थस्य सिद्धिः, ' तथैव '–अधीशस्मृत्यैव सञ्जायते ॥ २२–२३ ॥

---

१. भगवत् । २. अधीशस्मृत्या । ३. तेषां योगिनां स्वार्थसिद्धिः सर्वाऽपि भवेत् ।

मूलम्—यथा विषं गारुडहंसजाङ्गुली-मन्त्रस्य जापाच्छ्रवणाच्च देहिनाम् ।
मूर्च्छावतां तत्त्वमजानतामपि, विनश्यतीत्थं भगवत्स्मृतेरघम् ॥ २४ ॥

टीका—अधीशस्मृत्यैव कथं तेषां स्वार्थसिद्धिरित्युदाहरणद्वारा दर्शयति–यथेत्यादिना 'यथा'–येन प्रकारेण, 'गारुडहंसजाङ्गुलीमन्त्रस्य'–गरुडसम्बन्धिमन्त्रस्य हंससम्बन्धिमन्त्रस्य जाङ्गुलीमन्त्रस्य च, 'जापात्'–जपनात्, 'च'–पुनः, 'श्रवणात्'–श्रवणेन, 'मूर्च्छावतां'–मूर्च्छां प्राप्तानाम्, 'देहिनाम्'–प्राणिनाम्, 'विषं'–गरलं, 'विनश्यति'–नाशं याति, 'इत्थम्'–अनयैव रीत्या, 'तत्त्वमजानतामपि'–तत्वमज्ञातॄणामपि जनानाम्, 'अघं'–पापम्, 'भगवत्स्मृतेः'–भगवतः स्मरणेन विनश्यति ॥ २४ ॥

मूलम्—तथाऽस्थिभक्षीति हुमायपक्षी, प्रसिद्धिमान्सन्ततजीवरक्षी ।
उड्डीयमानस्य यदस्य छाया, यन्मूर्द्धगा सोऽत्र भवेन्नरेन्द्रः ॥ २५ ॥

---

१. ननु योगिनः सम्यग्भगवत्स्वरूपं यथास्थितं न विदन्ति भगवानपि निःस्पृहो नीरागश्च ततः केवल भगवत्स्मृत्या एव योगिनां किं सिद्ध्येदित्याह यथा विषमिति । ननु भगवद्ध्यायका योगिनस्तु यदि भगवत्स्वरूपं न जानन्ति, परं भगवांस्तु जानाति अयं ध्याता मां ध्यायति एव गारुडिको गारुडादिमन्त्रान्वेत्ति परं विषार्त्तो यद्यपि गारुडादिमन्त्रस्वरूपं न जानाति तथाऽप्यस्य गारुडिकप्रयुक्तगारुडादिमन्त्रप्रयोगाद्विषनाश एवं योगिनोऽपि सम्यग्भगवज्ज्ञानाभावेऽपि भगवन्नामाक्षरप्रभावात् दुष्कर्मक्षये पापं नश्यतीति एवमेकपक्षभूतेऽपि ज्ञानेऽभीष्टसिद्धिः । २. आस्तामेकपक्षजमपि ज्ञानमुभयपक्षविकलेऽपि ज्ञाने संयोगमात्रादपीष्टसिद्धिर्यथा हुमायपक्षिणो यस्य शिरसि छाया निपतति स पातसाहिर्भवति तत्र हुमायोऽपि न वेत्ति यदस्य

आत्मज्ञानेनैव केवलराजयोगेन वा मुक्तिर्भवति एतद्विषये वैष्णवादिसर्वजनकथनस्यैकवाक्यता घटना इति द्वाविंशतिश्लोकैराह—

मूलम्—हे स्वामिनः ! यूयमिति प्रवक्थ, यदात्मबोधान्न विनाऽस्ति मुक्तिः ॥
तर्हीतरेऽन्यांन्कथमाहुरस्या, हेतूंस्तदुक्तिर्न समा तथाहि ? ॥ १ ॥

१. वैष्णवादयः । २. विष्णुप्रमुखान् हेतून् । ३. तस्मात्कारणादियं भवतां उक्तिरन्यैर्न समा वाऽन्येषामुक्तिर्न भवद्भिः समा ।

'मस्तके'—शिरसि, 'असौ'—पक्षी, छायां करोति, अवेदने हेतुमाह—मतमित्यादिना यतः 'द्वयोः'—पक्षिजनयोः, 'मतम्'—अभीष्टम् नाऽस्ति, 'तथापि'—तदपि, 'तच्छायमहात्मतोदयात्'—तस्य पक्षिणश्छायाया महत्त्वस्योदयेन, 'दरिद्रतापहा'—दारिद्र्यनाशिनी, 'अधीशतोदेति'—स्वामित्वमुदयते, अथवा 'अजानतोरपि'—अबुध्यमानयोरपि, 'एवम्'—उक्तरीत्या, 'सिद्धिः'—कार्यसफलता भवति, तर्हि, 'ईशितुः'—स्वामिनः, भगवत इति यावत्, 'स्मृतेः'—स्मरणेन, पापं 'कथं न याति'—कुतो नाऽपगच्छति, उक्तप्रकारेण स्वामिनामजापेनाऽपि पापमपयात्येवेतिभावः ॥ २५--२७ ॥

मूलम्—अस्मिन्[1]गते सर्वत आत्मशुद्धिः, सत्याममु[2]ष्यां परमात्मबोधः ।
जातेऽत्र[3] नो कश्चन कर्मबन्धः, कर्मप्रणाशे किल मोक्षलक्ष्मीः ॥ २८ ॥
अ[4]स्यां हि सत्यां स्थितिरक्षया स्याद्, अनन्तविज्ञानमनन्तदृष्टिः ।
एकस्वभावत्वमनन्तवीर्यं, जागर्त्ति सज्ज्योतिरनन्तसौख्यम् ॥ २९ ॥

टीका—नामस्मृत्या पापेऽपगते फलमाह—अस्मिन्नित्यादिना 'अस्मिन्'—पूर्वोक्ते पापे, 'गते'—नष्टे सति, 'सर्वतः'—सर्वप्रकारेण, 'आत्मशुद्धिः'—आत्मनो नैर्मल्यं भवति, 'अमुष्याम् सत्याम्'—आत्मशुद्धौ जातायाम्, 'परमात्मबोधः'—परमात्मनो ज्ञानम् भवति, 'अत्र'—अस्मिन् परमात्मबोधे, 'जाते'—समुत्पन्ने, 'कश्चन'—कोऽपि, 'कर्मबन्धः'—कर्मणां योगः, 'नो'—नैव, भवति, 'किले'ति निश्चयेन, 'कर्मप्रणाशे'—कर्मणां नाशे सति, 'मोक्षलक्ष्मीः'—मुक्तिसम्पत्,

१ पापे । २. आत्मशुद्धौ । ३. परमात्मबोधे । ४. मोक्षलक्ष्म्यां ।

भवति, ' ही 'ति निश्चयेन, ' अस्यां सत्याम् '—मोक्षलक्ष्म्यां जातायाम्, ' अक्षया स्थितिः स्यात् '—अविनाशिनी स्थितिर्भवति, ' अनन्तविज्ञानम् '—अन्तरहितं ज्ञानम् भवति, ' अनन्तदृष्टिः '—अन्तरहितम् दर्शनम् भवति, ' एकस्वभावत्वम् '—एकरसस्वभावसद्भावो भवति, ' अनन्तवीर्यम् '—अन्तरहितम् शौर्यम् भवति, ' सज्ज्योतिः '—सतो गुणस्य तेजो जागर्त्ति, ' प्रबोधमुपयाति '—तथा अनन्तसौख्यमन्तरहितं सुखम् भवति ॥ २८–२९ ॥

श्री जैनतत्त्वसारे नास्तिकस्य द्रव्यभावधर्मफलसम्प्रापणोक्तिलेश एकोनविंशोऽधिकारः

अथ विंशतितमोऽधिकारः

आत्मज्ञानेनैव केवलराजयोगेन वा मुक्तिर्भवति एतद्विषये वैष्णवादिसर्वजनकथनस्यैकवाक्यता घटना इति द्वाविंशतिश्लोकैराह—

मूलम्—हे स्वामिनः ! यूयमिति प्रवक्थ, यदात्मबोधान्न विनाऽस्ति मुक्तिः ॥
तर्हीतरे[1]ऽन्यांन्कथमाहुरस्या, हेतूं[2]स्तदुक्ति[3]र्न समा तथाहि ? ॥ १ ॥

१. वैष्णवादयः । २. विष्णुप्रमुखान् हेतून् । ३. तस्मात्कारणादियं भवतां उक्तिरन्यैर्न समा वाऽन्येषामुक्तिर्न भवद्भिः समा ।

ये वैष्णवाः केंचन विष्णुवादिनो, विष्णोः सकाशान्निगदन्ति मुक्तिम् ।
ये ब्रह्मनिष्ठाः किल ब्रह्मणस्तां, शैवाः शिवाच्छक्तिकृतां तु शाक्ताः ॥ २ ॥
तेषां न चात्मावगमो निदानं, मुक्तेस्तदा नास्त्यथ निर्णयोऽयम् ।
यदात्मबोधाज्जनितैव मुक्ति–स्ततः किमेवं क्रियते विनिश्चयः ॥ ३ ॥

टीका—मुक्तिविषये प्रश्नयति–हे स्वामिनः ! इत्यादिना ' हे स्वामिनः ! '–हे ईशाः !, आदरार्थे बहुवचनम्, ' यूयं ' ' इति '–एतद् वक्ष्यमाणम्, ' प्रवक्थ '–कथयथ, यत् आत्मज्ञानमन्तरेण, ' मुक्तिर्नास्ति '–मोक्षो न भवति, ' तर्हि '–तदा, ' इतरे '–अन्ये, वैष्णवादय इतिभावः, ' अस्याः '–मुक्तेः, ' हेतून् '–कारणानि, ' अन्यान् '–इतरान्, विष्णवादीनिति-भावः, ' कथमाहुः ? '–कुतः कथयन्ति ?, ' तत् '–तस्मात् कारणात्, ' उक्तिः समा '–कथनं समानं, नास्ति, ' भवतः '–वैष्णवादीनां च, मुक्तिहेतुविषये कथनं तुल्यं नास्तीतिभावः, एतदेव दर्शयति–तथाहीत्यादिना ' तथाही 'ति–तद्यथेत्यर्थः, ये ' केचन '–केऽपि, ' विष्णुवादिनः '–विष्णुवक्तारः, जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुविष्णुरिति मन्तार इतिभावः ' वैष्णवाः '–विष्णुमन्तारः, विष्णूपासका इतिभावः, जनाः सन्ति ते ' विष्णोः सकाशात् '–विष्णुद्वारा, ' मुक्तिं निगदन्ति '–मोक्षं

१. ननु यदि वैष्णवादीनां विष्णुमुख्येभ्यो मुक्तिस्तर्हि अयं यो निश्चयो भवद्भिः प्रोच्यते स निश्चयो न ऐकान्तिकः कोऽयं निर्णयः यद्यस्मात् आत्मबोधादेव मुक्तिर्जायते अयं निश्चयो न युक्तो मुक्तेर्बहुहेतुप्राप्यत्वात् तत्तस्मात् कारणात् एवं पूर्वोक्तो यो विनिश्चयः किमिति कथं क्रियते इति पृच्छन्तमाह सत्यं यद्देते ॥

कथयन्ति, विष्णूपासनेन मुक्तिर्भवतीति कथयन्तीतिभावः, 'किले'ति स्ववार्तायाम्, 'ये ब्रह्मनिष्ठाः'—ब्रह्मणि विधौ निष्ठा—भक्तिर्येषां ते तथा ब्रह्मोपासका इतिभावः, जनाः सन्ति ते 'तां'—मुक्तिं, 'ब्रह्मणः'—ब्रह्मसकाशात्, 'निगदन्ति'—ब्रह्मोपासनेन मुक्तिर्भवतीति कथयन्तीतिभावः, 'ये शैवाः'—शिवोपासकाः, जनाः सन्ति ते ताम् 'शिवात्'—शिवसकाशात्, 'निगदन्ति'—शिवोपासनेन मुक्तिर्भवतीति कथयन्तीतिभावः, 'तु'—पुनः, ये 'शक्ताः'—शक्त्युपासका जनाः, सन्ति ते ताम्, 'शक्तिकृताम्'—शक्तिदेवताविहिताम्, 'निगदन्ति'—शक्त्युपासनेन मुक्तिर्भवतीति कथयन्तीतिभावः, फलितमाह—तेषामित्यादिना यदा 'तेषाम्'—वैष्णवादीनाम् जनानाम्, मते 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'आत्मावगमः'—आत्मज्ञानम्, 'मुक्तेः'—मोक्षस्य, 'निदानं'—कारणं, नास्ति, 'तदा'—तर्हि, भवतः, 'अयं'—वक्ष्यमाणः, 'निर्णयः'—निश्चयः, 'नास्ति'—न विद्यते, 'अथ'—शब्दश्चरणपूर्त्तौ, यत् मुक्तिः, 'आत्मबोधादेव'—आत्मज्ञानादेव, 'जनिता'—उत्पन्ना भवति, 'ततः'—तर्हि, भवता 'एवम्'—उक्तरीत्या, 'विनिश्चयः'—निर्णयः, 'किं क्रियते ?'—कथं विधीयते ? ॥ १–३ ॥

मूलम्—सत्यं यदेते किल लोकरूढि–रूढास्तु विष्णवादिकभिन्नवीक्षिणः ।
परन्तु तत्त्वार्थत एष आत्मै–वार्थोऽभिवाच्यो ननु विष्णुमुख्यैः ॥ ४ ॥

टीका—अथोत्तरमाह सत्यमित्यादिना 'सत्यमिति'—एतत्तव कथनं सत्यमस्तीत्यर्थः, यत् 'किले'ति निश्चये, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'एते'—पूर्वोक्ता वैष्णवादयः, 'लोकरूढिरूढाः'—लोकशैलीप्राप्ताः सन्तः, 'विष्णवादिकभिन्नवीक्षिणः'—

१. परमार्थतः ।

विष्णवादिकं विभिन्नत्वेन द्रष्टारः सन्ति, ' परन्तु '–किन्तु, ' तत्त्वार्थतः '–परमार्थतः, वास्तवमितिभावः, ' एषः '–प्रसिद्धः, ' आत्मा एवार्थः '–जीव एव पदार्थः, ' नन्विति '–निश्चयेन, ' विष्णुमुख्यैः '–विष्णवादिशब्दैः, ' अभिवाच्यः '–अभिधेयोऽस्ति, तत्त्वार्थतो विष्णवादिशब्दा आत्मपदार्थस्यैव वाचकाः सन्तीतिभावः ॥ ४ ॥

मूलम्—कथं हि वेवेष्ट्यथ विष्णुरात्मा, व्याप्तेरथ ब्रह्म तथैष आत्मा ।
शिवोऽपि चात्मा शिवहेतुतः स्या–च्छक्तिस्तथाऽऽत्मश्रितवीर्यमेतत् ॥ ५ ॥

टीका—प्रश्नोत्तरदानपूर्वकमुक्तविषयमेव विवृणोति कथमित्यादिना ' ही 'ति निश्चये, चरणपूर्त्तौ वा, ' कथमिति '–भवत उक्तकथनं कथं सम्भवतीतिभावः, उत्तरमाह–वेवेष्टीत्यादिना ' आत्मा '–जीवः, ' वेवेष्टि '–व्याप्नोति, ' अथ '–शब्द इति शब्दार्थः, स च हेतौ इति हेतोरितिभावः, ' सः '–विष्णुः, उच्यते, ' अथे 'ति अनन्तरे, ' तथे 'ति समुच्चये, ' एषः '–प्रसिद्धः, पूर्वोक्तो वा, ' आत्मा '–जीवः, ' व्याप्तेः '–व्याप्तिहेतोः, ब्रह्म उच्यते, ' च '–पुनः, ' अपि '–शब्दः समुच्चये, ' आत्मा '–जीवः, ' शिवहेतुतः '–कल्याणकारणभावात्, ' शिवः स्यात् '–शिवो भवति, शिव उच्यत इतिभावः, ' तथे 'ति समुच्चये, ' एतत् '–प्रसिद्धम्, ' आत्मश्रितवीर्यं '–जीवस्थितपराक्रमः शक्तिरुच्यते, केवलज्ञानज्ञातलोकालोक-

१. केवलज्ञानज्ञातलोकालोकस्वरूपो ज्ञानात्मना व्यापकत्वेन विष्णुः। परब्रह्मसञ्ज्ञनिजशुद्धात्मभावनात्मकत्वेन ब्रह्मा। शिवं निर्वाण प्राप्तं येनेति शिवः कर्ममुक्तः सिद्धत्वावस्थामधिश्रित., यदुच्यते योगवासिष्ठादौ ' जीवः शिवः शिवो जीवो, नान्तरं शिवजीवयोः। कर्मबद्धो भवेज्जीवः, कर्ममुक्तः सदा शिवः।" इति यद्वा अत्रत्यभावापेक्षया शिवमस्यास्तीति शिवः शिवसत्तावान् इत्यर्थः ॥

स्वरूपो ज्ञानात्मना व्यापकत्वेनाऽऽत्मा विष्णुरुच्यते, परब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धात्मभावनात्मकत्वेन स ब्रह्मोच्यते कर्ममुक्तः सन् सिद्धत्वाऽवस्थामधिश्रितो निर्वाणं प्राप्तत्वात् स शिव उच्यते तद्वीर्यं च शक्तिरुच्यत इतिभावः ॥ ५ ॥

मूलम्—इत्थं हि सर्वैरपि विष्णुमुख्यैः, शब्दैरसावात्मक एव बोध्यः ।
ततस्त्वतो मुक्तिरियं न कस्मात्, प्राप्येति तत्त्वं हृदि तैरपीक्ष्यम् ॥ ६ ॥

टीका—फलितमाह–इत्थमित्यादिना ' इति '–निश्चयेन, ' इत्थम् '–अनया रीत्या, ' सर्वैरपि '–सकलैरपि, ' विष्णुमुख्यैः '–विष्णवादिभिः शब्दैः, ' असौ '–पूर्वोक्तः, ' आत्मक एव '–जीव एव, ' बोध्यः '–ज्ञेयो भवति, ' ततः '–तस्मात् कारणात्, ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' अतः '–आत्मनः, आत्मज्ञानादितिभावः, ' इयं '–पूर्वोक्ता मुक्तिः, ' कस्मान्न प्राप्या '–कुतो न लभ्याऽस्ति ? ' इति '–एतत्, ' तत्त्वं '–यथार्थविषयः, ' तैरपि '–विष्णवादिभिरपि, ' हृदि '–हृदये, ' ईक्ष्यम् '–विचारणीयम् ॥ ६ ॥

मूलम्—चेन्नेति विष्णुप्रमुखेभ्य एभ्यः, मुक्तिस्तदा वैष्णवमुख्यलोकाः ।
सन्तो गृहस्था इह विष्णुमुख्यान्, एवाऽर्चयन्तः परितो जपन्तु ॥ ७ ॥
परं तपः संयमयुक्तता क्षमा, निःसङ्गता रागरुषापनोदौ ।
पञ्चेन्द्रियाणां विषयाद्विरागो, ध्यानात्मबोधादि विधीयते कथं ? ॥ ८ ॥

१. विचारणीयम् ।

टीका—अन्यथा दूषणमाह–चेदित्यादिना ' चेत् '–यदि, ' इति '–एतत् मम कथनमित्यर्थः, ' न अस्ति '–यदि मम कथनं तथ्यं नास्तीतिभावः, तथा ' एभ्यः '–पूर्वोक्तेभ्यः, ' विष्णुप्रमुखेभ्यः '–विष्णवादिभ्यः मुक्तिर्भवति, ' तदा '–तर्हि, ' इह '–अस्मिन्संसारे, ' वैष्णवमुख्यलोकाः '–वैष्णवादयो जनाः, ' सन्तः '–साधवः, तथा ' गृहस्थाः '–गृहिणोऽपि, ' विष्णुमुख्यानेव '–विष्णवादीनेव, ' अर्चयन्तः '–पूजयन्तः सन्तः, ' परितः '–समन्तात्, तानेव ' जपन्तु '–ध्यायन्तु, ' परम् '–परन्तु, ' तपः '–तपश्चर्या, ' संयमयुक्तता '–संयमे तत्परता, ' क्षमा '–क्षान्तिः, ' निःसङ्गता '–सङ्गराहित्यम्, सङ्गपरित्याग इतिभावः, ' रागरुपापनोदौ '–रागद्वेषयोः पृथक्करणम्, ' पञ्चेन्द्रियाणाम् '–श्रोत्रादीनाम्, ' विषयात् '–स्वस्वविषयेभ्यः, ' विरामः '–विरक्तिः, निवृत्तिरितिभावः, तथा ' ध्यानात्मबोधादि '–ध्यानं आत्मज्ञानादिकश्च तैः, ' कथं विधीयते '–किं क्रियते ? ॥ ७–८ ॥

मूलम्—एषैव सेवा ननु विष्णुब्रह्मा–दीनां तदेयं कुत आश्रिताऽस्ति ? ।
भोस्तेभ्य एवेति तदा न तेषाम्, वागस्ति हस्तोऽपि यतोऽन्यबोधः[1] ॥ ९ ॥

टीका—अत्राऽऽशङ्कते–एषैवेत्यादिना ' नन्वि 'ति वितर्के, ' विष्णुब्रह्मादीनाम् '–विष्णुब्रह्मप्रभृतीनाम्, ' एषा '–पूर्वोक्ता, ' सेवैव '–सेवनमेवाऽस्ति, तपश्चर्यादिकं विष्णुब्रह्मादीनां सेवैवाऽस्ति, ननु सेवातः पृथक्कृत्यमितिभावः अस्योत्तरमाह–तदेत्यादिना–यदि त्वमेवं वक्षि ' तदा '–तर्हि, ' इयं '–सेवा, तपश्चर्यादिरूपसेवेतिभावः, ' कुत आश्रिताऽस्ति ? '–

१. ज्ञानम् ।

कस्मात् प्रवृत्तिं गता भवति ? इति त्वं वद, वाद्याह–' भो '–इत्यामन्त्रणे, ' इयं '–तपश्चर्यादिरूपसेवा, ' तेभ्य एव '–विष्णुब्रह्मादिभ्य एव, प्रवृत्तिं गता इति शब्दो वाक्यपरिसमाप्तौ, अस्योत्तरमाह–तदेत्यादिना ' तदा '–तर्हि, यदि तपश्चर्यादिरूपसेवा विष्णुब्रह्मादिभ्य एव प्रवृत्तिं गता तर्हीतिभावः, ' तेषां '–विष्णुब्रह्मादिनां, ' वाग् '–वाणी, ' नास्ति '–न विद्यते, तथा ' हस्तोऽपि '–करोऽपि नास्ति, ' यतः '–यद्वशात्, ' अन्यबोधः '–अन्यस्य ज्ञानम् भवेत्, विष्णुब्रह्मादीनां वाग्हस्ताभावादन्यबोधविरहात्तेभ्यस्तपश्चर्यादिरूपसेवा प्रवृत्तिं गतेति न वक्तुं शक्यत इतिभावः ॥ ९ ॥

मूलम्—तद्ध्यायियोगिभ्य इयं प्रवृत्ति–स्तत्तैः कुतोऽसौ निर्गदोपलब्धा ?[1] ।
अध्यात्मयोगादिति चेत्तदानीं, तस्य प्रणेताऽभवदत्र को भोः ? ॥ १० ॥
निरञ्जनैर्निष्क्रियकैर्न चाऽयं, वक्तुं हि योग्यः खलु विष्णुमुख्यैः ।
सोऽध्यात्मयोगः कुत आविरासीत्, वेदादियोगिभ्य इति प्रवादः ॥ ११ ॥
तैरप्यसावात्मभवावबोधा–दध्यात्मयोगोऽवगतो न चाऽन्यतः ।
अनिन्द्रियान्निष्क्रियकान्निरञ्जना–न्नित्यैकरूपान्न तु विष्णुमुख्यात् ॥ १२ ॥

टीका—वाद्याह–तद्ध्यायियोगिभ्य इत्यादि ' तद्ध्यायियोगिभ्यः '–विष्णुब्रह्मादिध्यानकर्तृयोगिजनेभ्यः, तपश्चर्यादिरूपसेवायाः, ' इयं '–पूर्वोक्तप्रवृत्तिर्भवति, अस्योत्तरमाह–तदित्यादिना यदि तद्ध्यायियोगिभ्यस्तपश्चर्यादिरूपसेवायाः

१. वद ।

प्रवृत्तिर्भवति ‘ तत् ’–तर्हि, ‘ तैः ’–तद्ध्यायियोगिभिः, ‘ असौ ’–तपश्चर्यादिरूपसेवा, ‘ कुत उपलब्धा ? ’–कस्मात् प्राप्ता ? इति त्वं ‘ निगद ’–वद, वाद्याह–अध्यात्मेत्यादि ‘ अध्यात्मयोगात् ’–आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तो यो योगस्तस्मात्, तद्ध्यायिभिस्तपश्चर्यादिरूपसेवा प्राप्ता अस्योत्तरमाह–चेदित्यादिना ‘ चेत् ’–यदि, त्वम् ‘ इति ’–एतत् वदसि तर्हि ‘ भो ’–इत्यामन्त्रणे, ‘ तदानीं ’–तस्मिन्काले, ‘ अत्र ’–अस्मिन्संसारे, ‘ तस्य प्रणेता ’–अध्यात्मयोगस्य निर्माता, ‘ कोऽभवत् ? ’–को जन आसीत् ? वादिहृदयस्थशङ्कामपनेतुमाह–निरञ्जनैरित्यादि ‘ खल्वि ’ ति निश्चये, ‘ हि ’ शब्दश्चरणपूर्तौ, ‘ निरञ्जनैः ’–निर्लेपैः, ‘ च ’–पुनः, ‘ निष्क्रियकैः ’–क्रियारहितैः, ‘ विष्णुमुख्यैः ’–विष्णुप्रभृतिभिः, ‘ अयम् ’–अध्यात्मयोगः, प्रणीतः, ‘ वक्तुं ’–कथयितुम् , ‘ न योग्यः ’–नार्होऽस्ति, एवं च सति ‘ सः ’–पूर्वोक्तः, ‘ अध्यात्मयोगः ’–आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तो योगः, ‘ कुत आविरासीत् ’–कस्मात् प्रादुर्बभूव, वाद्याह–आदीत्यादि ‘ आदियोगिभ्यः ’–सृष्ट्यादौ ये योगिन आसंस्तेभ्यः, ‘ अयम् ’–अध्यात्मयोगः, आविरासीत् इति एव प्रवादोऽस्ति, अस्योत्तरमाह–चेदित्यादिना ‘ चेत् ’–यदि, त्वमेवं ब्रवीषि तर्हि शृणु ‘ तैरपि ’–आदियोगिभिरपि, ‘ असौ ’–पूर्वोक्तोऽध्यात्मयोगः, ‘ आत्मभवावबोधात् ’–आत्मोत्पन्नज्ञानात् , ‘ अवगतः ’–ज्ञातोऽस्ति न चाऽन्यत इति, ‘ तैः ’–आदियोगिभिः, आत्मभावावबोधं विहायाऽन्यस्माद्ध्यात्मयोगो नाऽवगत इतिभावः, ‘ तु ’–किन्तु, ‘ अनिन्द्रियात् ’–इन्द्रियरहितात् , ‘ निष्क्रियकात् ’–क्रियारहितात् , ‘ निरञ्जनात् ’–निर्लेपात् , तथा ‘ नित्यैकरूपात् ’–सर्वदैकस्वरूपात् ‘ विष्णुमुख्यात् ’–विष्णवादेः, ‘ तैः ’–आदियोगिभिरध्यात्मयोगो नाऽवगतोऽस्ति ॥ १०–१२ ॥

मूलम्—स्वादात्मनो योऽवगमो बभूव, भावात्[1]समाख्यादुगतरागरोषात् ।
अपूर्व[2]लाभान्निखि[3]लार्थदृष्टे–रध्यात्मयोगः स्वत एव सिद्धः ॥ १३ ॥

टीका—आत्मभवावबोधात् कथमध्यात्मयोगसिद्धिरिति दर्शयितुमाह–स्वादित्यादि 'समाख्यात्' 'समनामकात् भावात्'–अंतराशयात्, समभावादित्यर्थः, 'गतरागरोपात्'–रागद्वेषप्रणाशात्, 'अपूर्वलाभात्'–अप्राप्तताद्दग्लाभात्, तथा 'निखिलार्थदृष्टेः–सकलद्रव्यदर्शनात्, सर्वत्र हेतौ पञ्चमी 'इति'–एतेभ्यो हेतुभ्यः, 'स्वात्'–स्वकीयात्, 'आत्मनः'–जीवात्, 'योऽवगमो बभूव'–यद्ज्ञानमभवत्, 'सः'–अध्यात्मयोगः, आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तो योगः, 'स्वत एव'–स्वयमेव, अन्याऽपेक्षया विनैवेतिभावः, 'सिद्धः'–सिद्धिं प्राप्तोऽस्ति ॥ १३ ॥

मूलम्—एवं हि यश्चाऽऽत्मभवात्मबोध–स्तस्मान्नृणां जायत एव मुक्तिः[4] ।
अस्या[5] न हेतुस्त्वपरोऽस्ति विष्णु–मुख्यस्तदात्माऽवगमस्पृहैष्या ॥ १४ ॥

टीका—फलितमाह–एवमित्यादिना 'ही' ति निश्चये, 'च' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'एवम्'–अनया रीत्या, 'यः'–आत्मभवात्मबोधः, स्वयमुत्पन्नम् आत्मज्ञानमस्ति, 'तस्मादेव'–पूर्वोक्तादात्मभवात्मबोधादेव, 'नृणां'–मनुष्याणाम्, 'मुक्तिः'–मोक्षः, 'जायते'–उत्पद्यते, 'तु'–किन्तु, 'अपरः'–भिन्नः, आत्मभवात्मबोधादन्य इत्यर्थः, 'विष्णु-

१. समभावात् । २. अप्राप्तताद्दग्लाभात् । ३. सकलद्रव्यदर्शनात् । ४. मुक्तेः । ५. ज्ञानम् ।

मुख्यः '-विष्णवादिः, ' अस्याः '-मुक्तेः, ' हेतुर्नास्ति '-कारणं न विद्यते, ' तत् '-तस्मात्, ' आत्मावगमस्पृहा '-आत्मज्ञानाकांक्षा, ' एष्या '-अभिलषणीयाऽस्ति ॥ १४ ॥

मूलम्—ये तु स्वभावान्निगदन्ति मुक्तिं, तत्राऽप्यसावेव निवेदितोऽर्थः ।
स्वस्याऽऽत्मनो भाव इहाप्तिरुक्ता, तदात्मलाभान्ननु सिद्धिलक्ष्मीः ॥ १५ ॥

टीका—मतान्तरं परिहर्तुमाह-ये त्वित्यादि ' तु '-पुनः, ' ये '-स्वभाववादिनो जनाः, ' स्वभावात् '-स्वभावसकाशात्, ' मुक्तिं निगदन्ति '-मोक्षं कथयन्ति, स्वभावान्मुक्तिर्भवतीति कथयन्तीतिभावः, ' तत्राऽपि '-तद्विषयेऽपि, ' असावेव '-पूर्वोक्त एव, ' अर्थः '-आशयः, ' निवेदितः '-कथितः, ज्ञेयः, ' यत् '-यः, ' स्वस्य '-स्वकीयस्य, ' आत्मनः '-जीवस्य, भावोऽस्ति सः एव, ' इह '-अस्मिन्संसारे, ' आप्तिरुक्ता '-प्राप्तिः कथिताऽस्ति, ' भावः '-भूप्राप्तावित्यस्माद् धातोर्भावः सिद्धः स च प्राप्त्यपरपर्यायः एवं च स्वस्याऽऽत्मनो भावः प्राप्तिः याथातथ्येनाऽऽत्मनोऽवबोधेनाऽऽत्मलाभो योऽस्ति स एव स्वभाव उच्यत इतिभावः, 'नन्वि'ति निश्चयेन, ' तस्मात् '-कारणात्, स्वभावशब्दस्याऽऽत्मलाभवाचकत्वात् इतिभावः, ' आत्मलाभात् '-स्वभावात्, आत्मज्ञानप्राप्तेरित्यर्थः, ' सिद्धिलक्ष्मीः '-सिद्धेः संपत्, मुक्तिरित्यर्थो भवति ॥ १५ ॥

मूलम्—एवं समस्तैरपि मुक्तिमिच्छुभि-र्मुक्तिः समेष्या नियतात्मबोधात् ।
अस्या निमित्तं नहि किञ्चिदस्मा-दन्यन्नयगादि प्रगुणैर्यदुच्यते ॥ १६ ॥

१. भूप्राप्तावित्यस्य भावः प्राप्तिरित्यर्थः स्वस्यात्मनो भावः प्राप्तिः याथातथ्येनाऽऽत्मनोऽवबोधेनाऽऽत्मलाभ इत्यर्थः । २. मुक्तेः ।

यावत्कषायान्विषयान्निषेवते, संसार एवैष निंगद्य आत्मा ।
एतद्विमुक्तोऽजनि यावदात्मा–ववोधयुग्मोक्ष इतीहितोऽयम् ॥ १७ ॥

टीका—उक्तविषयपुष्ट्यर्थमेवाह-एवमित्यादि ' एवम् '–अनया रीत्या, ' मुक्तिमिच्छुभिः '--मोक्षाभिलाषिभिः, ' समस्तैरपि '--सर्वैरपि जनैः, ' आत्मबोधात् '–आत्मज्ञानात्, मुक्तिः ' नियता '–निश्चिता, ' समेष्या '–समभिलषणीयाऽस्ति,–आत्मज्ञानान्निश्चयेन मुक्तिर्भवतीति, ' सर्वैरपि '–मोक्षाभिलाषिभिः, मन्तव्यमितिभावः, अत्र हेतुमाह–अस्या इत्यादिना ' यतः '–अस्मात् अन्यत्, आत्मबोधादितरत्, 'किञ्चित् '–किमपि वस्तु, ' अस्याः '–मुक्तेः, ' निमित्तं नहि न्यगादि '–कारणं नैव कथितमस्ति, ' यत् '–यस्मात् कारणात्, ' प्रगुणैः '–उत्कृष्टगुणयुक्तैः, महात्मभिर्जनैः, ' एतद् '–वक्ष्यमाणम्, ' उच्यते '–कथ्यते, यत् ' यावत् '–यत्कालपर्यन्तम्, ' आत्मा '–जीवः, ' कषायान् '–क्रोधादीन्, 'विषयान्'–रूपादीन्, ' निषेवते '–परिसेवते, तावत् ' एषः '–आत्मा, ' संसार एव निगद्यः '–संसार एव कथनीयोऽस्ति परन्तु ' यावत् '–यत्, ' आत्मा '–जीवः, ' एतद् विमुक्तः '–कषायविषयरहितः सन्, ' अवबोधयुग् '–ज्ञानयुक्तः, ' अजनि '–अजायत, तदा ' अयं '–आत्मा, ' मोक्ष इतीहितः '–मोक्ष इति कथितो भवति ॥ १६–१७ ॥

मूलम्—ज्ञानं तथा दर्शनकं चरित्र–मात्मैष वाच्यो नहि किञ्चिदस्मात् ।
भिन्नं यदेतन्मय एव देह–मेष श्रितस्तिष्ठति कर्मनिष्ठः ॥ १८ ॥

१. वक्तव्यः । २. कर्म (कषायविषय ?) । ३. आत्मा । ४. युक्तः ।

टीका—आत्मस्वरूपमेव विवृणोति-ज्ञानमित्यादिना 'ही'ति निश्चयेन, 'ज्ञानम्' 'दर्शनकम्'-दर्शनम्, 'तथे'ति समुच्चये, 'चरित्रं'-चारित्रम्, 'एषः'-प्रसिद्धः, 'आत्मा'-जीवः, 'वाच्यः'-कथनीयोऽस्ति, आत्मैव ज्ञान-दर्शन-चारित्रशब्दैर्वाच्योऽस्तीतिभावः, 'अस्मात्'-आत्मनः, 'भिन्नं'-पृथक्, 'किञ्चित्'-किमपि नास्ति, अत्र हेतुमाह-यदित्यादिना 'यत्'-यस्मात् कारणात्, 'कर्मनिष्ठः'-कर्मयुक्तः, 'एषः'-आत्मा, 'एतन्मय एव'-ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप एव, 'देहं श्रितस्तिष्ठति'-शरीराश्रितो वर्तते ॥ १८ ॥

मूलम्—आत्मानमात्मैष यदाऽभिवेत्ति, मोहक्षयादात्मनि [1]चात्मशक्त्या ।
तदेव [2]तस्योदितमात्मविद्भि-र्ज्ञानं च [3]दृष्टिश्चरणं तथा[4]प्तैः ॥ १९ ॥

टीका—अत्रैव पुष्टिमाह-आत्मानमित्यादिना 'यदा'-यस्मिन्काले, 'एषः'-प्रसिद्ध आत्मा, 'मोहक्षयात्'-'मोहस्य नाशेन, 'च'-पुनः, 'आत्मशक्त्या'-स्वज्ञानबलेन, हेतौ तृतीया पञ्चमी च, 'आत्मनि'-आत्मविषये, 'आत्मानं'-स्वरूपम्, 'अभिवेत्ति'-सम्यक्तया जानाति, 'तदेव'-तस्मिन्नेव काले, 'तस्य'-आत्मनः, 'आप्तैः'-यथार्थवक्तृभिः, परमप्रत्ययवद्वचो विशिष्टैरर्हद्भिरितिभावः, 'ज्ञानम्' 'दृष्टिः'-दर्शनम्, 'च'-पुनः, 'चरणं'-चरित्रम्, 'उदितं'-कथितमस्ति, 'तथा' शब्दो विनिश्चये, कथम्भूतैराप्तैः ? 'आत्मविद्भिः'-आत्मज्ञानिभिः ॥ १९ ॥

---

१ स्वज्ञानबलेन । २ आत्मनः । ३. दर्शनं । ४ अर्हद्भिः परमप्रत्ययवद्वचोविशिष्टैः ।

मूलम्—आत्मावबोधेन निवार्यमात्मा-ऽज्ञानोद्भवं दुःखमनन्तकालिकम् ।
अनेककष्टाचरणैरपीदं, विनाऽऽत्मबोधादनिवार्यमस्ति यत् ॥ २० ॥

टीका—आत्मज्ञानप्राप्तौ फलमाह-आत्मेत्यादिना 'आत्मावबोधेन'-आत्मज्ञानेन, 'दुःखं'-क्लेशः, 'निवार्यं'-निवारयितुम् योग्यम् भवति, कथम्भूतं दुःखम् ? 'आत्माऽज्ञानोद्भवम्'-आत्मनोऽज्ञानेनोत्पन्नम्, पुनः कथम्भूतम् ? 'अनन्तकालिकं'-अनन्तकालस्थितियुक्तम्, अत्र हेतुमाह-अनेकेत्यादिना 'यत्'-यस्मात् कारणात्, 'इदं'-दुःखम्, 'आत्मबोधाद्विना'-आत्मज्ञानमन्तरेण, 'अनेककष्टाचरणैरपि'-कष्टसाध्यप्रभूतव्यवहारैरपि, 'अनिवार्यमस्ति'-निवर्तयितुम् अयोग्यं भवति ॥ २० ॥

मूलम्—चिद्रूप आत्मायमधिष्ठितस्तनुं, कर्माऽनुभावादसकौ शरीरी ।
ध्यानाग्निनिर्दग्धसमस्तकर्मा, स्याच्छुद्ध आत्मा तु तदा निरञ्जनः ॥ २१ ॥

टीका—आत्मावस्थामाह-चिद्रूप इत्यादिना 'कर्मानुभावात्'-कर्मप्रभावात्[1], 'अयं'-पूर्वोक्तः, 'चिद्रूपः'-ज्ञानरूपः, अपि 'आत्मा'-जीवः, 'तनुमधिष्ठितः'-शरीराश्रितोऽस्ति तथा, 'असकौ'-आत्मा, 'शरीरी'-शरीरधारी, 'उच्यते'-कथ्यते, 'तु'-परन्तु, यदा 'ध्यानाग्निदग्धसमस्तकर्मा'-ध्यानरूपाग्निना दग्धानि-दाहं नीतानि-सकलानि कर्माणि येन सः, तथा भवति तदा 'अयम्'-आत्मा, 'शुद्धः'-निर्मलः, दोषशून्य इतिभावः, तथा 'निरञ्जनः स्यात्'-निर्लेपो भवति ॥ २१ ॥

---

१. प्रभावात् ।

मूलम्—इतीयंता सिद्धमिदं विदन्तो! यदात्मबोधान्न परोऽस्ति सिद्धये।
हेतुस्ततोऽत्रैव यतध्वमध्वनि, येनाऽऽत्मनः स्थानमहो महोदये ॥ २२ ॥

टीका—फलितमाह–इतीयतेत्यादिना 'विदन्तः!'–भो पण्डिताः!, 'इतीयता'–एतावता प्रबन्धेन, 'इदं'–वक्ष्यमाणम्, 'सिद्धं'–सिद्धिमुपगतम्, यत् 'आत्मबोधात्'–आत्मज्ञानात्, 'परः'–भिन्नः, कोऽपि पदार्थः, 'सिद्धये'–सिद्धिप्राप्तये, 'हेतुर्नास्ति'–कारणं न विद्यते, तस्मात् कारणात्, 'अत्रैवाऽध्वनि'–अस्मिन्नेव मार्गे, यूयम् 'यतध्वम्'–यत्नं कुरुध्वम्, 'अहो'–इत्यामन्त्रणे, 'येन'–कारणेन, उक्तमार्गे यत्नवशादित्यर्थः, 'महोदये'–महत्युदये, मोक्ष इत्यर्थः, 'आत्मनः'–जीवस्य, 'स्थानं'–स्थितिः स्यात् ॥ २२ ॥

मूलम्—मुनीश! साधूदित एष मुक्ते-र्मार्गो जिनेन्द्रागमयुक्तिसिद्धः।
उत्सर्गनोत्सर्गहठाभिमुक्तः, श्रेयःश्रिये केवलराजयोगात् ॥ २३ ॥

मुक्तेः सर्वदर्शनानुसारिमार्गं त्रयोदशश्लोकैराह—

परं हि यः सर्वमतानुयायी, मार्गोऽस्ति मुक्तेर्द्रुतमात्मदृष्टयै।
अध्यात्मविद्याधिगमैकहेतुः, स मे निवेद्यः सरलः श्रमं विना ॥ २४ ॥

---

१. प्रबन्धेन। २. भो जानन्तः भो पण्डिता इत्यर्थः। ३. मोक्षे। ४. उत्सर्गापवादलक्षणैकान्तकर्तव्यतारूपहठरहितः, स्याद्वादाधिश्रित इत्यर्थः। ५. मोक्ष। ६. दर्शन। ७. ज्ञानाय।

टीका—मोक्षस्योक्तमार्गं क्लिष्टमवगत्य सरलमार्गमवजिगमिषुराह–मुनीशेत्यादि ' मुनीश ! '–हे मुनिराज !, ' केवलराजयोगात् '–केवलं राजयोगेन, ' श्रेयःश्रिये '–मोक्षसम्पत्तये, ' एषः '–पूर्वोक्तः, ' मुक्तेर्मार्गः '–मोक्षस्य पन्थाः, भवता ' साधूदितः '–सम्यक्तया कथितः, कथम्भूतो मुक्तेर्मार्गः ? ' जिनेन्द्रागमयुक्तिसिद्धः '–जिनेन्द्रस्याऽऽगमद्वारा तथा युक्तिद्वारा सिद्धिं प्राप्तः, पुनः कथम्भूतः ? ' उत्सर्गनोत्सर्गहठाभिमुक्तः '–उत्सर्गापवादलक्षणैकान्तकर्त्तव्यतारूपहठेन रहितः, स्याद्वादाधिश्रित इत्यर्थः, ' परं '–परन्तु, ' ही 'ति चरणपूर्त्तौ, ' मे '–मम, ' सः '–एवम्भूतः, ' मुक्तेः '–मोक्षस्य, ' सरलः '–सुगमः, ' मार्गः '–अध्वा, ' निवेद्योऽस्ति '–कथयितव्योऽस्ति, ' यः '–मार्गः, ' सर्वमतानुयायी '–सर्वदर्शनानुकूलः, सर्वमतैरविरुद्ध इत्यर्थः, स्यात्तथा यः, ' श्रमं विना '–प्रयासमन्तरेण, ' द्रुतं '–शीघ्रम्, ' आत्मदृष्ट्यै '–आत्मज्ञानाय स्यात्, तथा यः, ' अध्यात्मविद्याधिगमैकहेतुः '–अध्यात्मज्ञानप्राप्तेरद्वितीयं कारणम् ॥ २३–२४ ॥

मूलम्—अहो ! त्वदीया खलु सूक्ष्मदृष्टि–र्यन्मङ्क्षु मुक्त्यर्थमयं विचारः ।
चित्ते समुत्पन्न इयानिदानीं, मन्ये तदा तेऽत्र मनोऽस्ति मुक्त्यै ॥ २५ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–अहो ! इत्यादिना ' अहो ! ' इत्यामन्त्रणे, ' खल्वि 'ति निश्चये, ' त्वदीया '–त्वत्सम्बन्धिनी, तवेत्यर्थः, ' सूक्ष्मदृष्टिः '–सूक्ष्मपदार्थज्ञानशक्तिरस्ति, ' यत् '–यस्मात् कारणात्, ' मुक्त्यर्थं '–मुक्तये, मुक्तिनिमित्तमितिभावः, ' मङ्क्षु '–शीघ्रमेव, ' इदानीम् '–अधुना, ' इयान् '–एतावान्, गंभीर इतिभावः, ' अयं '–पूर्वोक्तः, ' विचारः '–विमर्शः, तव ' चित्ते समुत्पन्नः '–मनस्यजायत, ' तदा '–तर्हि एवं सतीति यावत् अहम् ' मन्ये '–जानामि,

यत् ' अत्र '–अस्मिन्संसारे, ' मुक्त्यै '–मुक्त्यर्थं, ' ते मनोऽस्ति '–तव चित्तं विद्यते ॥ २५ ॥

मूलम्—आकर्णय त्वं मयका निगद्य-मानं मुने ! मुक्तिपथं समर्थम् ।
सिद्धान्तवेदान्तरहस्यभूतं, गुरूपदेशादधिगम्य किञ्चित् ॥ २६ ॥

टीका—प्रतिवचनविषयमाह–आकर्णयेत्यादिना ' मुने ! '–हे साधो !, ' गुरूपदेशात् '–गुरोरुपदेशेन, ' किमपि '–स्वल्पमित्यर्थः, ' अधिगम्य '–ज्ञात्वा, ' मयका '–मया, ' निगद्यमानं '–कथ्यमानं, ' मुक्तिपथं '–मुक्तेर्मार्गं, त्वम् ' आकर्णय '–शृणु, कथम्भूतं मुक्तिपथम् ? ' समर्थं '–शक्तम्, मुक्तिप्रापणक्षममिति यावत्, पुनः कथम्भूतं ? ' सिद्धान्तवेदान्तरहस्यभूतं '–सिद्धान्तवेदान्तयोः सारभूतम् ॥ २६ ॥

मूलम्—मुक्तिं समिच्छुर्मनुजः पुरस्तात्, करोतु चित्ते स विचारमेवम् ।
आत्माह्ययं योगिभिरेष शुद्धो, बुद्धश्च मुक्तश्च निरञ्जनश्च ॥ २७ ॥
इत्युच्यते तर्हि तु केन बद्धो, मुक्तस्त्वयं बद्ध्यत एष कस्मात् ।
ज्ञातं भ्रमेणेति यमूचुराद्याः, कर्मेति मोहेति भ्रमेत्यविद्या ॥ २८ ॥

---

१. ज्ञात्वा । २. मोहेत्यादाविति नैव विभक्त्यर्थस्योक्तत्वान्न विभक्तिर्यथा " श्रीरामेति जनार्दनेति जगतां नाथेति नारायणेत्यानन्देति दयावरेति कमलाकान्तेति कृष्णेति वा । श्रीमन्नाममहामृताब्धिलहरीकल्लोलमग्नं मुहुर्मुह्यन्तं गलदश्रुनेत्रमवशं मां नाथ नित्यं कुरु १ " इति श्रीभगवतः कवेरुक्ति पद्यावल्यां तथाऽत्राऽपि ।

कर्त्तेति मायेति गुणेति दैवं, मिथ्येति चाऽज्ञानमितीतिशब्दैः।
सद्योगिनोऽमूंन्निगदन्ति तज्ज्ञा, भ्रमं ह्यनेनैव निबद्ध आत्मा ॥ २९ ॥

टीका—मुक्तिपथमाह–मुक्तिमित्यादिना 'कः'–विवक्षिते, 'मुक्तिं समिच्छुः'–मोक्षाभिलाषी, 'मनुजः'–जनः, 'पुरस्तात्'–पूर्वं, 'चित्ते'–मनसि, 'एवं'–वक्ष्यमाणम्, 'विचारं करोतु,'–विमर्शं विदधातु, यत् 'ही' ति निश्चये, चरणपूर्त्तौ वा, 'अयं'–पूर्वोक्तः, प्रसिद्धो वा, 'आत्मा'–जीवः, 'योगिभिः'–योगाभ्यासकर्तृभिः, 'शुद्धः'–निर्मलः, इत्युच्यते, द्वौ चशब्दौ चरणपूर्त्तौ, 'बुद्धः'–ज्ञानी इत्युच्यते, 'मुक्तः'–दुःखरहितः इत्युच्यते, 'च'–पुनः, 'एषः'–पूर्वोक्त आत्मा, 'निरञ्जनः'–निर्लेप इत्युच्यते, 'तर्हि'–तदा, 'तु' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, 'मुक्तः'–दुःखरहितः सन्, 'अयम्'–आत्मा, 'केन'–साधनेन, 'बद्धः'–बन्धनं प्राप्तो भवति, तथा 'एषः'–आत्मा, 'कस्मात् बध्यते ?'–किं सकाशात् बन्धनं प्राप्यते ? 'इति'–अस्मिन् विचारे सति एवम्, 'ज्ञातं'–विदितम् भवति, यत् 'भ्रमेण'–भ्रान्त्या, बद्धो भवति, 'इति' शब्दो वाक्यपरिसमाप्तौ, 'यम्'–भ्रमम्, 'आद्याः'–पूर्वे महात्मानः, 'कर्मेति'–कर्मनाम्ना, सर्वत्रेतिशब्देनैव विभक्त्यर्थोद्योतः, 'मोहेति'–मोहनाम्ना, 'भ्रमेति'–भ्रमनाम्ना, 'अविद्येति'–अविद्यानाम्ना, 'कर्त्तेति'–कर्तृनाम्ना, 'गुणेति'–गुणनाम्ना, 'दैवमिति'–दैवनाम्ना, 'मिथ्येति'–मिथ्यानाम्ना, 'च'–पुनः, 'अज्ञानमिति'–अज्ञाननाम्ना, 'इति शब्दैः'–इत्यादि शब्दैः, 'ऊचुः'–कथयन्ति स्म, अतः 'तज्ज्ञाः'–तत्त्वज्ञानिनः, 'सद्योगिनः'–श्रेष्ठयोगि-

१. शब्दान्।

जनाः, ‘ अमून् ’–पूर्वोक्तानेव शब्दान्, कर्मादीनेवेत्यर्थः, ‘ भ्रमं निगदन्ति ’–भ्रमनाम्ना कथयन्ति, ‘ ही ’ति निश्चये, चरणपूर्त्तौ वा, ‘ अनेनैव ’–पूर्वोक्तेन भ्रमेणैव, ‘ आत्मा ’–जीवः, ‘ निबद्धः ’–बद्धः, बन्धनं प्राप्तो भवति ॥ २७–२९ ॥

मूलम्—भ्रमोऽत्र मिथ्यानिजकल्पनोत्थितो, येनैव बद्धो नलिनीशुको यथा ।
बद्धः पुनर्मर्कटकोऽपि तद्वत्, तथैष आत्मा भ्रमतो निबद्धः ॥ ३० ॥

---

१ भ्रमोऽत्रेति मिथ्या असत्या या निजकल्पना स्वमानसिकविकारस्तत उत्थित उत्पन्नो य एवंविधो यो भ्रमो मिथ्याज्ञानमनात्मीयवस्तुन्यात्मीयवस्त्ववगमः स्त्रीपुत्रमित्रमातापितृद्रव्यशरीरादिसहवर्त्तिवस्तुषु अननुगामित्वेनास्वीयत्वान्ममेदमिति मिथ्याज्ञानं भ्रमः तेन संसारे शरीरे च मनोरमवस्तुषु रक्तमनोनिवर्त्तनं संसारे शरीरे च वर्त्तमाने दुर्वस्तुनि दुष्टमनोनिवृत्तिरिति वीतरागत्वेन रक्तद्विष्टमनस्त्वानापादनं सम्यग्ज्ञानं तद्विपरीतं ज्ञानं मिथ्याज्ञानं स एव भ्रमः, अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रमः यथा शुकग्रहणार्थं वृक्षोपरि चक्रं स्थापयन्ति तच्चक्रकर्णिकायां च कारवेल्लकं स्थापयन्ति तत्र च ममेदं भक्ष्यमिति मिथ्याज्ञानेन भ्रमेण शुक आगत्य तिष्ठति तस्य स्थानतस्तच्चक्रं स्वयमेव च भ्रमति, तद्भ्रमणात्तत्रस्थः शुकः केनाऽप्यगृहीतोऽपि भ्रमान्मन्यते यदहं केनाऽपि गृहीतो वा पाशे निपातितः । ततश्चक्रेण सह स्वयमपि भ्राम्यंस्तच्चक्रं स्वेष्टमिवाऽऽगृह्य स्वमबद्धमपि बद्धं मन्यमानः चूचूत्कारान् करोति । तद्वेलायामशङ्कितो यदि उड्डीय याति तदा मुक्तः स्यात्, अन्यथा भ्रमेणाऽऽबद्धोऽपि तद्ग्राहकेण गृहीत्वा बध्यते इत्येवं नलिनीशुको यथा भ्रमेणैवं बध्यते पुनर्मर्कटकोऽप्यात्मानं भ्रमेणैव बन्धयति । यथा मर्कटग्राहकाः चणकभृतपात्रं स्थापयन्ति, तत्राऽऽहारार्थी मर्कटो करं क्षिप्त्वा चणकमुष्टिं बद्ध्वा तादृशमेव करं कर्षति तदा तु समुष्टिः करो न निर्गच्छति तदाऽयं जानाति अहमन्तरा केनचिद् बद्धः तदाऽबद्धोऽपि स्वबद्धमिति मन्यमानः चीचीत्कारान्कुर्वन् तद्बन्धकेन स बध्यते यदि तदा स्वबद्धां मुष्टिं छोटयित्वा याति तदाऽबद्धो भवति, परमयमपि स्वकीयमिथ्याभ्रमात् स्वं बन्धयति । एवमयमात्माऽपि अस्वीये

टीका—भ्रमोत्पत्तिद्वारोक्तविषयमेवाह–भ्रम इत्यादिना ' अत्र '–अस्मिन्संसारे, भ्रमः ' मिथ्यानिजकल्पनोत्थितः '–मिथ्याऽसत्या या निजकल्पना–स्वकल्पनाऽस्ति तस्या एवोत्थितः–उत्पन्नोऽस्ति, ' येनैव '–यद्वशादेव, ' यथा '–येन प्रकारेण, ' नलिनीशुकः '–जीवविशेषः, ' बद्धः '–बन्धनं प्राप्तो भवति, ' तद्वत् '–तथा, ' पुनरि 'ति विनिश्चये, ' मर्कटोऽपि '–वानरोऽपि, ' बद्धः '–बन्धनं प्राप्तो भवति, ' तथा '–तेनैव प्रकारेण, ' एषः '–प्रसिद्धः, ' आत्मा '–जीवः, ' भ्रमतः '–भ्रमवशात्, ' निबद्धः '–बन्धनं प्राप्तो भवति ॥ ३० ॥

मूलम्—भ्रमे तु मुक्ते मनसः सकाशा–दात्मैष मुक्तो भवतीति सिद्धम् ।
अस्मिंस्तु मुक्ते हि भवेदभेद–स्तदात्मनः श्रीपरमात्मनश्च ॥ ३१ ॥

टीका—भ्रममुक्तौ किं भवतीत्याह–भ्रमे त्वित्यादिना ' तु ' शब्दो भिन्नक्रमप्रदर्शनार्थः, ' मनसः सकाशात् '–मानस-

---

वस्तुनि ममेदमिति स्वबुद्धिं कुर्वाणः कर्मभिर्बध्यते । यदा तु शरीरादिके वस्तुनि अनात्मीयतामाचरति अरक्तोऽद्विष्टश्च तिष्ठति तदा संसारस्थोऽपि मुक्तो भवति यदा त्वयमात्मा मुक्तस्तदान्तरात्मनः पारमात्म्यं प्रादुःष्यात् यत उच्यते । बहिरात्मान्तरात्मापरात्माभेदादात्मा त्रिविधः, तत्र यावता हेयोपादेयविचारवैकल्यात् केवलेन्द्रियविषयासक्तो भवेत्तदा बहिरात्मा हेयोपादेयज्ञानवान् विषयसुखपराङ्मुखो भवान्तर्वर्तिवस्तुरक्तद्विष्टमनोनिवृत्तिमान् विरक्तोऽन्तरात्मा अयमेव यदा सिद्धकेवलात्मज्ञानस्तदा परात्मेत्युच्यते तदात्मपरमात्मनोर्न भेदवान् भवति यदा तु योगी आत्मानमात्मनात्मनि परमात्मभूतं पश्यति तदा योगी आत्मज्ञानी उच्यते स हि केवलज्ञानीति पर्यायान्तरं लभते ततश्चाऽयं कर्ममुक्तः क्रियामुक्तः भ्रान्तिमुक्तश्च स्यात् इति योगिसमाचारः । अथ काव्यद्वयेनोक्तामेवाऽवस्थां दृढयति यदा त्वयमित्यादि ।

र म् ॥

समीपात्, भ्रमे 'मुक्ते'–विनष्टे सति, 'एषः'–पूर्वोक्तः, 'आत्मा'–जीवः, 'मुक्तो भवति'–भ्रमरहितो जायते, 'इति सिद्धम्'–एतत् सिद्धिमुपगतम्, 'तु'–पुनः, 'ही'ति चरणपूर्त्तौ, 'अस्मिन् मुक्ते–आत्मनि भ्रमरहिते सति, 'तदात्मनः'–पूर्वोक्तस्याऽऽत्मनः, 'च'–पुनः, 'श्रीपरमात्मनः'–परमेशस्य, 'अभेदो भवेत्'–अभिन्नत्वं जायते ॥ ३१ ॥

मूलम्—यदानयोर्वीक्षत एकभावं, योगी तदात्मावगमी निगद्यते ।
स केवलज्ञानमयो मुनीश्वरः, कर्मक्रियाभ्रान्तिविमुक्त उक्तः ॥ ३२ ॥

टीका—तयोरभेदावगमे किं भवतीत्यादिना 'यदा'–यस्मिन्काले, 'योगी'–योगाभ्यासकर्त्ता, 'अनयोः'–आत्मपरमात्मयोः, 'एकभावं वीक्ष्यते'–अभेदं पश्यति, 'तदा'–तस्मिन् काले, 'सः'–आत्मा, 'अवगमी निगद्यते'–आत्मज्ञः कथ्यते, तदैव 'सः'–योगी, 'केवलज्ञानमयः'–केवलज्ञानयुक्तः, 'मुनीश्वरः'–मुनिराजः, तथा 'कर्मक्रियाभ्रान्तिविमुक्तः'–कर्मरहितः, क्रियारहितो भ्रान्तिरहितश्च, 'उक्तः'–कथितो भवति, उच्यत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

मूलम्—यदा त्वयं मुक्त इति प्रसिद्ध–स्तदा हि सर्वत्र ममत्वमुक्तः ।
घनं हि किं सैष मनःशरीर–सुखासुखज्ञानविमर्श[1]शून्यः ॥ ३३ ॥

टीका—मुक्तप्रसिद्धौ किं भवतीत्याह–यदा त्वित्यादिना 'तु'–पुनः, 'यदा'–यस्मिन् काले, 'अयं'–पूर्वोक्तो योगी, 'मुक्त इति प्रसिद्धः'–मुक्त इति नाम्ना प्रख्यातो भवति, 'तदा'–तस्मिन् काले, 'ही'ति निश्चयेन, अयम्

---

१. विचार ।

‘ सर्वत्र ’–सर्वविषयेषु, ‘ ममत्वमुक्तः ’–ममत्वेन रहितो भवति, सारांशमाह–घनमित्यादिना ‘ ही ’ शब्दो विनिश्चये, चरणपूर्त्तौ वा, ‘ घनं किमिति ’–अत्र विषये बहुनोक्तेन किं प्रयोजनमस्तीत्यर्थः, ‘ सः ’–पूर्वोक्तः, ‘ एषः ’–प्रसिद्धो योगी, सोऽविलोपे इत्यादिना चरणपूर्त्तौ, लोपेऽपि सन्धिः, ‘ मनःशरीरसुखासुखज्ञानविमर्शशून्यः ’–मानसेन देहेन सौख्येन दुःखेन ज्ञानेन विचारेण च रहितो भवति ॥ ३३ ॥

मूलम्—न पुण्यपापे भवतोऽस्य मुक्तितो, मम क्रियेयं मम चैष कालः ।
सङ्गी ममाऽयं सुकृतं ममेद–मित्याद्यभिद्वान्मनसो विनिर्जयात् ॥ ३४ ॥

टीका—मुक्तदशायाम् किम् भवतीत्याह–न पुण्यपाप इत्यादिना ‘ मुक्तितः ’–मुक्तिवशात्, हेतौ पञ्चमी, ‘ अस्य ’–पूर्वोक्तस्य योगिनः, ‘ पुण्यपापे ’–धर्माधर्मौ, ‘ न भवतः ’–न जायेते, तथा ‘ मनसो विनिर्जयात् ’–मानसस्य विजयेन, ‘ इयं ’–विवक्षिता, ‘ मम क्रिया ’–मत्सम्बन्धिकृत्यम्, अस्ति ‘ च ’–पुनः, ‘ एषः ’–विवक्षितः, ‘ मम कालः ’–मत्सम्बन्धी समयोऽस्ति, ‘ अयं ’–विवक्षितः, ‘ मम सङ्गी ’–मत्सम्बन्धी सहायोऽस्ति, तथा ‘ इदं ’–विवक्षितम्, ‘ मम सुकृतं–मत्सम्बन्धि पुण्यमस्ति ’ इत्याद्यभिद्वान् ’–इत्यादि भेदैः रहितो भवति ॥ ३४ ॥

मूलम्—स तावतेहाऽस्ति शरीरधारी, सूक्ष्मक्रियातोऽपि न निष्क्रियो यत् ।
यावद्यदा सूक्ष्मक्रियाऽपि नष्टा, मुक्तस्तदा सिद्ध्यति सिद्धताप्तेः ॥ ३५ ॥

---

१. सहायः । २. प्राप्तेः ।

टीका—कदा सर्वथा मुक्तो भवति इत्याह–स तावतेत्यादिना ' सः '–पूर्वोक्तो योगी, ' यदि 'ति निश्चयेन, ' तावता '–तत्कालपर्यन्तम्, ' इह '–अस्मिन्संसारे, ' शरीरधारी अस्ति '–देहधारको भवति, ' यावत् '–यत्कालपर्यन्तम्, ' सूक्ष्मक्रियातोऽपि '–सूक्ष्मक्रियाऽपि, सूक्ष्मा चेष्टाऽपि, ' नष्टा '–नाशं प्राप्ता भवति, ' तदा '–तस्मिन्काले, ' सिद्धताप्तेः, सिद्धत्वप्राप्ते, हेतौ पञ्चमी, ' मुक्तः सिद्ध्यति '–मुक्तो जायते, मुक्तिर्मन्यत इतिभावः ॥ ३५ ॥

सिद्धौ निष्क्रियतां चतुः श्लोकैराह—

मूलम्—विद्वन् ! विमर्शः क्रियतामयं क्रिया–वन्तोऽथवा निष्क्रियकाश्च सिद्धाः ।
चेन्निष्क्रिया ज्ञानजदर्शनोत्थ–क्रियाऽक्रियेष्वेषु कथं न सिध्येत् ? ॥ ३६ ॥

टीका—मुक्तेषु क्रियाविषयकप्रश्नमाह–विद्वन्नित्यादिना ' विद्वन् ! '–हे बुध !, ' अयं '–वक्ष्यमाणः, ' विमर्शः '–विचारः, ' क्रियताम् '–विधीयताम्, भवता यत् ' सिद्धाः '–सिद्धिं प्राप्ता जीवाः, ' क्रियावन्तः '–क्रियायुक्ता भवन्ति, ' अथवा '–यद्वा, ' निष्क्रियकाः '–क्रियारहिता भवन्ति, ' च ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' ते '–सिद्धाः, ' निष्क्रियाः '–क्रियारहिता भवन्ति, तर्हि ' अक्रियेषु '–क्रियारहितेषु, ' एषु '–सिद्धेषु, ' ज्ञानजदर्शनोत्थक्रिया '–ज्ञानोत्पन्ना दर्शनोत्पन्ना च क्रिया, ' कथं न सिध्येत् ? '–कुतः कारणान्न सिध्यति ? ॥ ३६ ॥

---

१. सिद्धेषु ।

मूलम्—सत्यं मुने ! ज्ञानजदर्शनोद्भवा, सैषा क्रिया सिद्धिगतेषु नास्ति।
कथं यतः सैषु यदा तु लोके, कैवल्यलब्धिः समभूत्तदानीम् ॥ ३७ ॥

टीका—अस्योत्तरमाह–सत्यमित्यादिना 'मुने !'–हे साधो !, 'सत्यमि'ति एतत्तव कथनं सत्यमस्तीत्यर्थः, यत् 'सा'–पूर्वोक्ता, 'एषा'--प्रसिद्धा, 'ज्ञानजदर्शनोद्भवा'–ज्ञानोत्पन्ना दर्शनोत्पन्ना च क्रिया, 'सिद्धिगतेषु'–सिद्धिं प्राप्तेषु, सिद्धेष्वितिभावः, 'नास्ति'–न विद्यते, अत्र हेतुमाह–कथमित्यादिना 'कथं'–कुतः ? यदि त्वमेवं ब्रूया यत् सिद्धेषु ज्ञानजदर्शनोद्भवा क्रिया कुतो नास्ति तर्हि शृण्वितिभावः, 'यतः'--यस्मात् कारणात्, 'तु' शब्दो विनिश्चये, 'लोके'- संसारे, 'यदा'–यस्मिन् काले, 'कैवल्यलब्धिः'–कैवल्यप्राप्तिः, केवलज्ञानप्राप्तिरित्यर्थः, 'समभूत्'--अजायत, 'तदानीम्'--तस्मिन्काले, 'एषु'–सिद्धेषु, 'सा'--ज्ञानजदर्शनोद्भवा क्रिया समभूत् ॥ ३७ ॥

मूलम्—क्रिये इमे द्वे युगपत्समास्तां, ये ज्ञेयदृश्ये इह ते अभूताम्।
ततो नृजातौ किल सत्क्रियत्व–मभूत्तु सिद्धौ खलु निष्क्रियत्वम् ॥ ३८ ॥

---

१. केवलज्ञान। २. पुनरत्र नोदको .नोदयन्नाह–पूज्याः सिद्धा अपि सक्रिया भवन्ति, कथं ? यत उच्यते, सिद्धा जानन्ति पश्यन्ति च तर्हि ज्ञानक्रियां च दर्शनक्रियां च कुर्वन्तीति ज्ञानदर्शनक्रियायाः सद्भावात् कथं निष्क्रियत्वमिति निष्क्रियाः सिद्धा इति न घटते। नैवं यदैवात्र मनुष्यभवे सिद्धस्य केवलज्ञानमभूत्तदैव यज्ज्ञातव्यं यच्च द्रष्टव्यमासीत् तदैवाऽभूत् सिद्धत्वावस्थायां नवं किमपि न जानाति न पश्यति सर्वातीतानागतवर्तमानभावानां केवललाभसमये एव ज्ञानाद्दर्शनाच्चेति सर्वं सम्यक्तया ध्येयम्।

टीका—अत्रैव पुष्टिमाह—क्रिये इत्यादिना ' इमे '—पूर्वोक्ते, ' द्वे क्रिये '—उभे क्रिये, तदानीम् ' युगपत् समास्ताम् '—एकस्मिन्नेव समये समभवताम्, अत्र हेतुमाह—ये इत्यादिना यतः ' ये ज्ञेयदृश्ये '—ज्ञानयोग्य—दर्शनयोग्ये वस्तुनी स्तः, ' ते '—ज्ञेयदृश्ये, ' इह '—अस्मिन् भवे, मनुष्यभव इत्यर्थः, ' अभूताम् '—अवर्त्तेताम्, फलितमाह—तत इत्यादिना ' ततः '—तस्मात् कारणात्, ' किले 'ति निश्चयेन, ' नृजातौ '—मनुष्यभवे, ' सक्रियत्वमभूत् '—क्रियायुक्तत्वमासीत्, ' तु '—परन्तु, ' खल्वि 'ति निश्चयेन, ' सिद्धौ '—सिद्ध्यवस्थायां, ' निष्क्रियत्वं '—क्रियारहितत्वं भवति ॥ ३८ ॥

मूलम्—एवं तु निष्क्रियता प्रसिद्धा, सिद्धेषु सिद्धाऽस्त्यवधारणेन ।
सर्वस्य चैतस्य मनोनिरोधो, हेतुस्ततोऽत्रैव रमध्वमध्वनि ॥ ३९ ॥

टीका—फलितकथनपूर्वकमुक्तविषयं निगमयति—एवमित्यादिना ' तु ' शब्दश्चरणपूर्त्तौ, ' एवम् '—अनया रीत्या, ' सिद्धेषु '—सिद्धिं प्राप्तेषु जीवेषु, ' प्रसिद्धा '—प्रख्याता, ' निष्क्रियता '—क्रियारहितता, ' अवधारणेन '—निश्चयेन, निश्चयपूर्वकमिति यावत्, ' सिद्धाऽस्ति '—सिद्धिगता भवति, ' च '—पुन, ' एतस्य '—पूर्वोक्तस्य, ' सर्वस्य '—सकलविषयस्य, ' हेतुः '—कारणम्, ' मनोनिरोधः '—मानसस्य निग्रहः, अस्ति, ' तत् '—तस्मात् कारणात्, ' अत्रैव अध्वनि '—अस्मिन्नेव मार्गे, निदर्शिते पथीतिभावः, यूयम् ' रमध्वम् '—रमणं कुरुध्वम् ॥ ३९ ॥

आस्तिकनास्तिकानां द्वयेषामपि परम्परया मनोनिर्विषयतापादनेन च मुक्तिप्रापनकारणोक्तिलेशो विंशतितमोऽधिकारः